# पुराना लखनऊ

अतर्भारतीय पुस्तकमाला

# पुराना लखनऊ

## (गुज़िश्ता लखनऊ)

अब्दुल हलीम 'शरर'

अनुवाद

नूर नवी अब्बासी
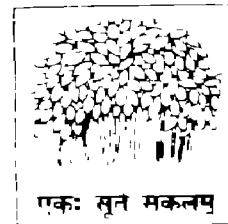
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

# भूमिका

**व्यक्तित्व**

अब्दुल हलीम 'शरर' 1860 में पैदा हुए। उनके पिता हकीम तफ़ज्जुल हुसैन अरबी और फ़ारसी के विद्वान और मशहूर हकीम थे। नौ साल की उम्र में 'शरर' मटियाबुर्ज, कलकत्ता गये जहां वाजिद अली शाह अपदस्थ होने के बाद रखे गये थे। शाही खानदान से संबद्ध होने के कारण 'शरर' का खानदान भी वहीं रह रहा था। अरबी, फ़ारसी, और तर्कशास्त्र के अलावा कुछ अंग्रेज़ी भी पढ़ी और लखनऊ के मशहूर 'अवध अखबार' के संवाददाता के रूप में खबरें भेजते रहे। 19 साल की उम्र में वापिस लखनऊ आये और यहीं अख़बार 'अवध के पंच' के प्रसिद्ध लेखक एहमद अली कसमंडवी के संगतिलाभ से उन्हें गद्य लेखन की प्रेरणा मिली। 1880 में मुंशी नवलकिशोर ने उन्हें 'अवध अख़बार' के संपादक मंडल में शामिल कर लिया। कुछ समय बाद अपने दोस्त अबदुल बासित के नाम से साप्ताहिक पत्र 'महशर' निकाला जिसकी सुंदर गद्य-शैली बड़ी प्रसिद्ध हुई।

'अवध अख़बार' के विशेष संवाददाता के रूप में कुछ महीने हैदराबाद रहे, मगर आख़िर नौकरी छोड़कर अलग हो गये। उसी ज़माने में उन्होंने अपना पहला उपन्यास 'दिलचस्प' लिखा जो दो भागों में प्रकाशित हुआ। उसके दो साल बाद 'शरर' ने पहली बार बंकिमचंद्र चटर्जी के उपन्यास 'दुर्गेशनंदिनी' का अनुवाद करके उनका परिचय उर्दूवालों से कराया। 1887 में उन्होंने अपनी पत्रिका 'दिलगुदाज' जारी की। यह पत्रिका अपने ढंग की पहली पत्रिका थी, जिसमें सरल, प्रवाहमय किंतु बहुत सुंदर गद्य में लेखादि प्रकाशित होते थे। इसी पत्रिका में उन्होने अपने उपन्यास धारावाहिक रूप में प्रकाशित करने शुरू किये। उनके मशहूर ऐतिहासिक उपन्यास 'मलिकुल अज़ीजवर्जिना', 'हसन-एंजिलना', 'मंसूर-मोहना' वगैरा इसी पत्रिका में प्रकाशित हुए।

1890 में 'मुहज़्ज़ब' नामक अख़बार जारी किया, जिसमें इस्लाम धर्म के

विद्वानों की जीवनियां प्रकाशित होती थीं। 1891 में 'शरर' दुबारा हैदराबाद गये और वहां नौकर हुए और एक नवाबज़ादे के ट्यूटर की हैसियत से 1895 में इंग्लैंड पहुंचे। वहां चौदह-पंद्रह मास ठहरे जिसमें उन्होंने फ्रांसीसी अनुसंधाता मोस्यो कोरबें से फ्रेंच भाषा सीखी। वापिसी पर 1898 में 'दिलगुदाज़' हैदराबाद से दुबारा जारी हुआ मगर जल्दी ही बंद हो गया। 1900 मे लखनऊ वापिस आकर उन्होंने यह पत्रिका तीसरी बार जारी की।

'शरर' पत्रकार, उपन्यासकार और गद्यकार, समाज-सुधारक और सत्यनिष्ठ लेखक हैं। उन्होंने प्रचलित साधारण पक्षपात और विश्वासों की चिंता किये बिना ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि सकीना बिन्त इमाम हुसैन की जीवनी प्रकाशित करने पर उनके विरुद्ध भारी हो हल्ला मचा। उन्होंने मुसलमान स्त्रियों में पर्दे की प्रथा समाप्त करने के लिए एक पत्रिका 'इस्मत' निकाली जिसने बड़ी समाज सेवा की। उसके लिए उहोंने भारी विरोध का सामना किया, लेकिन अपना संघर्ष बराबर जारी रखा। 1904 में उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता के उद्देश्य से पाक्षिक पत्र 'इजिहाद' निकालना शुरू किया। गद्यकार, पत्रकार और उपन्यासकार के रूप में 'शरर' का व्यक्तित्व युगांतरकारी है।

पत्रकार के रूप में उनकी ऐसी प्रतिष्ठा थी कि 1912 में खिलाफ़त आंदोलन के प्रख्यात नेता मौलाना मुहम्मद अली ने अपने उर्दू दैनिक 'हमदर्द' के संपादक के लिए पहले 'शरर' को ही चुना। उनका देहांत 1926 में हुआ। उनकी कृतियां 102 से भी अधिक हैं और उनमें अधिकतर ऐसी है जो अपने समय में बहुत लोकप्रिय थीं और जिनके कई-कई संस्करण प्रकाशित हुए थे।

'शरर' के उपन्यासों के अलावा उनकी बड़ी और महत्वपूर्ण उपलब्धि 'मशरिकी तमद्दुन का आखिरी नमूना या गुज़िश्ता लखनऊ' है जिसका अनुवाद अगले पृष्ठों में आपके सामने आयेगा। बहुमूल्य और महत्वपूर्ण जानकारी के अतिरिक्त (जो इस पुस्तक में एकत्र कर दी गयी है,) मूल पुस्तक 'शरर' के सरल और आकर्षक गद्य का भी नमूना है जिसमें निश्चयात्मकता, प्रवाह और व्यवस्था के वे गुण पाये जाते हैं जो गद्य के लिए आवश्यक हैं।

**शररकालीन लखनऊ**

अब्दुल हलीम 'शरर' ने जो ज़माना देखा वह रंगीनी और रंगारंगी का आख़िरी ज़माना था। अंग्रेज़ों का देश पर अधिकार हो चुका था और वे

अपने राजनीतिक आधिपत्य को स्थिरता प्रदान करने के लिए देश के अंदर और बाहर यह प्रचार करने लगे थे कि अंग्रेज़ों के आने से पहले हिंदुस्तान के लोग बहुत ही असभ्य और जंगली थे और अंग्रेज़ उन्हें सभ्य और सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न कर रहे है। लार्ड मेकाले ने हिंदुस्तान और पूर्वी साहित्य तथा कलादि के भंडार को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों की एक अलमारी की तुलना में भी हेय समझा था और लार्ड डलहौज़ी के समय में अवध पर अधिकार करने के लिए जो बहाने ढूंढे गये थे उनमें नवाबी अवध को मात्र विलासिता का केंद्र दिखायाँ गया था। और लखनवी सभ्यता का बहुत ही गलत और भ्रामक चित्र प्रस्तुत किया गया था।

'शरर' उन लोगों में से थे जिन्हें भारतीय सभ्यता पर गर्व था और वे अपने देशवासियों में गौरव की भावना जगाना चाहते थे ताकि उनमें आत्म-विश्वास पैदा हो और वे अपने अतीत का ठीक रूप देख सकें। इसीलिए एक ओर तो उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिनमे प्राचीन घटनाओं के ज़रिए इसी प्रकार का आत्म-विश्वास पैदा करने की कोशिश की गयी थी, दूसरी ओर उन्होंने यह पुस्तक लिखी जो इस समय आपके सामने है। इसका नाम है 'गुज़िश्ता लखनऊ' या 'मशरिकी तमद्दुन का आखिरी नमूना'। इस पुस्तक में 'शरर' ने लखनवी सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न पक्षों का वर्णन किया है जिनके कारण उसे हिंदुस्तान, बल्कि समस्त पूर्व में गौरव और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

**संस्कृति**

मानव सभ्यता की एक विशेषता यह रही कि वह कभी देश-काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं रही। चिराग से चिराग जलते आये है और इसी आधार पर एक क्षेत्र की सभ्यता यद्यपि उस क्षेत्रविशेष के नाम से प्रसिद्ध हो जाती है, लेकिन वह दूसरे क्षेत्र की सभ्यताओं से भी बहुत कुछ लेती है और इस प्रकार विश्व सभ्यता का रूप ग्रहण करती जाती है। इसी तरह एक युगविशेष की सभ्यता यद्यपि उसी युग तक सीमित समझी जाती है लेकिन उसका संबंध प्राचीन काल से भी होता है और वह सामयिक होते हुए भी अपने अंदर शाश्वत गुण रखती है।

लखनऊ में जो सभ्यता पनपी और परवान चढ़ी उसमें भी ये दोनों विशेषताएं मौजूद थीं। इसकी जड़ें हमारे देश में बहुत पहले से मौजूद थीं।

जो लोग लखनवी सभ्यता को केवल 'तकल्लुफ़' और 'पहले आप' जैसी छिछली बातों तक सीमित जानते हैं वे इसकी नफ़ासत, शास्तगी और खूबसूरती पर नज़र नहीं रखते। सभ्यता का मज़ाक़ उड़ाना आसान है लेकिन सभ्यताओं की विभिन्न परतें पहचानना और उनकी आत्मा तक पहुंचना आसान नहीं। सभ्यता सिर्फ़ रखरखाव, अभिवादन, रस्म-रिवाज और शिष्टाचार का नाम नहीं, वेषभूषा, खानपान या मनोरंजन के साधन और मेले-ठेले भी सभ्यता नहीं—ये तो मात्र सभ्यता के बाह्य लक्षण हैं और इनके माध्यम से किसी युग की सभ्यता की आत्मा तक पहुंचने की कोशिश करनी चाहिए।

लखनऊ तक जो सभ्यता पहुंची वह भारत की सदियों के प्रयासों का फल थी, उसमें आर्यों का सौंदर्य भी था और स्थानीय विशेषताएं भी। फिर अरब, ईरानी और तुर्क यहां आये तो अपनी सांस्कृतिक विरासत साथ लाये। उनमें ईरानी सभ्यता की लय ज़्यादा तेज़ थी और इसीलिए दक्खन और दिल्ली दोनों जगह भारतीय सभ्यता ने इन दोनों से बहुत कुछ सीखा और बहुत कुछ सिखाया। अब इस युग में भारतीय सभ्यता की स्वरसंगति में अरबी लय भी आ मिली। यही कारण है कि सभ्यता या संस्कृति का कोई अंग हो, ललित कलाओं की कोई शाखा हो, हर जगह यह सांस्कृतिक मिश्रण बड़े विलक्षण सौंदर्य के साथ दिखायी देता है। इसका सबसे सुंदर प्रदर्शन ताज महल के स्थापत्य में हुआ है जो अरब और हिंदुस्तान की कलाओं का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इस सभ्यता के लखनऊ पहुंचने के समय अंग्रेज हिंदुस्तान में कदम जमा रहे थे और मिली-जुली सभ्यता का यह सुखद युग समाप्त होने को था। राजनीतिक दुरवस्था फैल चुकी थी। आर्थिक संकट छा रहा था ऐसी परिस्थिति में मिली-जुली सभ्यता का यह कोमल पौधा दिल्ली से लखनऊ आया। अवध में अस्थायी शांति थी, वह संपन्न भी था, फिर हर सभ्यता की तरह यह सभ्यता भी अपने यौवन काल में प्रवेश कर चुकी थी, इसलिए लखनऊ में इस सभ्यता को जिसमें हिंदुस्तान और ईरान का सौंदर्य शामिल था, नया जीवन और नया सौंदर्य प्राप्त हुआ। चुनांचे इस सभ्यता के किसी अंग पर दृष्टि डालिये आपको पुराने तौर-तरीकों, फिर दिल्ली के रंग-ढंग और खासकर मुहम्मद शाह के शासन काल का उल्लेख ज़रूर मिलेगा। उदाहरण के लिए लिबास के संबंध में इस पुस्तक में नीमा और अंगरखा का वर्णन है और

सैर-तफ़रीह के सिलसिले में 'इंदर सभा' का ज़िक्र देखें।

यह सभ्यता किसी विशेष सभ्यता से संबद्ध नहीं थी बल्कि इस संबंध में यह प्रयास भी किया गया कि इस पर कट्टरता या धार्मिक संकीर्णता की छाया न पड़े। चुनांचे सलाम के बारे में यह बात स्पष्ट है यानी 'सलाम अलैक' या 'सलाम अलैकुम' को लखनवी सभ्यता ने 'आदाब', 'तसलीम' और 'कोरनिश' जैसे गैरमज़हबी अभिवादन से बदल दिया। यही नहीं बल्कि धार्मिक रस्म-रिवाज और संस्कारों को भी अधार्मिक और सामान्य बनाने की कोशिश की गयी। मिसाल के तौर पर मुहर्रम मुसलमानों का और वसंत हिंदुओं का त्यौहार था मगर मुहर्रम और वसंत को इस तरह मनाया गया कि उनका स्वरूप सामान्य सामाजिक समारोहों का-सा हो गया। नफ़ासत और रखरखाव किसी सभ्यता के गुण माने जाते हैं और दोनों हैसियतों से लखनवी सभ्यता, जिसका विस्तृत और सुंदर चित्रण 'शरर' ने किया है, स्मरणीय थी जिससे आज भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

यह सभ्यता कैसी थी और कहां से आयी थी? इस पर चर्चा करने से पहले यह याद रखना ज़रूरी है कि इंसानों की तरह सभ्यताएं भी पैदा होती है, परवान चढ़ती हैं और मर जाती हैं। कोई सभ्यता चाहे कितनी ही भव्य क्यों न हो हमेशा हर युग की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकती। इसीलिए बदली हुई परिस्थितियों में किसी सभ्यता को भी इस दृष्टिकोण से नहीं परखा जा सकता कि वह आज के युग में उपयोगी और कारगर होगी या नहीं। हर सभ्यता अपने युगविशेष में बढ़ती है और इस दृष्टि से उसका अपना दायरा और अपनी उम्र होती है और उसी के अनुसार उसे परखा जाना चाहिए।

लखनवी सभ्यता को भी इसी पृष्ठभूमि में देखना आवश्यक है। शुरू के पृष्ठों से लेकर अंत तक इस सभ्यता की एक विशेषता आपको बार-बार मिलेगी और वह यह कि इसमे देशी और विदेशी तत्वों का संगम हुआ है। सभ्यताएं कभी विशुद्ध नहीं होती चिराग से चिराग सदा जलता आया है। लखनवी सभ्यता ने अपना चिराग़ इस तरह जलाया कि विभिन्न रौशनियां उसके फानूस में एक हो गयीं। यहां का लिबास, यहां के खाने, पेय, रस्म-रिवाज, रहन-सहन, सभ्यता का कौन-सा ऐसा पक्ष है जिसमें देशी और विदेशी तत्वों ने मिल कर एक अद्भुत आकर्षण पैदा न किया हो! मज़हब के बारे में कहा जाता है कि वह इंसान को बांटता है मगर यहां वे सभ्यताएं और प्रतीक

भी जो किसी धर्म से संबद्ध हों, पूरी सभ्यता का अंग बन जाते हैं और धर्म के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। मसलन मातमदारी और ताज़ियों के मामले में पूरा लखनऊ एक रंग में रंगा नज़र आता है। इसी तरह वसंत का त्यौहार मनाने का सवाल हो या हिंदू पौराणिक कथाओं के राजा इंद्र का ज़िक्र हो इसमें लखनऊ के सभी लोग बिना किसी धार्मिक या सांप्रदायिक भेदभाव के इन्हें अपनाते हैं। 'इंदर सभा' उर्दू के प्रारंभिक नाटकों में माना जाता है और उसके विभिन्न रूप हैं लेकिन हरेक 'इंदर' सभा में राजा इंद्र की जो तसवीर पेश की गयी है वह हमारी मिली-जुली भारतीय सभ्यता का प्रतिनिधित्व करती है। उसका नाम इंद्र है और सिंहासन पुराने ढंग का है। मगर पोशाक नवाबी अवध की-सी है। उसके दरबार में परियां ब्रज की ठुमरियां गाती हैं और सुंदर तथा प्रवाहमयी उर्दू में बातचीत करती है मानो वे हमारी मिली-जुली सभ्यता का सच्चा रूप हैं।

यह मिलाप दरअसल इसलिए और भी सुखद हो गया है कि मिलने वाली सभ्यताएं एक-दूसरे से बुनियादी तौर पर बहुत निकट हैं। ईरानी सभ्यता भी आर्य सभ्यता थी और इसीलिए जब ईरानी सभ्यता का प्रभाव भारत पर पड़ा और यहां की आर्य सभ्यता से उसकी भेंट हुई तो वह मिलाप दो अजनबियों का मिलाप नहीं था बल्कि दो बिछड़े हुए रिश्तेदारों का मिलाप था—ऐसे रिश्तेदार जो नस्ल की दृष्टि से एक थे और जिन्होंने अपनी ऐतिहासिक यात्रा में मूल्यवान वस्तुएं एकत्र की थीं। अब ये दोनों मिले तो एक रूप हो गये और भारत की प्राचीन सभ्यता में मध्य एशिया की सभ्यताओं के सुंदर तत्वों का समावेश हो गया।

प्रो० स्पियर ने Twilight of the Mughals में लिखा है कि अंतिम मुगल सम्राट योरुप के छोटे राज्यों के वैधानिक शासक होने के लिए उपयुक्त-तम इंसान थे : "Akbar Shah II would have been a very worthy country gentleman relying chivalrously on ladies' advice. Bahadur Shah II would have been an excellent constitutional King. Delhi, then, was Indian Weimer with Ghalib as its Goethe Zafar would have been a dignified ruler of a minor German state with his love of poetry and philosophy, with his excursions to Jamuna,......his monsoon visits to Mehrauli, his patronage of Salona and Pankha festival and fondness for doves and love of mysticism."

यह बात अवध के बारे में और अधिक विश्वास के साथ कही जा सकती है। इतिहास ने अवध पर स्वायत्त राज्य का भार रख दिया और उन्नीसवीं शती की परिस्थितियों में यह संभव न था कि अपनी कमज़ोर आर्थिक स्थिति और जंग खायी हुई तलवारों के बल पर ईस्ट इंडिया कंपनी के हमले का सामना किया जाता। लेकिन राजनीतिक कमजोरियों को यदि छोड़ दिया जाये तो अवध में जो सांस्कृतिक उपलब्धियां हुई थीं उन पर कोई भी राष्ट्रीय सभ्यता गर्व कर सकती है। इस सभ्यता की आत्मा लताफ़त (कोमलता) और शाइस्तगी (शिष्ठता) है। इसमें हर क्षण दूसरों की भावनाओं का ख्याल रखा जाता है और रहन-सहन का वह रूप अपनाया जाता है, जिसमें जीवन-आनंद और शिष्ठता को प्रोत्साहन मिले। इस सभ्यता में गहराई और शक्ति दृष्टिगत नहीं होती और शायद आज बहुत लोग इसे खोखलेपन की संज्ञा दें लेकिन इस सभ्यता ने अपने विशिष्ट दायरे में रहकर किस तरह के गुल-बूटे खिलाये हैं उन्हें जानना-पहचानना हमारे लिए एक नयी दुनिया की खोज से कम नहीं—एक ऐसी नयी दुनिया जो प्राचीन सभ्यता के पृष्ठों में छिपी हुई है और जिससे परिचय होने से जीवन अधिक सुखद और अर्थपूर्ण बन जाता है।

'शरर' ने अपनी पुस्तक को तीन भागों में विभक्त किया है : पहले भाग मे अवध और लखनऊ का संक्षिप्त इतिहास है, उसके बाद अवध के नवाबों का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। बुरहान-उल-मुल्क से लेकर उस खानदान के आखिरी बादशाह वाजिद अली शाह तक का इतिवृत्त संक्षेप में दिया गया है। यह तो स्पष्ट है कि वाजिद अली शाह के जीवन का विवरण अधिक है और यह आधार उन्होंने दिल लगाकर बड़ी दर्दमंदी से लिखा है : अंग्रेज़ों और उनके एजेंटों की साजिशें, वाजिद अली शाह की बेबसी और अंत में एक रुग्ण विलासिता का शिकार हो जाना और अपने मुसाहिबों के प्रभाव में आकर फैसले कर बैठना बड़ी खूबसूरती के साथ अंकित हुआ है। तीसरा भाग जो इस पुस्तक का वास्तविक उद्देश्य है लखनऊ में सभ्यता के विभिन्न अंगों की प्रगति से संबद्ध है उसमें 'शरर' ने विभिन्न शीर्षकों के माध्यम से मानव जीवन के सभी महत्वपूर्ण अंगों को समेटने की कोशिश की है। लिबास, खान-पान, शालीनता, रहन-सहन, रस्म-रिवाज, धार्मिक विश्वास और मान्यताएं, मेले-ठेले, मनोरंजन और खेल-कूद, हथियार, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, शिष्टाचार और इसी प्रकार के विभिन्न सांस्कृतिक पक्षों पर बहुमूल्य जानकारी प्रस्तुत की गयी है। उनका महत्व केवल

ऐतिहासिक ही नहीं है बल्कि उनसे आज भी हम जीवनयापन का ढंग सीख सकते हैं, क्योंकि यह नफ़ासत और लताफ़त किसी भी संस्कृति के लिए गर्व का विषय बन सकती है।

'शरर' के दो और रूप भी हैं। एक यह कि जब वाजिद अली शाह को ईस्ट इंडिया कंपनी ने कैद करके लखनऊ से मटियाबुर्ज भेज दिया तो उनका मुक़दमा लंदन में मलका विक्टोरिया और ब्रिटिश साम्राज्य के सामने पेश करने के लिए अब्दुल हलीम 'शरर' के नाना लंदन गये थे। इससे अंदाज़ा हो सकता है कि उनका खानदान अवध के नवाबों से कितना निकट था। अवध के अंतिम दिनों की कहानी को जितने दर्दनाक और प्रभावशाली ढंग से 'शरर' ने बयान किया है वह खुद अपनी जगह एक क्लासिक है। और पुस्तक का वह अध्याय मात्र ऐतिहासिक वर्णन नहीं बल्कि एक महान त्रासदी का अंश है। उनकी मशहूर पत्रिका "दिलगुदाज़" मुद्दतों तक उर्दू साहित्य की सेवा करती रही और उसकी यह सेवा असाधारण महत्व की रही है। यह पूरी पुस्तक भी पहले फुटकर लेखों के रूप में इसी पत्रिका में क़िस्तवार प्रकाशित हुई थी। ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में यों भी उन्हें इतिहास से गहरी दिलचस्पी थी, इसलिए इस पुस्तक में इतिहासकार की व्यापक दृष्टि, पत्रकार की शैली का रस, संस्कृति के सभी पक्षों से गहरी जानकारी रखने वाले एक सभ्य व्यक्ति की नफ़ासत और लताफ़त प्रकट होती है।

इस पुस्तक का इस दृष्टि से भी बड़ा महत्व है कि आज तक भारतीय संस्कृति के किसी भाग का इतना भरपूर और विस्तृत चित्र प्रस्तुत नहीं किया गया। यह सच है कि सभ्यता और संस्कृति, खानपान, वेषभूषा, शिष्टाचार, मनोरंजन के साधन, शादी-गमी के रस्म-रिवाज आदि का ही नाम नहीं है लेकिन इन सब चीजों का ज़िक्र, यदि न किया जाये तो भी सभ्यता और संस्कृति का चित्र अधूरा रहेगा। आधुनिक युग में मनुष्य जीवन की आपाधापी में फंसकर जीवन का आनंद खो बैठा है और व्यस्तता तथा जीवन की तीव्र गति में उसे ढंग से जीने के अलावा और हर चीज़ की फ़ुर्सत प्राप्त है। इस पुस्तक का महत्व और भी बढ़ जाता है। एक मुद्दत हुई लिन यू टांग की प्रसिद्ध पुस्तक Importance of Living प्रकाशित हुई थी जिसमें जीवनानंद के इसी पहलू पर प्रकाश डाला गया था। 'शरर' की पुस्तक उससे भी कहीं आगे जाती है और एक ऐसी सभ्यता का चित्र प्रस्तुत करती है जिसे

हिंदुस्तान के एक प्रदेश के रहने वालों ने जन्म दिया। इस दृष्टि से वह एक महान सभ्यता का महान इतिहास ही नहीं है बल्कि हमारी राष्ट्रीय विरासत का एक महत्वपूर्ण अंग है।

अब्दुल हलीम 'शरर' अपने अनेक लोकप्रिय ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए याद रखे जायेंगे जिनमें 'फिरदौसे-बरी' 'मंसूर-मोहना', 'मलिक-उल-अज़ीज-वर्जिना', 'फ्लोरा-फ्लोरिंडा' आदि उनके जीवन काल में ही ख्याति प्राप्त कर चुके थे। 'शरर' युगप्रवर्तक पत्रिका 'दिलगुदाज़' के संपादक के रूप में याद किये जायेंगे। जिसने उर्दू पत्रकारिता को एक नयी दृष्टि और उर्दू साहित्य को नयी दिशा प्रदान की। वे अपने उन सुंदर लेखों के लिए भी याद किये जायेंगे जिन्होंने उर्दू साहित्य को समृद्ध किया। वे अपने चमत्कृत निबंधों के कारण भी सदा जीवित रहेंगे। लेकिन 'गुज़िश्ता लखनऊ' उन्हें अमर रखने के लिए काफ़ी है। यह एक ऐसी पुस्तक है जो इतिहास के गर्म और चहकते हुए ख़ून की तरह वर्तमान और भविष्य तक जीवन और आनंद का संदेश लेकर जाता है और संस्कृतियों को अतीत का नया रूप और भविष्य का नया विज़न प्रदान कर देता है। इस दृष्टि से इस पुस्तक पर उर्दू वालों का ही नहीं पूरे भारत का अधिकार है। हर भारतवासी को इसमें अपने सुंदर अतीत का चित्र दिखायी देगा और वह इसके विभिन्न अंगों में जीवन के सुख और आनंद की झलक पा सकेगा।

इसीलिए 'शरर' की यह पुस्तक केवल छपे हुए शब्दो का संग्रह ही नहीं एक जीताजागता अनुभव है जो इंसान को नयी दृष्टि प्रदान करता है और उसे बेहतर बनाता है।

**मुहम्मद हसन**

अध्यक्ष, उर्दू विभाग,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली।

इस बात के मानने में शायद किसी को ग्रापत्ति न होगी कि हिंदुस्तान में पूर्वी सभ्यता ग्रौर संस्कृति का जो ग्राखिरी नमूना नज़र ग्राया वह ग्रवध का पुराना दरबार था। पिछले ज़माने की यादगार के तौर पर ग्रौर भी कई दरबार मौजूद हैं मगर जिस दरबार के साथ पुरानी तहज़ीब ग्रौर संस्कृति खत्म हो गयी वह यही दरबार था जो बहुत ही ग्राखिर में कायम हुग्रा ग्रौर ग्रजीब-ग्रजीब तरक्क़ियां दिखा कर बहुत ही जल्दी नष्ट हो गया। लिहाज़ा हम इस दरबार का संक्षेप में वर्णन करना चाहते हैं ग्रौर उसकी विशेषताएं बताना चाहते हैं।

यह मान लेने में भी शायद किसी को ग्रापत्ति न होगी कि जिस प्रदेश में पिछला दरबार क़ायम हुग्रा उसका महत्व हिंदुस्तान के दूसरे सभी प्रांतों से बढ़कर है।

पुराने चंद्रवंशी परिवार विशेषकर राजा रामचंद्र जी के महान ग्रौर बेमिसाल कारनामे इतने ग्रधिक हैं कि इतिहास उन्हें ग्रपने ग्रंदर समोने में ग्रसमर्थ है ग्रौर यही कारण है कि उन्होंने इतिहास की सीमाएं लांघ कर धार्मिक पवित्रता का रूप धारण कर लिया है। ग्राज हिंदुस्तान का शायद ही कोई ऐसा ग्रभागा गांव होगा जहां उनकी याद हर साल रामलीला के धार्मिक नाटक के माध्यम से ताज़ा न कर ली जाती हो। लेकिन ग्रवध के इस सबसे प्राचीन दरबार का वर्णन ग्रौर ग्रयोध्या का उस युग का वैभव वाल्मीकि ने ऐसी चमत्कृत शैली में किया कि वह ग्रास्थावान व्यक्ति के हृदय पर ग्रंकित हो गया। लिहाज़ा हम उसे यहां दोहराना नहीं चाहते। जिन लोगों ने ग्रयोध्या के उस वैभवशाली युग का चित्रण वाल्मीकि की कलाकृति में देखा है वे उसी शुभ स्थान पर ग्राज 'दिल गुदाज़'[1] में फ़ैज़ाबाद की तस्वीर देखें। हम घटनाक्रम को उस समय से शुरू करते हैं जब उस ग्राखिरी दरबार की बुनियाद पड़ी जिसे नष्ट हुए कुछ ऊपर पचास साल से ज्यादा ज़माना नहीं हुग्रा।

[1]लेखक द्वारा संपादित पत्रिका जिसमें प्रस्तुत पुस्तक क़िस्तवार प्रकाशित हुई थी। ( 1887-1935 ई० )।

जब नवाब बुरहान-उल-मुल्क अमीन उद्दीन खां नैशापुर दिल्ली के शहंशाही दरबार की तरह से अवध के सूबेदार नियुक्त होकर आये तो लखनऊ के शेख़-ज़ादों को परास्त करके अवध की प्राचीन राजधानी यानी पवित्र नगरी अयोध्या पहुंचे और आबादी से फासले पर यानी घाघरा नदी के किनारे एक ऊंचे टीले पर अपना शिविर बनाया। चूंकि वे प्रांत के प्रबंध में व्यस्त थे और उन्हें आलीशान इमारतें बनाने की फ़ुर्सत न थी और न ही सीधा स्वभाव होने के नाते इस तरह की झूठी शान दिखाने का उन्हें शौक़ था इसलिए एक ज़माने तक वे तंबुओं में रहते रहे और जब कुछ दिन के बाद उन्हें बरसात में तकलीफ हुई तो थोड़ी दूर हटकर एक मुनासिब जगह पर अपने लिए एक छप्पर[1] बनवाया। फिर उसके बाद उस छप्पर के आसपास कच्ची दीवार का एक बहुत लंबा-चौड़ा वर्गाकार घेरा खिचवा लिया जिसके चारों कोनों पर किलेबंदी की शान से चार कच्चे बुर्ज बनवा दिये ताकि इर्द-गिर्द के इलाके की निगरानी की जा सके। यह अहाता इतना विशाल था कि उसके अंदर असंख्य घुड़सवार, पलटनें, तोपखाने, अस्तबल और अन्य जरूरी कारख़ाने आसानी से रह सकते थे। बुरहान-उल-मुल्क को चूंकि इमारत का शौक़ न था इसलिए उसके ज़नाने और बेगमों के रहने के लिए भी कच्चे मकान ही बना लिये गये। ग़रज़ यह कि कच्चे बंगले में उस समय का अवध-नरेश जब ज़िलों के दौरे और सरकारी यात्राओं से फ़ुर्सत पाता तो ऐश-आराम के साथ रहता था और उसे किसी बात की शिकायत न थी और उसका यह शासन-केंद्र कुछ ही दिन में 'बंगला' के नाम से मशहूर हो गया।

बुरहान-उल-मुल्क के देहांत के बाद जब नवाब सफ़दरजंग का जमाना शुरू हुआ तो यह बस्ती फ़ैज़ाबाद मशहूर हुई। यह है बुनियाद शहर फ़ैज़ाबाद की जिसने अपने बनने और बिगड़ने की तेज़ी में लखनऊ को भी मात कर दिया। अब उन दिनो इन कच्ची चारदीवारी के गिर्द फ़ौज के अधिकतर मुग़ल सरदारों ने अपनी दिलचस्पी के लिए बाग़ और हवादार तथा आनंदप्रद रंग-महल बनाये और शहर की रौनक़ बढ़ने लगी। इस कच्चे अहाते का एक

[1]फ़ैजाबाद के सभी हालात मुंशी मुहम्मद फ़ैजबख़्श की 'तारीख-ए-फरह बख़्श' से लिए गए हैं। मूल पुस्तक हमने नहीं देखी मगर उसका अंग्रेज़ी अनुवाद (अनुवादक : विलियम हुई) जो 1889 में गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद में छपा है हमारे पास मौजूद है।

फाटक 'दिल्ली दरवाज़ा' कहलाता था जो पश्चिम की ओर था। उसके बाहर दीवान आत्माराम के बेटों ने एक शानदार बाज़ार बनवाया और उसी के सिलसिले में रहने के लिए मकान भी बनवाये। इसी तरह इस्माईल खां रिसालदार ने भी एक बाज़ार बनवाया और चारदीवारी के अंदर ख्वाजा-सराओं (महल रक्षक) और विभिन्न फ़ौजी लोगों के बहुत से मकान भी तैयार हो गये।

नवाब सफ़दर जंग की मृत्यु के बाद इस नयी बस्ती पर कुछ रोज़ के लिए तबाही बरस गयी। जिसकी वजह से इतने दिनों में जो कुछ बना था ज़माने ने बिगाड़ कर रख दिया इसलिए कि उनके बेटे नवाब शुजाउद्दौला ने अपने रहने के लिए लखनऊ को पसंद किया था और वहीं रहते थे। अलबत्ता साल में दो-एक रातें अपने बाप-दादा के इस पुराने मकान में जरूर बसर कर लिया करते। यहां तक कि 1746 ई० में उन्हें बक्सर की लड़ाई में अंग्रेजों से हार हुई। उस समय उनके पास कुछ भी तो न रहा था और वे उसी हालत में भागते हुए फ़ैज़ाबाद में आये और वहां के क़िले में जो कुछ साज़-सामान मौजूद पाया लेकर रातों-रात चल खड़े हुए और लखनऊ पहुंचे। यहां भी एक ही रात ठहर कर जो कुछ हाथ आया लिया और दिल्ली की राह ली ताकि रुहेलखंड के पठानों के पास जाकर शरण लें। लड़ाई के नौ महीने बाद अंग्रेज़ों से उनकी सुलह हो गयी जिसके अनुसार शुजाउद्दौला के ज़िम्मे यह वाजिब था कि प्रदेश की आमदनी में से रुपये में पांच आने अंग्रेजों को अदा करें।

संधि होने से पहले इस सफर में इत्तिफ़ाक़ से शुजाउद्दौला का गुज़र फ़र्रुखा-बाद शहर में भी हुआ था जहां एहमद बंगश से मुलाक़ात हुई जो उस ज़माने के पुराने तजुर्बेकार बहादुरों में माने जाते थे। उन्होंने शुजाउद्दौला को सलाह दी कि अब जो तुम जाकर हुकूमत की बागडोर हाथ में लेना तो मेरी इन दो बातों को न भूलना : एक तो यह कि मुग़लों का कभी एतबार न करना बल्कि अपने दूसरे नौकरों और ख्वाजासराओं से काम लो। दूसरे यह कि लखनऊ का रहना छोड़ो और फ़ैज़ाबाद को अपनी राजधानी बनाओ।

ये बातें शुजाउद्दौला के दिल पर बैठ गयीं और अंग्रेजों से समझौता होने के बाद 1779 ई० में जो उन्होंने अपनी सल्तनत की राह ली तो सीधे फ़ैज़ाबाद आये और उसी को अपनी राजधानी बना दिया। अब यहां उन्होंने नयी

फ़ौज भर्ती करना शुरू की, नये घुड़सवार तैयार किये और नयी इमारतों की बुनियाद डाली। पुराने हिसार को एक मजबूत परकोटे की शान से दुबारा बनवाया जो अब क़िला कहलाता था। मुगलों के जो मकान अंदर बने हुए थे ढहा दिये और अपने अक्सर निजी नौकरों को हुक्म दिया कि वे परकोटे के बाहर मकान बनवाएं। इस हिसार के इर्द-गिर्द हर तरफ दो-दो मील का मैदान छोड़ दिया गया जिसके गिर्द गहरी खाई खोद कर उसे किलाबंदी के रूप में दुरुस्त किया गया। सरकारी नौकरों और फौज के अफसरों को इजाज़त हुई कि अपनी हैसियत और हालत के मुनासिब जमीन के टुकड़े लेकर उसी मैदान में मकान बनाएं। जैसे ही यह खबर मशहूर हुई कि शुजा-उद्दौला ने फैजाबाद को अपनी राजधानी बनाया है, एक दुनिया का रुख उधर फिर गया। हजारों लोग आ-आकर आबाद होना शुरू हुए। शाहजहानाबाद में यह हालत थी कि जिसे देखिए फ़ैज़ाबाद जाने के लिए तैयार है। चुनांचे दिल्ली के अधिकतर शिल्पकारों ने अपना वतन छोड़ा और पूरब की ओर चल पड़े। दिन-रात लोगों के आने का तांता बंधा रहता था और क़ाफ़िले चले आते थे जो आ-आकर यहां बसते और फ़ैज़ाबाद के आसपास खपते चले जाते थे। चंद ही रोज के अंदर हर धर्म और जाति के सुखी-संपन्न साहित्यकार, तलवार के धनी, व्यापारी, शिल्पी और हर वर्ग तथा हर श्रेणी के लोग यहां जमा हो गये। और जो आता, आते ही इस फ़िक्र में पड़ जाता कि कोई जमीन का टुकड़ा हासिल करके मकान बना ले।

चंद ही साल के अंदर इस पहले हिसार के अलावा दो और फसीलें बन गयीं: एक जो पहले वर्गाकार अहाते के दक्षिणी सिरे से मिली हुई थी उसकी लंबाई-चौड़ाई दो-दो मील की थी, और दूसरा हिसार एक मील के फैलाव में था जो क़िले और बाहर की प्राचीर के दरम्यान था। इसी ज़माने में त्रिपोलिया और चौक बाजार बने जिनकी सड़क क़िले के दक्षिणी फाटक से शुरू हो कर इलाहाबाद की सड़क के नुक्कड़ तक चली गयी थी और इतनी खुली हुई थी कि बराबर-बराबर दस छकड़े आसानी से गुजर सकते थे। शहर की फसील का आसार जमीन के पास चाहे जितना हो दरम्यान में दस गज से कम न था जो ऊपर पहुंच कर पांच-पांच गज रह गया था। इस फ़सील पर कायदा और बेकायदा दोनों तरह की फ़ौजों के दस्ते रात भर रौंद फिरा करते और जा-बजा पहरा देते। बाकायदा सिपाहियों की वर्दी लाल थी और बेकायदा सिपाहियों

की वर्दी काली। इन्हीं सिपाहियों की ज़रूरत से बरसात में जा-बजा छप्पर डाल दिये जाते, मगर बरसात के खत्म होते ही आग लगने के अंदेशे से वे लाजिमी तौर पर उतार डाले जाते। चुनांचे सिर्फ प्राचीर की दीवारों के लिए हर साल लगभग एक लाख छप्पर छाये जाते और चार महीने के बाद नोच के फेंक दिये जाते।

शहर के आसपास दो चरागाहें शिकार के लिए नियत कर दी गयी थीं जिनमें से एक पश्चिम की ओर गुरजी बेग खां की मस्जिद से गुप्तार घाट तक चली गयी थी जो एक लंबा फ़ासला है। उसके दोनों ओर कच्ची दीवारें थीं और तीसरी ओर घाघरा बहती थी। उसमें अनेक हिरन, चीतल, बारसिंघे, नील गायें वग़ैरा शिकार के जानवर छोड़े गये थे जो बड़ी आज़ादी के साथ छूटे-छूटे फिरते और भड़कते ही चौकड़ियां भरने लगते। दूसरी शिकारगाह शहर से पूरब की तरफ गांव जनौरा और छावनी गोसाई से नदी के किनारे तक थी जिसका फैलाव छह मील का था। इसके रकबे में ग्यारह गांव और उनकी जमीन आ गयी थी। लेकिन यह शिकारगाह अधूरी ही रही और इसकी नौबत न आने पायी कि उनमें जंगली जानवर छोड़े जाएं।

ख़ास शहर के हल्के के अंदर तीन ऐसे सुखद बाग़ थे जो इस योग्य थे कि अमीर और शहज़ादे आकर इनमें सैर करें और उनकी बहार और हरियाली का आनंद उठाएं। एक अंगूरी बाग़ जो क़िले के अंदर स्थित था और उसके रक़बे के चौथाई हिस्से पर छाया हुआ था। दूसरा मोतीबाग़ जो कि चौक के अंदर स्थित था। तीसरा लालबाग़ जो सब बाग़ों से अधिक विशाल था। इसमें बड़ी सुंदरता से पेड़-पौधे लगाये गये थे और हर तरह के नाज़ुक और दिल-फरेब फूल बड़े सलीके से लगाये गये थे। सारे सूबे में इसकी शोहरत थी और दूर-दूर के लोगों को तमन्ना थी कि कोई खुशनसीबी की शाम उस रूहअफ़ज़ा बाग़ में बसर करें। शहर के नौजवान शरीफ़ज़ादों के झुंड रोज तीसरे पहर को इसमें गश्त लगाते और दिल बहलाते नज़र आते। यह बाग कितना सुखद और सुहावना था इसकी ख्याति यहां तक थी कि दिल्ली के शंहशाह शाहआलम जब इलाहाबाद से पलटे तो इसी बाग़ की सैर के शौक में फ़ज़ाबाद होते हुए दिल्ली गये और कुछ जमाने तक वे इसी के अंदर रहे। इन तीन बाग़ों के अलावा आसफ़बाग़ और बुलंदबाग़ भी शहर के आसपास लखनऊ के रास्ते में स्थित थे।

नवाब शुजाउद्दौला बहादुर को शहर की दुरुस्ती का ऐसा शौक था कि हर सुबह-शाम सवार होकर सड़कों और मकानों का मुआयना करते। मजदूर फड़वे और कुदालें लिए हुए साथ होते, जहां कहीं किसी मकान को टेढ़ा और अपनी हद से बढ़ा पाते या किसी दुकानदार को देखते कि उसने सड़क की ज़मीन बालिश्त भर भी दबा ली है, फौरन उसे खुदवाकर बराबर और सीधा करा देते।

फ़ौज के सुधार की तरफ भी शुजाउद्दौला का विशेष ध्यान था। रिसाले के बड़े सरदार अब मुर्तज़ा खां बरीज और हिम्मत बहादुर और उमरावगीर नामक दो-गोशाई थे। उनके मातहत इतने सवार थे कि इन तीन के अलावा और जितने छोटे-छोटे जमादार थे सबकी फ़ौज की कुल तादाद से उनमें से हरेक की टुकड़ी ज़्यादा थी। फ़ौज के दूसरे सरदार एहसान कंबोही, गुरजी बेग खां, गोपाल राव मराठा, मीर जुमला के दामाद नवाब जमालउद्दीन खां मुज़फ़्फ़र उद्दौला, बहूर जंग बख्शी अबुल बरकात खां काकोरीनिवासी और मुहम्मद मुइज़उद्दीन खां लखनऊ के एक शेखज़ादे। इनमें से कोई ऐसा न था जिसके मातहत हजार-पांचसौ सिपाहियों का गिरोह न हो। इनके अलावा ख्वाजासरा और वे नौजवान ख्वाजासरा जो उनकी निगरानी में ट्रेनिंग पाते, चेले और नौकर-चाकर थे। बसंतअली खां ख्वाजासरा के मातहत दो डिवीज़न फ़ौज यानी चौदह हजार बाकायदा सिपाही थे जिनकी वर्दी लाल थी। एक दूसरा बसंत ख्वाजासरा था जिसकी कमान में एक हजार बाकायदा भाले चलाने वाले सवार और एक पलटन थी। अंबर अली खां ख्वाजासरा की अफ़सरी में पांच सौ सवार और एक पलटन थी जिनकी वर्दियां काली थीं। महबूब अली खां ख्वाजासरा से ट्रेनिंग लेने वाले पांच सौ सवार थे और चार पलटनें थीं। इतनी ही फ़ौज लताफत अली खां के मातहत थी। रघुनाथ सिंह और प्रसाद सिंह में से हरेक की कमान में तीन-तीन सौ सवार और चार-चार पलटनें थीं। इसी तरह मक़बूल अली खां प्रथम और द्वितीय, यूसुफ अली खां के साथ पांच-पांच सौ मुग़ल सवारों और पैदलों की टुकड़ी थीं और तोपखाने की तो कोई हद थी न हिसाब।

लिहाज़ा कुल फ़ौज जो शुजाउद्दौला के कब्ज़े में थी और फ़ैज़ाबाद में मौजूद रहा करती थी उसकी कुल तादाद यह थी: लाल वर्दीवाले तीस हजार बाकायदा और काली वर्दीवाले चालीस हजार बेकायदा प्यादे। उनके बड़े

सिपहसालार सैयद एहमद थे जो "बांसीवाला" के उपनाम से मशहूर थे। जल्दी भरने और फ़ायर करने के एतबार से उनकी तोड़ेदार बंदूकों के मुकाबिले में अंग्रेज फौज की बंदूकें कोई अहमियत न रखती थीं।

इस टुकड़ी के अलावा शुजाउद्दौला के पास बाईस हज़ार हरकारे और मुख़बिर थे जो हर सातवें रोज़ पूना से और हर पंद्रहवें दिन काबुल से खबरें लाते। दरबार में हमेशा दूर-दूर के शहरों के शासकों के नायब मौजूद रहा करते। एक नायब मराठों का था, एक दक्खिन के शासक निज़ाम अली खां का, एक ज़ाब्ते खां और एक नवाब जुल्फ़िक़ारउद्दौला नजफ़ खां का जिनके साथ उनके दफ़्तर और सिपाही भी थे। उन लोगों के अलावा और भी बहुत से फ़ौजी अफ़सर अपनी-अपनी फ़ौजी टुकड़ियों के साथ यहां मौजूद रहते—जैसे मीर नईम खां जिनके झंडे के नीचे साबितखानी, बुंदेलखंडी, चंदेला और मेवाती सिपाहियों का समूह था।

मुहम्मद बशीर खां क़िलेदार थे। शहर की फसीलों और फाटकों पर उन्हीं के सवार और प्यादे फैले रहते और क़िले के अंदर ही उनके रहने और दफ़्तर के लिए अच्छे मकान और उनके सिपाहियों की बारकें बनी हुई थीं। जब बाहरी दीवारों में भी जगह बाक़ी न रही तो सैयद जमालउद्दीन खां और गोपाल राव मराठा ने बाहर निकल कर नौराही नामक गांव के पास ही रहना शुरू कर दिया और अपने मकान तथा कैंप वहां बनाए और इसी जगह की तंगी की वजह से नवाब मुर्तज़ा खां बारीज, मीर एहमद बांसीवाला, मीर अबुल बरकात और शेख़ एहसान अयोध्या और फ़ैज़ाबाद के दरम्यान तंबुओं में रहते थे।

आदमियों की बहुतायत और सिपाहियों की भीड़ से शहर के अंदर—खासकर चौक में—ऐसा जमघटा-सा लगा रहता कि वहां से गुज़रना दूभर था और नामुमकिन था कि कोई व्यक्ति बिना अटके हुए सीधा चला जाए। फ़ैज़ाबाद न था इंसानों का जंगल था। बाज़ार में देखिए तो मुल्कों का माल ढेर था और खबर सुनकर कि फ़ैज़ाबाद में अच्छी रुचिवाले रईसों और शौक़ीन अमीरों का चुनिंदा समूह है हर तरफ से व्यापारियों के क़ाफ़िले लदे-फंदे चले आते थे और चूंकि चाहे कैसा ही क़ीमती माल हो हाथों हाथ बिक जाता, अच्छी-से-अच्छी चीज़ों के आने का सिलसिला बंध गया था। जब देखिए ईरानी काबुली, चीनी और फ़िरंगी सौदागर बहुत ही बहुमूल्य और भारी माल लिये

हुए मौजूद रहते और ज्यों-ज्यों नफ़ा उठाते, हवस बढ़ती और वे अधिक कोशिश और मेहनत से नया माल ले आते। मोस्यो जां तेल, मोस्यों सोन सोन और मोस्यो पेट्रोज़ वग़ैरा जैसे दो सौ फ्रांसीसी जो यहां रहने लगे थे, सरकार में मुलाज़िम थे। और शुजाउद्दौला की सल्तनत से अपना संपर्क बनाये रखते थे जो सिपाहियों को सैनिक शिक्षा देते और तोपें, बंदूकें और अन्य अस्त्र-शस्त्र अपनी देखरेख में तैयार कराते।

मुंशी फैज बख्श जो "तारीख-ए-फरहबख्श" के लेखक थे, जिनकी मेहरबानी से हमें ये घटनाएं मालूम हुई हैं, खुद उस ज़माने में मौजूद थे और उन्होंने जो कुछ लिखा है अपने अनुभव के आधार पर लिखा है। वे कहते हैं कि मैं जब पहले-पहल घर छोड़ कर फ़ैज़ाबाद में गया हूं मुम्ताज़नगर ही तक पहुंचा था, जो शहर के पश्चिमी फाटक से चार मील की दूरी पर है, मैंने देखा कि एक पेड़ के नीचे भांति-भांति की मिठाइयां, गरमागरम खाना, कबाब-सालन, रोटियां और पराठे वग़ैरा पक रहे हैं। सबीलें रखी हुई हैं, नान खताइयां, तरह-तरह के शर्बत और फ़ालूदा भी बिक रहा है और सैकड़ों आदमी ख़रीददारी के लिए उन दुकानों पर गिरे पड़ते हैं। मुझे ख़याल गुज़रा कि मैं शहर के अंदर दाखिल हो गया और खास चौक में हूं। मगर हैरान था कि अभी तक शहर का फाटक तो आया ही नहीं, मैं अंदर कैसे पहुंच गया? लोगों से पूछा तो एक राहगीर ने कहा, "जनाब, शहर का फाटक यहां से चार मील है, आप किस ख़याल में हैं?"

इस जवाब पर हैरान होता हुआ शहर में दाखिल हुआ तो अजब चहल-पहल नज़र आयी। रंगीनियां थीं और दिलचस्पियां, जिधर देखता हूं नाच हो रहा है। मदारी तमाशा कर रहे हैं और लोग तरह-तरह के सैर-तमाशों में व्यस्त हैं। मैं यह रौनक और शोर हंगामा देखकर दंग रह गया। सुबह से शाम तक और शाम से सुबह तक कोई वक्त न होता जब फ़ौजों और पलटनों के नक्कारों की आवाज न सुनी जाती हो। पहरों और घड़ियों के बताने के लिए बारबार नौबत बजती और घड़ियों पर मूगरियां पड़तीं जिनके शोर-गुल से कान उड़े जाते। सड़कों पर देखिए तो हर दम घोड़ों, हाथियों, ऊंटों, खच्चरों, शिकारी कुत्तों, गाय-भैंसों, बैलों, छकड़ों और तोपों के गुज़रने का सिलसिला जारी रहता जिनकी गिनती हिसाब और अंदाज़े से बाहर थी, रास्ता चलना दुश्वार था।

एक अजीब रौनक़ और दबदबे का शहर नज़र आया जिसमें दिल्ली के वज़ादार लोगों में से खुश पोशाक शरीफ़ज़ादे, यूनानी हकीम, ऊंचे दर्जे के मर्द और औरत, वेश्याएं, हर शहर और हर जगह के मशहूर और दक्ष गायक सरकार में मुलाज़िम थे और बड़ी-बड़ी तनख्वाहें पाकर ऐश-इशरत की ज़िंदगी बसर करते। छोटे-बड़े सबकी जेबें रुपयों और अशरफियों से भरी हुई थीं और ऐसा नज़र आता था जैसे यहां कभी किसी ने ग़रीबी और मोहताजी को ख्वाब में भी नहीं देखा है। नवाब वज़ीर (शुजाउद्दौला बहादुर) शहर की सरसब्ज़ी, रौनक़ और रिआया की उन्नति में पूरी तरह व्यस्त हैं और मालूम होता था कि चंद ही रोज़ में फ़ैज़ाबाद दिल्ली से होड़ करने का दावा करेगा।

चूंकि किसी राज्य और किसी शहर का रईस इस शान शौकत से नहीं रहता था जिस तरह कि नवाब शुजाउद्दौला रहते थे और इसके साथ ही यह नज़र आता था कि कहीं के लोग इस बेजिगरी से हर काम में और हर मौक़े पर धन खर्च करने को नहीं तैयार हो जाते थे इसलिए हर क़िस्म के और हर जगह के बड़े-बड़े दस्तकारों, कारीगरों और विद्यार्थियों ने अपने-अपने प्रांत छोड़ कर फ़ैज़ाबाद को ही अपना घर बना लिया और यहां हर ज़माने में ढाका, बंगाल, गुजरात, मालवा, हैदराबाद, शाहजहानाबाद, लाहौर, पेशावर, काबुल, कश्मीर और मुल्तान के विद्यार्थियों का एक बड़ा भारी गिरोह मौजूद रहता जो विद्वानों की पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करते और उस ज्ञान-स्रोत से जो फ़ैज़ाबाद में जारी था पूरी तरह तृप्त होकर अपने घरों को वापस जाते। काश नवाब वज़ीर और दस बारह बरस जी जाते तो घाघरा के किनारे एक नया शाहजहानाबाद आबाद हो जाता और दुनिया एक नई ज़िंदा दिल्ली की सूरत देख लेती!

यह नवाब शुजाउद्दौला के सिर्फ नौ साल के निवास का नतीजा था जिसने फ़ैज़ाबाद को ऐसा बना दिया, और इन नौ साल में भी सिर्फ बरसात के चार महीने वे शहर में विराजमान रहते, बाक़ी ज़माना अपने राज्य के दौरे और सैर व शिकार में बीतता था। शुजाउद्दौला को स्वभाव से ही सुंदर स्त्रियों और नृत्य-गान से लगाव था जिसकी वजह से बाज़ारी औरतों और नाचने वाली वेश्याओं की प्रसिद्धि इतनी बढ़ गयी कि कोई गली-कूचा उनसे खाली न था और नवाब के इनाम वग़ैरा से वे इतनी खुशहाल और धनवान थीं कि अक्सर रंडियों के डेरे लगे रहते थे जिनके साथ दो-दो, तीन-तीन आलीशान

तंबू रहा करते और नवाब साहब ज़िलों का दौरा करते और सफ़र में होते तो नवाबी खेमों के साथ-साथ-उनके खेमे भी शाही शान-शौकत से छकड़ों पर लद-लद कर रवाना होते और उनके गिर्द दस-दस, बाहर-बारह तेलंगों का पहरा रहता और जब शासक का यह ढंग था तो तमाम अमीरों और सरदारों ने भी बेझिझक यही तरीक़ा अपना लिया और सफ़र में सबके साथ रंडियां रहने लगीं। हालांकि इससे अनैतिकता और बेशर्मी बढ़ गयी लेकिन इसमें शक नहीं कि उन वैश्याओं की बहुतायत और अमीरों की शौकीनी से शहर की रौनक बहुत अधिक बढ़ गयी थी और फ़ैज़ाबाद दुलहन बन गया था।

सन् 1773 ई० में शुजाउद्दौला ने पश्चिम को प्रस्थान किया। इस यात्रा में शाही कैंप की रौनक़ और चहल-पहल का वर्णन नहीं किया जा सकता। मालूम होता था कि नवाबी झंडे के साथ-साथ एक बड़ा भारी शहर सफ़र कर रहा है। लखनऊ होते हुए इटावा पहुंचे जिस पर मराठों का कब्ज़ा था। एक ही हमले में उसे उनसे छीनकर अपने क़ब्ज़े में किया और एहमद खां बंगश के राज्य में दाखिल होकर कौड़ियागंज और कासगंज में डेरे डाले। यहां से उन्होंने बरेली के शासक हाफ़िज़ रहमत ख़ां को लिखा।

"पिछले साल मैंने एक करोड़ रुपये महादजी सिंधिया मराठे को भेजे थे जिसने आप का वह तमाम इलाक़ा जो दो अरब के दरम्यान है आपसे छीन लिया था। वह रक़म अदा करके मैंने आपका वह इलक़ा उसके कब्ज़े से छुड़ाया और आपके हवाले कर दिया। लिहाज़ा अब पचास लाख की रक़म जो आपकी तरफ से मैंने अदा की थी फौरन अदा कीजिए।"

हाफ़िज रहमत खां ने अपने तमाम अफ़ग़ान सरदारों और भाई-बंदों को जमा करके कहा :

"शुजाउद्दौला लड़ाई के लिए कोई बहाना ढूंढ़ रहे हैं। मुनासिब यह है कि उन्होंने जो रक़म मांगी है वह अदा कर दी जाए। बीस लाख मैं अपने पास से देता हूं और बाक़ी तीस लाख तुम जमा कर दो।"

अदूरदर्शी पठान सरदारों ने जवाब दिया, "शुजाउद्दौला के आदमी देखने ही के हैं वे भला हमसे क्या मुक़ाबिला करेंगे ? बाक़ी रही अंग्रेज फ़ौज जो उनके साथ है, तो उनकी तोपों पर जिस वक़्त हम तलवारें सूत-सूतकर जा पड़ेंगे सबके हवास जाते रहेंगे। देने-लेने की कुछ ज़रूरत नहीं।"

हाफ़िज़ रहमत खां ने यह सुनकर कहा, "तुम्हें इख़्तियार है। मगर मैं

अभी से कहे रखता हूं कि अगर लड़ाई का रंग बदला तो मैं मैदान से ज़िदा न आऊंगा और इसका जो कुछ अंजाम होगा वह तुम्हीं को भुगतना पड़ेगा।"

कहना न होगा कि शुजाउद्दौला को अपनी इच्छा के अनुसार जवाब न मिला, वे फ़ौज लेकर चढ़ गये। लड़ाई हुई और लड़ाई का अंजाम वही हुआ जिसे तक़दीर ने हाफ़िज़ रहमत खां की ज़ुबान से पहले ही सुनवा दिया था। हाफ़िज़ रहमत खां शहीद हुए और उनकी हुकूमत का खात्मा हो गया। मगर जीत शुजाउद्दौला को भी रास न आई। 13 सफर[1] 1188 हिजरी (1774 ई०) को लड़ाई हुई थी 11 शाबान[2] को शुजाउद्दौला बरेली से कूच करके लखनऊ आये। माह रमज़ान[3] लखनऊ में बसर किया, 8 शव्वाल[4] को लखनऊ से कूच करके 14 को फ़ैज़ाबाद में दाखिल हुए और जीत को 9 महीने 10 दिन ही हुए थे और घर में पूरे डेढ़ महीने भी आराम करने का मौक़ा नहीं मिला था कि 23 ज़ीक़ाद[5] 1188 हि० (1774 ई०) को स्वर्गवासी हुए। और अफ़सोस उनकी मौत ही के साथ फ़ैज़ाबाद की तरक़्क़ी का दौर भी खत्म हो गया।

उस वक्त अवध की हुकूमत में सबसे बड़ा असर नवाब शुजाउद्दौला बहादुर की बीवी बहू बेगम साहिबा का था जो बहुत ही धनवान भी समझी जाती थी। उनकी मंजूरी से नवाब आसफ़उद्दौला राजगद्दी पर बैठे। मगर उनकी नैतिक अवस्था बहुत ही बुरी थी और यह देखकर उनके मुसाहिबों ने यह उचित समझा कि मां बेटे को अलग रखें। कुछ दिन तक सैर व शिकार में व्यस्त रहने के बाद नवाब आसफउद्दौला बहादुर लखनऊ में रहने लगे और यहीं बैठे-बैठे मां को सताया करते और बार-बार उनसे रुपये मांगते थे।

बहू बेगम साहिबा के मौजूद रहने से फ़ैज़ाबाद को उनकी ज़िंदगी तक थोड़ी-बहुत रौनक़ हासिल रही। हालांकि उनकी ज़िंदगी में भी नवाब आसफ़उद्दौला की नालायक़ियों ने बेगम साहबा के संतोष में और उसी कारण फ़ैज़ाबाद की शांति और व्यवस्था में बाधा डाली लेकिन उस आदरणीय महिला की ज़िंदगी तक वे झगड़े और हंगामे भी एक तरह से वहां की रौनक़ को बढ़ाया ही करते थे। उनके निधन के साथ ही फ़ैज़ाबाद का इतिहास समाप्त हो गया और लखनऊ का दौर शुरू हुआ जिसका हाल हम आगे लिखेंगे।

---

[1-5] इस्लामी महीनों के नाम (सफ़र-दूसरा महीना; शाबान-आठवां महीना; रमज़ान-नवां महीना; शव्वाल-दसवां महीना; ज़ीक़ाद-ग्यारहवां महीना)

# [2]

ठीक किसी को नहीं मालूम कि लखनऊ की आबादी की बुनियाद कब पड़ी ? इसका संस्थापक कौन था ? और इसका यह नाम क्यों पड़ा ? लेकिन विभिन्न परिवारों की राष्ट्रीय परंपराओं और अनुमान से काम लेकर जो कुछ बताया जा सकता है यह है :

कहते हैं कि राजा रामचंद्रजी लंका को जीतकर और अपने बनवास का समय पूरा करके जब राजसिंहासन पर बैठे तो यह प्रदेश उन्होंने जागीर के रूप में वन में अपने साथी और हमदर्द भाई लक्ष्मण को दे दिया। चुनांचे उन्हीं के निवास या आगमन से यहां नदी के किनारे एक ऊंचे टेकरे पर एक बस्ती आबाद हो गयी जिसका नाम उस समय से लक्ष्मणपुर रखा गया और वह टीला 'लक्ष्मण टीला' मशहूर हुआ। इस टीले में एक बहुत ही गहरी गुफा या कुआं था जिसकी किसी को थाह न मिलती थी और लोगों में मशहूर था कि वह शेषनाग तक चला गया है। इस विचार से लोगों में आस्था के भाव जागे और हिंदू लोग भक्ति-भाव से उसमें फूल-पानी डालने लगे।

यह भी कहा जाता है कि महाराजा युधिष्ठिर के पोते राजा जन्मेजय ने यह इलाक़ा तपस्वियों और ऋषियों-मुनियों को जागीर में दे दिया था जिन्होंने यहां चप्पे-चप्पे पर अपने आश्रम बनाये और भगवान के ध्यान में लीन हो गये। एक मुद्दत के बाद उनको कमज़ोर देखकर दो नयी जातियों ने हिमालय की तराई से आकर इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया। ये जातियां आपस में मिलती-जुलती और एक ही नस्ल की दो शाखाएं मालूम होती थीं : एक 'भर' और दूसरी 'पांसी'।

इन्हीं लोगों से सैयद सालार मसूद ग़ाज़ी का 1030 ई० में मुक़ाबिला हुआ और शायद उन्हीं पर बख्तियार खिलजी ने 1202 ई० में चढ़ाई की थी। लिहाज़ा इस प्रदेश में जो मुसलमान परिवार पहले-पहल आकर आबाद हुए वे इन्हीं दोनों हमलावरों खासकर सैयद सालार मसूद ग़ाज़ी के साथ आनेवालों में से थे।

भर और पांसियों के अलावा ब्राह्मण और कायस्थ भी यहां पहले से मौजूद

थे। इन सब लोगों ने मिलकर यहां एक छोटा-सा शहर बसा लिया और अमन-चैन से रहने लगे। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि इस बस्ती का नाम 'लक्ष्मणपुर' से बदलकर 'लखनऊ' कब हो गया। इस आखिरी नाम का पता सम्राट अकबर से पहले नहीं चलता, लेकिन इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि हिंदू-मुसलमानों की काफ़ी आबादी पहले से मौजूद थी जिसका सबूत उस घटना से मिल सकता है जो लखनऊ के शेख़ों की पारिवारिक परंपराओं में बहुत पहले से मौजूद है और वह यह कि सन 1540 ई० में जब बादशाह हुमायूं को शेरशाह के हाथों जौनपुर में हार हुई तो वह मैदान छोड़कर सुल्तान-पुर, लखनऊ, पीलीभीत होता हुआ भागा था। लखनऊ में उसने सिर्फ चार घंटे दम लिया था और यद्यपि वह पराजित होकर आया था और उसके पास कोई सत्ता या शक्ति नहीं थी मगर लखनऊ के लोगों ने केवल इंसानी हमदर्दी और अतिथि-परायणता के विचार से उन चंद घंटों ही में दस हज़ार रुपये और पचास घोड़े उसको भेंट दिये थे। इतने थोड़े जमाने में उस सामान के जुट जाने से अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों यहां काफी आबादी मौजूद थी और उन दिनों का लखनऊ आजकल के ज़्यादातर क़स्बों से ज़्यादा बारौनक और ख़ुशहाल था।

इसी पुराने ज़माने के आनेवालों में शाह मीना का परिवार भी है जिनका मज़ार आजतक सर्वसाधारण का शरणस्थल है। और शायद इसी समय के आनेवालों में शाह पीर मुहम्मद भी थे जिन्होंने खास लक्ष्मण टीले पर निवास किया और वहीं उसका देहांत भी हुआ। उन्हीं के वहां रहने के कारण वह पुराना टेकरा लक्ष्मण टीले से 'शाह पीर मुहम्मद का टीला' हो गया और समय बीतने के साथ वह गहरी गुफा भी पट गयी। उस पर बाद के ज़माने में शहंनशाह औरंगजेब ने जो खुद वहां आया था एक बढ़िया, मज़बूत, ख़ूबसूरत और शानदार मस्जिद बनाकर खड़ी कर दी।

सन 1590 ई० में सम्राट अकबर ने जब सारे हिंदुस्तान को बारह प्रांतों में बांटा तो अवध प्रांत के सूबेदार या शासक की राजधानी पहले-पहल लखनऊ ही करार पायी थी। उन दिनों संयोग से ज़िला बिजनौर के शेख अब्दुर्रहीम नामक एक गरीब और परेशानहाल बुज़ुर्ग रोजगार की तलाश में दिल्ली पहुंचे। वहां दरबार के अमीरों से संपर्क स्थापित करके सम्राट के दरबार में पहुंचे। आखिरकार उन्हें शाही मंसबदारों में शामिल कर लिया गया और उन्हें लखनऊ

में जागीर भी मिल गयी। कुछ दिन बाद वे बड़ी शान-शौकत और धूमधाम के साथ अपनी जागीर में आ गये और वहीं रहने लगे। यहां खास लक्ष्मण टीले या शाह पीर मुहम्द के टीले को अपना निवास स्थान बनाकर उन्होंने अपना पंच मुहल्ला बनवाया, शेख़न दरवाजा बनवाया और लखनऊ में ही दफ़्न हुए। उनका मक़बिरा 'नादान महल' के नाम से आज तक मशहूर है जिसकी इमारत को अभी चंद रोज़ हुए गवर्नमेंट आफ़ इंडिया ने पसंद करके अपने संरक्षण में ले लिया है।

इसी ज़माने में यहां शेख अब्दुर्रहीम ने लक्ष्मण टीले के पास एक दूसरी बुलंदी पर एक छोटा क़िला बनावया जो आसपास की गढ़ियों में से ज़्यादा मजबूत था और वहां के लोगों पर उसका बड़ा असर पड़ता था या तो इसलिए कि शेख अब्दुर्रहीम को शाही दरबार से 'इल्मे-माही मरातिब' (मत्स्य ज्ञान विशारद) की उपाधि प्राप्त हुई थी या इसलिए कि इस क़िले के एक मकान में छब्बीस मेहराबें थीं और हर मेहराब पर शिल्पी ने दो-दो मछलियां बनाकर बावन मछलियां बना दी थीं। इस क़िले का नाम 'मच्छी भवन' मशहूर हो गया। 'भवन' शब्द या तो क़िले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है या 'बावन' से बिगड़ कर बन गया है। जिस शिल्पी ने इस क़िले को बनाया वह लखना नामक एक अहीर था और कहते हैं कि उसी के नाम से शहर का नाम लखनऊ हो गया। कुछ लोगों का ख्याल है कि लक्ष्मणपुर ही बिगड़कर लखनऊ बन गया है। इनमें से जो बात हो मगर इस आबादी ने यह नाम शेख अब्दुर्रहीम के आने के बाद पाया।

चंद रोज़ बाद अब्दुर्रहीम के खानदानवालों यानी शेखज़ादों के अलावा यहां पठानों का एक गिरोह आ गया जो दक्षिण की ओर आ बसा और वे पठान रामनगर के पठान मशहूर हुए। उन्होंने अपनी जमींदारी की हद उस जगह तक क़रार दी थी जहां अब 'गोल दरवाजा' स्थित है। क्योंकि वहां से नदी की तरफ बढ़िए तो शेखज़ादों की ज़मीन शुरू होती थी। इन पठानों के बाद शेखों का एक नया गिरोह आकर पूरब की तरफ बस गया जो 'शुयूख-नबहरा' कहलाते हैं। उन लोगों की ज़मीन वहां पर थी जहां अब रेज़िडेंसी के खंडहर पड़े हैं।

इन तीनों गिरोहों का अपने-अपने इलाक़ों पर क़ब्ज़ा था और वे अपने-अपने हल्क़ों के शासक थे लेकिन शेखज़ादों का असर सब पर हावी था और

आसपास के लोगों पर उनका दबाव पड़ता था जिसका कारण यह था कि इन लोगों का दिल्ली के दरबार से संबंध था, उनमें से कई व्यक्ति पूरे अवध प्रांत के सूबेदार मुक़र्रर हो गये थे। और उनके क़िले मच्छी भवन की मज़बूती की इतनी शोहरत थी कि जनता की ज़बान पर था, 'जिसका मच्छी भवन उसका लखनऊ'।

अकबर ही के ज़माने में लखनऊ तरक़्क़ी करने लगा था और उसकी आबादी बढ़ती और फैलती जाती थी। यह सही है कि अवध के सूबेदार उन्हीं शेखज़ादों में चुने गये लेकिन आम रिवाज यह था कि इस काम पर दिल्ली के प्रतिष्ठित व्यक्ति ही नियुक्त होते जो सालों-साल अपने घर बैठे रहते। सिर्फ मालगुज़ारी आदि की वसूली के ज़माने में एक दौरा-सा करते और उनके सहायक यहां रहा करते। लिहाज़ा उनसे शहर की तरक़्क़ी की कोई उम्मीद न की जा सकती थी। हां, यहां के दो-एक शेखज़ादे जो सूबेदार मुक़र्रर हो गये तो उनकी नियुक्ति से अलबत्ता लखनऊ को फ़ायदा पहुंचा।

लेकिन मालूम होता है कि अकबर का लखनऊ की तरफ़ खास ध्यान था। चुनांचे उसने वहां के ब्राह्मणों को वाजपेय यज्ञ के लिए एक लाख रुपये दिये थे और उसी वक्त से लखनऊ के वाजपेयी ब्राह्मण मशहूर हुए। इसी से पता चलता है कि प्राचीनतम हिंदू मुहल्ले जो अकबर के समय में मौजूद थे वे वाज-पेयी टोला, कटारी टोला, सोंधी टोला, बाजारी टोला और अहीरी टोला हैं और ये सब चौक ही के आसपास हैं।

मिर्ज़ा सलीम ने जो तख़्त पर बैठकर नूरउद्दीन जहांगीर के नाम से मशहूर हुए, बाप की ज़िंदगी और अपने युवराजत्व काल में मिर्ज़ा मंडी की बुनियाद डाली जो मच्छी भवन से पश्चिम की ओर स्थित है। अकबर के समय में यहां के सूबेदार जवाहर खां थे। वह तो दिल्ली में रहते मगर उनके नायब क़ाज़ी महमूद बिलग्रामी ने चौक के दक्षिण में उससे मिले हुए दाहिनी तरफ़ महमूद नगर और बायीं तरफ़ शाहगंज आबाद किये और उनके और चौक के दरम्यान में बादशाह के नाम से अकबरी दरवाज़ा बनवाया।

अकबर के शासन-काल में जबकि ये इमारतें बन रही थीं और ये मुहल्ले आबाद हो रहे थे लखनऊ एक अच्छी मंडी बन गया था और तरक़्क़ी के इस दर्जे को पहुंचा हुआ था कि एक फ्रांसीसी व्यापारी ने, जो घोड़ों का व्यापार करता था, यहां रहकर मुनाफ़ा कमाने की कोशिश की और शाही दरबार से

लखनऊ में रहने की सनदे मुस्तामिनी[1] हासिल करके यहां अपना मुस्तक़्बल क़ायम किया और पहले ही साल में इतना फ़ला-फूला कि चौक के पास चार आलीशान मकान बनवा लिये। साल खत्म होने पर जब उसने मुस्तामिनी के परवाने का नवीकरण कराना चाहा तो उसे ज़्यादा रहने की इजाज़त न मिली। इस पर भी उसने ज़बरदस्ती ठहरने का इरादा किया तो शहंशाह के हुक्म के अनुसार शहर के अधिकारियों ने उसके मकान ज़ब्त करके सरकार के सुपुर्द कर दिये और उसे वहां से निकाल दिया। वे चारों मकान मुद्दत तक सरकार के कब्ज़े में रहे यहां तक कि शहंशाह औरंगज़ेब आलमगीर के शासन-काल में जब मुल्ला निज़ामउद्दीन सिहालवी ने अपने क़स्बे के उपद्रवों से तंग आकर लखनऊ में जा बसने का निश्चय किया तो सरकार की ओर से उपहारस्वरूप वे चारों मकान उन्हें दे दिये गये और उन्होंने अपने पूरे परिवार के साथ आकर उन मकानों में निवास किया जो अपने इर्द-गिर्द के बहुत से मकानों के साथ आज तक 'फ़िरंगी महल' कहलाते हैं। मुल्ला साहब के शुभागमन का यह सुखद परिणाम निकला कि लखनऊ ज्ञान-विज्ञान का केंद्र और विद्यार्थियों का शरणस्थल बन गया और इस ज्ञानपीठ की ऐसी प्रगति हुई कि मुल्ला निज़ाम-उद्दीन का तैयार किया हुआ पाठ्यक्रम, जो 'सिलसिला-ए-निज़ामिया' कहलाता है, एक मुद्दत से हिंदुस्तान ही का नहीं सारे एशिया का पाठ्यक्रम है और इसमें ज्ञान-संबंधी विशेषताओं के साथ कुछ बरकतें भी शामिल समझी जाती हैं और इससे बड़ी आसानी से यह अंदाज़ा किया जा सकता है कि उस ज़माने में कहां-कहां और कितनी-कितनी दूर के विद्यार्थी लखनऊ में जमा रहते होंगे।

योरुपीय पर्यटक लैकेट जो 1631 ई० यानी शाहजहां बादशाह के शासन-काल के आरंभ में हिंदुस्तान की सैर कर रहा था, लखनऊ के बारे में लिखता है, 'यह शानदार मंडी है। शाहजहां के समय यहां के सूबेदार सुल्तान अली शाह कुली खां थे। उनके दो बेटे थे मिर्ज़ा फ़ाज़िल और मिर्ज़ा मंसूर। इन्हीं

---

[1]मुस्तामिन का अर्थ है शांति चाहनेवाला। यूरोपवालों को चूंकि मुसलमानों और हिंदुओं में अपने लिए खतरा नज़र आया करता था इसलिए जहां ठहरना चाहते वहां के लिए दिल्ली-दरबार से मुस्तामिनी की सनद हासिल कर लिया करते थे ताकि अधिकारी और जनता उन्हें न सताएं। इस सनद से चूंकि सल्तनत पर जिम्मेदारियां आ जाती है इसलिए एक साल से ज़्यादा की सनद कम ही दी जाती थी।

दोनों के नाम से उन्होंने महमूदनगर से दक्षिण की तरफ़ आगे बढ़कर दो नये क़स्बे फ़ाज़िलनगर और मंसूरनगर आबाद किये।

उस ज़माने में यहां अशरफ़ अली खां नामक एक रिसालदार थे। उन्होंने इसी सिलसिले में अशरफ़ाबाद बसाया और उनके भाई मुशर्रफ़ अली खां ने नाले के दूसरी तरफ अपना घर बनाकर मुशर्रफ़ाबाद नामक एक और मुहल्ला क़ायम किया जिसका नाम घिस-घिसकर अब नौबस्ता हो गया है। उन्हीं दिनों पीर खां नामक एक और फ़ौजी अफ़सर थे जिन्होंने इन सब मुहल्लों से पश्चिम की ओर दूर जाकर अपनी गढ़ी बनाई जो जगह आज तक 'पीर खां की गढ़ी' कहलाती है।

शहंशाह औरंगजेब आलमगीर ने किसी ज़रूरत से अयोध्या की यात्रा की थी। वापसी पर लखनऊ में ठहरता हुआ दिल्ली गया। इस मौके पर उसने शाह पीर मुहम्मद के टीलेवाली मस्जिद बनवाई जो खास लक्ष्मण टीले पर होने की वजह से इतनी ऊंचाई पर स्थित है जिससे ज़्यादा मुनासिब जगह मस्जिद के लिए लखनऊ में नहीं हो सकती और शायद इसी मौक़े पर उसने फ़िरंगी महल के मकान तत्कालीन विद्वान मुल्ला निज़ामउद्दीन को उपहार के रूप में दे दिये होंगे।

मुहम्मद शाह रंगीले के ज़माने में लखनऊ का सूबेदार गिरधा नांगा नामक एक बहादुर हिंदू रिसालदार था। उसका चचा छबीले राम दिल्ली की तरफ से इलाहाबाद का शासक नियुक्त हुआ था। छबीले राम के मरने पर गिरधा नांगा ने विद्रोह कर दिया और यह इरादा किया कि चचा की जगह ज़बरदस्ती इलाहाबाद का शासक बन जाये। मगर फिर खुद ही कुछ सोचकर उसने अपनी वफ़ादारी और आज्ञाकारिता प्रकट की और दरबार से उसे अवध की सूबेदारी का खिलअत[1] दिया गया। वह यहीं रहने लगा और उसकी बीवी ने जो रानी कहलाती थी रानी कटरा आबाद किया।

मगर यहां का हाकिम और सूबेदार चाहे कोई हो शेखज़ादों का ऐसा जोर था कि किसी शासक को चाहे कैसा ही ज़बरदस्त हो और सरकार की ओर से चाहे कैसी ही सनद लेकर आया हो यह साहस न हो सकता था कि उनके हल्के में क़दम रखे। मच्छी भवन को हालांकि अमीरों के महल की हैसियत हासिल थी लेकिन शेखज़ादों ने उसे अपनी मौरूसी जायदाद बना लिया

[1]बादशाह की ओर से सम्मानार्थ दिये गये वस्त्र।

था और दिल्ली से जो भी अधिकारी आता उसके पास फटकने न पाता। उन्होंने मच्छी भवन के पास दो और इमारतें बना ली थीं जिनमें से एक का नाम 'मुबारक महल' था और दूसरी का नाम 'पंच महला' था। पंच महले के बारे में कोई कहता है कि पांच मंज़िला इमारत थी और कोई कहता है कि एक दूसरे के पास पांच महल बने हुए थे और उनके दक्षिण में एक बड़ा मेहराबदार फाटक था जो 'शेखन दरवाज़ा' कहलाता था। शहर से जो लोग शेखज़ादों की इन इमारतों में जाना चाहते उसी फाटक में से होकर गुज़रते थे।

इस फाटक के मेहराब में बांके शेख़ज़ादों ने एक नंगी तलवार लटका रखी थी और हुक्म था कि जो कोई यहां आना चाहे कोई हो और कितना ही बड़ा शख़्श हो पहले उस तलवार को झुककर सलाम करे, फिर आगे क़दम बढ़ाए। किसी की मजाल थी कि इस हुक्म की तामील में संकोच करे? यहां तक कि जो शासक दिल्ली से नियुक्त होकर आते थे और शेखों से मिलने जाते तो उन्हें भी ज़बरदस्ती उस तलवार के आगे ज़रूर सिर झुका देना पड़ता था।

लखनऊ की यह हालत थी कि 1732 ई० में नवाब सआदत ख़ां बुरहान-उल-मुल्क दिल्ली दरबार से अवध के सूबेदार नियुक्त होकर आये जिनसे हिंदुस्तान के इस आख़िरी पूर्वी दरबार की बुनियाद पड़ी जिसके उत्कर्ष को हम पूर्वी संस्कृति का अंतिम नमूना मानकर चलना चाहते हैं। पहले हमने फ़ैज़ाबाद का वर्णन किया जो इसी संस्कृति का पहला चिह्न और इसी पूर्वी लखनवी दरबार का एक परिशिष्ट था। इस अंक में इस दरबार के क़ायम होने से पहले के लखनऊ का चित्रण किया और आगे कुछ अंकों में हम उस नैशापुरी परिवार के शासन का इतिहास प्रस्तुत करेंगे और उसके बाद दिखायेंगे कि वह संस्कृति क्या और कैसी थी।

## [3]

नवाब बुरहान-उल-मुल्क छह बरस ही अवध और लखनऊ में रहने पाये थे कि 1735 ई० में नादिरशाह ने हिंदुस्तान पर हमला कर दिया और वे बड़े आग्रह के साथ दिल्ली बुलाये गये। उस उपद्रवकारी युग में जो घटनाएं घटीं उनका लखनऊ से कोई संबंध नहीं। लखनऊ में अपना सहायक और प्रति-

निधि बनाकर वे अपने भानजे और दामाद सफदरजंग को छोड़ गये थे। नादिर दिल्ली को लूट चुका था और क़त्ले आम करा चुका था मगर अभी वहीं था कि नवाब बुरहान-उल-मुल्क का दिल्ली में निधन हो गया। उनके भतीजे शेरजंग ने नादिरशाह से सिफ़ारिश उठवाई कि नवाब के बाद अवध की सूबेदारी उन्हें दी जाये लेकिन राजा लक्ष्मी नारायण ने जो बुरहान-उल-मुल्क के विश्वासपात्र ओहदेदारों में था, नादिर की सेवा में इस आशय का एक प्रार्थनापत्र भेजा कि, 'नवाब बुरहान-उल-मुल्क शेरजंग से खुश न थे और इसीलिए उन्होंने अपनी बेटी उनको छोड़कर सफदरजंग को दी। वे उनका प्रतिनिधित्व करते थे और इस वक़्त भी उनकी तरफ से वहां मौजुद हैं। बुरहान-उल-मुल्क के मालअसबाब की मालिक सरकार है जिसे चाहे दे, इसलिए कि यह कोई विरसा नहीं है। यह भी निवेदन है कि सफ़दरजंग गंभीर स्वभाव, ईश्वरभक्त, योग्य और वायदे के सच्चे हैं और फ़ौज उनसे खुश है। इसके अलावा हुजूर के लिए बुरहान-उल-मुल्क ने दो करोड़ रुपये की रक़म का वायदा किया था उसके अदा करने का इंतिज़ाम सफ़दजंग ने कर लिया है। जिस समय हुक्म हो हाज़िर किये जायें। इन्हीं बातों के कारण आशा है कि हुज़ूर उन्हीं की सिफ़ारिश करेंगे।'

यह आवेदन देखते ही नादिरशाह ने सफ़दरजंग के लिए मुहम्मद शाह से ख़ुद ही सूबेदार का ख़िलअत ले लिया और अपने एक मुसाहिब और सौ सवारों के साथ अवध में सफ़दरजंग के पास भेजे। यों सूबेदारी का ख़िलअत पहनकर सफ़दरजंग ने वह दो करोड़ का नज़राना नादिर के पास भिजवा दिया और अपने इलाक़े पर हुकूमत करने लगे।

सफ़दरजंग का पूरा नाम मिर्ज़ा मक़ीम अबुलमंसूर ख़ां सफ़दरजंग था। गो इनमें बुरहान-उल-मुल्क की-सी सच्ची बहादुरी, सादगी, ईमानदारी और उद्यमशीलता न थी मगर वे बहुत ही दानवीर, साहसी, दयालु, प्रजा का ध्यान रखने वाले और अच्छे शासक थे। शहर से तीन मील की दूरी पर उन्होंने जलालाबाद का क़िला बनवाया और मच्छी भवन के अंदर पंच महल की जो पुरानी इमारत थी उसे भी शेखज़ादों से ले लिया और उसके एवज में दो गांवों में 700 एकड़ ज़मीन शेखज़ादों को रहने और बसने के लिए प्रदान की जिससे हालांकि शेखज़ादों पर जुल्म हुआ मगर लखनऊ की आबादी की तरक्क़ी हुई और उसका विस्तार भी। मच्छी भवन को सफ़दरजंग ने दुबारा बनवाया

और उसे बेहतर कर लिया ।

लेकिन सफ़दरजंग पांच ही बरस अपने सूबे में रहने पाये थे कि दिल्ली से उनका बुलावा आया और राजा नवल राय को अपना प्रतिनिधि बनाकर लखनऊ में छोड़कर वे दिल्ली चले गये । नवल राय विद्याप्रेमी, समय का पाबंद, मेहनती, बहादुर और बहुत बड़ा शासक था । इसके साथ उसे खुदा ने अपने मालिक का-सा उत्साह और दानशीलता भी दी थी । उसने इरादा किया कि मच्छी भवन के सामने नदी पर एक पुल बनवाए । पायों की बुनियाद डालने के लिए गहरे कुएं खुदवाए लेकिन पाये बनना शुरू नहीं हुए थे कि अपने मालिक के बुलाने पर उसे एहमद खां बंगश के मुक़ाबिले के लिए जाना पड़ा । इस अभियान में वह बड़ी ज़बरदस्त फ़ौज लेकर गया मगर मारा गया और पुल का काम जो छिड़ा था अधूरा रह गया ।

एहमद खां बंगश उस ज़माने का बड़ा पराक्रमी व्यक्ति था उसके मुक़ाबिले के लिए बुरहान-उल-मुल्क की ज़रूरत थी । सफ़दरजंग उसके प्रतिद्वन्द्वी न हो सकते थे । नतीजा यह हुआ कि एहमद खां की और उसके साथ अफ़ग़ानों की ताक़त बढ़ती गयी । सफ़दरजंग ने लाख हाथ-पांव मारे, खुद दिल्ली के शहंशाह को उसके मुक़ाबिले पर लाकर खड़ा कर दिया, मगर उसका कुछ बिगाड़ न सके और उसके इशारे से हाफ़िज़ रहमत खां ने अवध के शहरों और क़स्बों में लूट-मार शुरू कर दी । ख़ैराबाद पर क़ब्ज़ा कर लिया और खुद एहमद खां बंगश का बेटा महमूद खां फ़ौज लेकर चला कि लखनऊ पर कब्ज़ा कर ले ।

1750 ई० में पठानों ने मलीहाबाद में अपना थाना क़ायम किया और 1751 ई० में महमूद खां का कोई रिश्तेदार बीस हज़ार फ़ौज लेकर लखनऊ की तरफ चला । शहर के बाहर पड़ाव डाला और अपना एक कोतवाल मुक़र्रर करके शहर में भेजा लेकिन सफ़दरजंग के आदमियों से शहर खाली था । जो चंद थे भी पठानों के आने की खबर सुनकर भाग खड़े हुए और पठानों के कोतवाल ने शहर में आकर भ्रष्टाचार फैलाना शुरू कर दिया ।

उन दिनों लखनऊ के शेखज़ादों में सबसे ज़्यादा प्रतिष्ठित और सम्मानित शेख मुइज़्ज़उद्दीन थे । वे अफ़ग़ानों के सरदार से शहर के बाहर जाकर मिले । उसी वक़्त किसी ने उससे जाकर शिकायत की कि शहरवाले आपके कोतवाल का अपमान करते हैं और कोई उसका हुक्म नहीं मानता । शेख मुइज़्ज़उद्दीन

बोले, 'क्या मजाल है कि कोई ऐसी गुस्ताखी करे। मैं जाता हूं उपद्रवियों को दंड दूंगा।' यह कह कर वापस आये और सारे भाई-बंदों को बुलाकर कहा, 'पठानों की कथनी-करनी का एतबार नहीं। बेहतर यह है कि हम नवाब सफ़-दरजंग का साथ दें और मुक़ाबिला करके पठानों को यहां से निकाल दें।' उसके बाद शेख़ मुइज़्ज़उद्दीन ने घर का ज़ेवर बेचकर फ़ौज जमा की और सारे शेखज़ादों को लेकर कोतवाल पर हमला किया। वह अपनी जान लेकर भागा और शेख साहब ने किसी मुग़ल को दरबारी लिबास पहनाकर अपने मकान में बिठा दिया और मनादी करा दी कि सफ़दरजंग ने अपनी तरफ से इस मुग़ल को कोतवाल बनाकर भेजा है उसके साथ ही अली के नाम का एक हरा झंडा खड़ा किया और लोग उसके नीचे आ-आकर जमा होने लगे।

यह ख़बर सुनकर पठानों ने हमला कर दिया। शेख़ज़ादों ने जान तोड़कर मुक़ाबिला किया और अपनी पुरानी बहादुरी दिखा दी। पठान उस मुक़ाबिले को बर्दाश्त न कर सके। पंद्रह हज़ार फ़ौज के साथ भागे और मौक़ा पाकर शेख़ज़ादों ने पठानों को सारे अवध प्रांत से निकाल बाहर किया।

दो साल बाद जब एहमद खां बंगश से सुलह हो गयी तो 1753 ई० में नवाब सफ़दरजंग फिर लखनऊ आये और मेहदी घाट पर आकर ठहरे। एक ख़ास मकान अपने रहने के लिए बनवाया और सजाया और फ़ौज के सुधार में व्यस्त हो गये लेकिन उसकी मोहलत न मिली। उसी साल सुल्तानपुर के क़रीब पापड़घाट में पड़ाव था कि उनका निधन हो गया। लाश पहले फ़ैज़ा-बाद की गुलाब बाड़ी में ले जाकर दफ्न की गयी, फिर थोड़े दिनों बाद हड्डियां दिल्ली में ले जाकर दफ्न की गयी जिन पर बहुत ही शानदार मक़बिरा मौजूद है। संसार के पर्यटक उसे आज तक आदर की दृष्टि से देखते हैं।

## [4]

सफ़दरजंग मंसूर अली खां के देहांत के बाद 1753 ई० में उनके बेटे नवाब शुजाउद्दौला गद्दी नशीन हुए जिनके कुछ हालात इस लेख के पहले हिस्से में दिये जा चुके है। वे एक धीरोद्धत, चंचल स्वभाव लेकिन साहसी शासक थे। लेकिन दुर्भाग्य से उनके शासन-काल म बड़े-बड़े उपद्रव और झगड़े

फ़िसाद हुए। दुनिया की दो ज़बरदस्त ऐतिहासिक जातियों और शक्तियों के भाग्य का निर्णय उन्हीं की आंखों के सामने हुआ। पहले पानीपत की भयानक लड़ाई हुई जिसमें एहमद शाह दुर्रानी, शुजाउद्दौला और नजीबउद्दौला के साथ रुहेलखंड के पठानों की तमाम ज़बरदस्त फ़ौजें एक तरफ थीं और मराठों का टिड्डी दल दूसरी तरफ। उसके बाद बक्सर में घमासान युद्ध हुआ जिसमें अंग्रेजों की बाक़ायदा फ़ौज एक तरफ थी और शुजाउद्दौला का भारी लश्कर दूसरी तरफ। इस लड़ाई ने पानीपत की लड़ाई के चार साल बाद 1763 ई० में चौबीस घंटे के अंदर इस बात का फ़ैसला कर दिया कि हिंदुस्तान अब मुसलमानों का नहीं अंग्रेजों का है।

इन लड़ाइयों से पहले शुजाउद्दौला हालांकि लखनऊ ही में रहे मगर बड़े-बड़े अभियानों, राजनीतिक व्यस्तताओं और सैनिक हथियारों से उन्हें इतनी मोहलत ही न मिली कि शहर की तरक़्क़ी और सजावट की तरफ ध्यान दें। उन्होंने क़िले बनवाए, गढ़ियां क़ायम कीं, फ़ौजी सामान और लड़ाई के हथियार जुटाए, इसकी फुर्सत न मिली कि अपने घर को दुरुस्त और अपने शहर को सजाएं। बक्सर की लड़ाई के बाद जैसा कि हम कह चुके हैं वे फ़ैज़ाबाद में जाकर बस गये इसलिए लखनऊ उनकी कृपा से वंचित रह गया। 1775 में उनकी मृत्यु हुई और नवाब आसफ़उद्दौला उनके उत्तराधिकारी बने।

आसफ़उद्दौला ने राजसिंहासन पर बैठते ही मां से नाराज़ होकर लखनऊ की राह ली और यही वह ज़माना है जब से अवध के दरबार की शासन-शक्ति घटने और लखनऊ की बाहरी रौनक बढ़ने लगी। बक्सर का मैदान जीतने के बाद अंग्रेजों ने अवध के दरबार में हस्तक्षेप के बहुत से अधिकार प्राप्त कर लिये थे जिनके कारण यहां फ़ौजी तरक़्क़ियों की रोक-टोक की जाती और हमेशा बड़ी ग़ौर से इस बात की निगरानी की जाती कि अवध की हुकूमत को फिर ऐसी ताक़त न मिल पाये कि उसकी फ़ौजें दुबारा अंग्रेज लश्कर के सामने खड़ी हो सकें। फिर भी शुजाउद्दौला जब तक फ़ैज़ाबाद में ज़िंदा रहे सेना के सुधार में ही व्यस्त रहे और रात-दिन इसी बात की धुन थी कि जिस तरह बने अपनी शक्ति को बढ़ाएं। चुनांचे मुंशी फ़ैज़ बख़्श अपने इतिहास 'तारीख़-ए-फ़रहबख़्श' में इस ज़माने का आंखों देखा हाल बयान करते हैं, 'जल्दी भरने और फायर करने की दृष्टि से शुजाउद्दौला की फ़ौज की बंदूकों के मुकाबिले में अंग्रेज फ़ौज की बंदूकें कोई महत्व न रखती थीं।'

लेकिन आसफ़उद्दौला का युग शुरू होते ही ये सब बातें जाती रहीं। अंग्रेज़ों ने बड़ी होशियारी के साथ अपने हस्तक्षेप के अधिकार बढ़ाने शुरू कर दिये और बहुत ही चालाकी से आसफ़उद्दौला को इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि सैनिक सुधार की ओर से बिल्कुल निश्चित होकर दूसरे कार्य-कलाप में दिल बहलाएं। आसफ़उद्दौला को खुद भी फ़ौज का ज़्यादा शौक़ न था। उन्हें लुटाने और मज़े उड़ाने के लिए रुपये की ज़रूरत थी जो फ़ौज को समाप्त किये बिना पूरी न हो सकती थी। इसलिए उन्होंने थोड़ी-सी फ़ौज रख ली, बाक़ी सबको नौकरी से हटा दिया और ऐश-इशरत में ग़र्क हो गये। वे अपने अपदस्थ मित्रों के आज्ञाकारी मित्र थे जो उनके इशारों पर चलते और उनके मशविरों के आगे किसी की न सुनते।

इस निष्ठा और स्नेह के बदले में अंग्रेजों ने रूहेलखंड पर उनका क़ब्ज़ा करा दिया। अपनी मां बहू बेगम साहबा के सताने और लूटने के लिए जब उन्होंने अंग्रेजों से मदद मांगी तो बड़ी उदारता के साथ उन्हें नैतिक सहायता दी गयी और उनका समर्थन किया गया। लेकिन इस पर भी उनके ज़माने तक उन्हें या लखनऊ की रिआया को बहुत ही कम महसूस हो सका कि हमारे शासन प्रबंध में किसी बाहरी शक्ति का हाथ है जिसका अधिकतर कारण यह था कि आसफ़उद्दौला की सामान्य उदारता और विलासिता ने सारी प्रजा को भी वैसा ही विलासी बना दिया था और किसी को अपने ऐश-आराम के आगे इस पर ध्यान देने की ज़रूरत महसूस न होती थी कि आखिर इसका नतीजा क्या निकलेगा।

इसी विलासिता का नतीजा था कि ज़ाहिरी तौर पर उन दिनों लखनऊ के दरबार में ऐसी शान-शौकत पैदा हो गयी जो कहीं और किसी दरबार में न थी। और भोग-विलास की ऐसी सामग्री जुटायी गयी जो अन्यत्र नहीं दिखाई देती थी। उन दिनों लखनऊ शहर की ऐसी रौनक़ थी कि हिंदुस्तान ही नहीं शायद दुनिया का कोई शहर लखनऊ के उत्कर्ष और उन्नति के सामने नहीं टिक सकता होगा। शुजाउद्दौला जो रुपया फ़ौज और लड़ाई की तैयारियों पर खर्च करते थे उसे आसफ़उद्दौला ने अपनी विलासिता की पूर्ति और नगर की सजावट तथा संपन्नता में खर्च करना शुरू कर दिया और कुछ ही दिन के अंदर सारी दुनिया की धूम-धाम अपने यहां जमा कर ली। उनका हौसला बस यही था कि निज़ाम हैदराबाद हों या टीपू सुल्तान, किसी दरबार का

दबदबा और किसी की शान-शौकत मेरे दरबार से ज़्यादा न हो सके।

अपने बेटे वज़ीर अली की शादी में उन्होंने ऐसा हौसला दिखाया कि बरात का ठाठ-बाट इतिहास में और कहीं न देखा गया होगा। बरात के जुलूस में बारह सौ हाथी थे, दुलहा जो शाही ख़िलअत पहने था उसमें बीस लाख के जवाहिरात टंके हुए थे। नृत्य-गान की सभा के लिए दो बड़े ही शानदार और सुसज्जित शिविर बनवाये गये जिसमें हरेक 60 फुट चौड़ा, 1200 फुट लंबा और 60 फुट ऊंचा था। और उनमें ऐसा बढ़िया सुंदर और कीमती कपड़ा लगाया गया था कि उन दोनों की तैयारी में सल्तनत के दस लाख रुपये खर्च हो गये।

उन्होंने नदी किनारे मच्छी भवन के पश्चिम में दौलतख़ाना, रूमी दरवाज़ा और अपना अनुपम इमामबाड़ा बनवाया। 1784 में अवध में अकाल पड़ गया था और शहर के शरीफ़ लोग तक भूखों मर रहे थे। उस नाज़ुक मौक़े पर प्रजा की सहायता के लिए इमामबाड़े की इमारत छोड़ दी गयी। चूंकि शरीफ़ लोग दिन को मज़दूरी करने में अपनी बेइज़्ज़ती समझते थे इसलिए इमारत का काम दिन की तरह रात को भी जारी रहता और शहर के ग़रीब और फ़ाक़ाकश लोग रात के अंधेरे में आकर मज़दूरों में शरीक हो जाते और मशालों की रोशनी में काम करते। इस इमारत को नवाब ने जिस निष्ठा, भक्ति और धार्मिक उत्साह के साथ बनवाया था वैसे ही शुद्ध और सच्चे उत्साह से लोगों ने बनाया भी। नतीजा यह हुआ कि ऐसी सुंदर और शानदार इमारत बनकर तैयार हो गयी जो अपनी क़िस्म की बेमिसाल और अद्भुत है। उसका नक़्शा बनाने के लिए बड़े-बड़े मशहूर भूमितिविज्ञ और शिल्पी बुलाये गये और सबने कोशिश की कि हमारा नक़्शा दूसरों के प्रस्तावित नक़्शे से बढ़ जाये। मगर किफ़ायत उल्लाह नामक एक बेमिसाल शिल्पी का नक़्शा पसंद किया गया और उसी के अनुसार इमारत बनना शुरू हो गयी जो 167 फुट लंबी 53 फुट चौड़ी है। ईंट और बहुत ही बढ़िया क़िस्म के चूने से यह इमारत बनायी गयी जिसमें फ़र्श से छत तक लकड़ी का नाम नहीं। इस इमारत का मुग़ल बादशाहों की पत्थर की इमारतों से कोई संबंध नहीं है क्योंकि लखनऊ में इतना ज़्यादा संगमरमर नहीं मिल सकता था। लेकिन इमामबाड़े और आसफ़-उद्दौला की दूसरी इमारतों को देखिए तो वे एक नयी सुंदरता और शान रखती हैं। इमामबाड़े के लदाव की छत जो कड़ा देकर बनायी गयी है इतनी बड़ी

है कि इतनी बड़ी लदाव की छत सारी दुनिया में कहीं नहीं है और इस वजह से इसकी भी दुनिया की आश्चर्यजनक कारीगरी में गिनती की जाती है।

आसफ़उद्दौला की इमारतों पर योरुप की इमारतों का ज़रा भी असर न था। वे अपनी क़िस्म की ख़ालिस एशियाई इमारतें हैं जिनमें दिखावटी नहीं असली और सच्ची शान-शौकत पायी जाती है। नवाब आसफ़उद्दौला के बाद इन इमारतों की किसी ने देखभाल नहीं की। ग़दर के बाद अंग्रेजों ने उन पर क़ब्ज़ा करके आसपास के मकानों को हटा दिया और सिवाय उस ओर के जिधर नदी है, बाकी तीनों ओर मैदान करके इमामबाड़े को क़िला और रूमी दरवाज़े को उसका फाटक बना लिया। उस ज़माने में इमामबाड़े में गोरे रहते थे, उसके बड़े हाल में अस्त्रागार था और उसके फ़र्श पर बड़ी-बड़ी तोपें दौड़ती फिरती थीं। मगर न कभी ज़मीन खुदी, न दरो-दीवार की कोई चीप उखड़ी। अब अंग्रेज़ सरकार ने इमामबाड़े को छोड़कर फिर मुसलमानों के हवाले कर दिया है। उसकी मस्जिद में एक मुज्तहिद साहब नवाज़ पढ़ाते हैं और इमामबाड़े में ताज़ियादारी होती है।

नवाब आसफ़उद्दौला की इमारतों की मज़बूती का अंदाज़ा इससे हो सकता है कि उन्हें बने हुए हालांकि सवा सौ बरस से ज्यादा की मुद्दत गुज़र गयी मगर आज तक उसी शान-शौकत और उसी मज़बूती और पायदारी से अपनी जगह क़ायम है। न कोई ईंट अपनी जगह से हटी है और न किसी जगह चूने ने ईंटों को छोड़ा है। इसके ख़िलाफ़ अवध के दूसरे बादशाहों ने करोड़ों रुपये खर्च करके जो इमारतें बाद में बनवायीं उनमें हमारी देशी रख-रखाव की झलक तो खैर है ही नहीं इसके अलावा वे बहुत कमज़ोर भी हैं। और अगर समय-समय पर उनकी मरम्मत न होती रहती तो आज तक कब की गिर चुकी होतीं।

आसफ़उद्दौला इमामबाड़े और मच्छी भवन के पास अपने महल 'दौलत-ख़ाना' में रहते थे। शहर के बाहर और दरिया पार जनसंकुलता से दूर और सांसारिक झगड़ों से अलग रह कर विलासिता में तल्लीन रहने के लिए बिबयापुर का महल बनवाया। अक्सर जब वे सैर-शिकार के लिए जाते तो इसी मकान में ठहरते। इसी तरह चनहट में एक स्वास्थ्यप्रद और आनंददायक मकान और 'चार बाग़' और 'ऐश बाग़' में कोशकें बनवाईं और उसी ज़माने में याहियागंज में और उसके पास अस्तबल बने। फिर मुहल्ला वज़ीरगंज

क़ायम हुआ जो आसफ़उद्दौला के बेटे वज़ीर अली खां का निवास होने के कारण उन्हीं के नाम से मशहूर और उन्हीं की यादगार है।

अब चूंकि लखनऊ में शासक और अधिकारी सभी स्थायी रूप से रहने लगे इसलिए आम जनता का रुख लखनऊ की तरफ फिर गया। जो लोग शुजा-उद्दौला के ज़माने में फ़ैज़ाबाद में बस गये थे उन्होंने फ़ैज़ाबाद को छोड़-छोड़कर लखनऊ में आकर बसना शुरू किया। दूसरी तरफ दिल्ली के लोग अपनी जन्म भूमि छोड़-छोड़कर सीधे लखनऊ आते थे और उन्हें फिर वापस जाना नसीब न होता था। जनता के इस बढ़ते हुए जमघट ने नये मुहल्ले आबाद करना शुरू कर दिये इसलिए कि बाहर के आनेवालों में से जिसे जहां जगह मिल जाती आबाद हो जाता और सैकड़ों नये मुहल्ले आबाद होते चले जाते।

चुनांचे अमानीगंज, फ़तेहगंज, रकाबगंज, नरवास, दौलतगंज, बेगमगंज, खानसामां का अहाता (जिसे नवाब आसफ़उद्दौला के एक निजी दरोग़ा ने आबाद किया और उद्घाटन-समारोह में खुद उन्हें बुलाया), टिकेटगंज, टिकेटराय का बाज़ार (जो प्रधान मंत्री महाराजा टिकेट राय के नाम पर है), तरमनीगंज, टिकरी या टिकली, हसीनउद्दीन खां की छावनी, हसनगंज बावली, भवानीगंज, बालकगंज, कश्मीरी मुहल्ला, सूरत सिहं का अहाता, नवाज़गंज, तहसीनगंज, खुदागंज, नगरिया (जिसकी नवाब आसफ़उद्दौला की मां बहू बेगम साहिबा ने उसी दिन बुनियाद डाली जिस दिन दरिया पार खुद उन्होंने अलीगंज की बुनियाद रखी थी), अंबरगंज, महबूबगंज, तोप दरवाजा, खयालीगंज, झाऊलाल का पुल (इन दोनों मुहल्लों के संस्थापक राजा झाऊमल अवध राज्य के वित्त मंत्री थे) ये सब वे मुहल्ले हैं जो आस[illegible]द्दौला के शासन-काल में बसे और बने और उन्हीं दिनों दरिया के पार हसन रज़ा खां ने हसनगंज बसाया।

नवाब आसफ़उद्दौला की दरियादिली की सभी में शोहरत थी और दूर-दूर के शहरों में उनकी दानशीलता की चर्चा होती थी। लोग उठते-बैठते इज़्ज़त और मुहब्बत के साथ उनका नाम लेते और उनके सारे वैयक्तिक अव-गुण उनकी दानवीरता के आवरण में छिपकर नज़रों से ओझल हो गये थे। जनता को नवाब की सूरत में एक विलासी शासक नहीं बल्कि एक निस्वार्थ और संत-स्वभाव वली दिखाई देता। हिंदू दुकानदार आज तक सुबह को आंख खुलते ही श्रद्धावश कहते हैं 'या आसफ़उद्दौला वली।'

इसी ज़माने में जनरल क्लाड मार्टिन नामक एक बहुत बड़ा धनवान

फ्रांसीसी व्यापारी जो लखनऊ में आकर रह पड़ा था उसने एक बहुत ही आलीशान कोठी का नक़्शा बनाकर नवाब आसफ़उद्दौला के हुज़ूर में पेश किया। नवाब को वह इतना पसंद आया कि उसकी क़ीमत में दस लाख अशरफ़ियां देने को तैयार हो गये। अभी बयनामे की कार्रवाई पूरी हो भी न पायी थी कि नवाब आसफ़उद्दौला का निधन हो गया और इमारत अभी पूरी भी न हो पायी थी कि ख़ुद मोस्यो मार्टिन दुनिया से कूच कर गये। उन्होंने चूंकि अपार धन छोड़ा था और वारिस कोई न था इसलिए मरते समय वसीयत कर दी कि मेरी लाश इसी कोठी के अंदर दफ्न की जाये ताकि मेरे बाद उसे अवध के शासक ज़ब्त न कर सकें। इस इमारत का नाम उन्होंने 'कांस्टैंशिया' रखा था मगर जनता में वह आजकल 'मारकीन साहब की कोठी' मशहूर है और दर्शनीय है। मरने के बाद वे इसी कोठी में दफ्न हुए। वह मदरसा आज तक जारी है जिससे बहुत से विद्यार्थियों को खाना और कपड़ा मिलता है। मगर सुनते है कि मार्टिन साहब ने इस स्कूल और इसकी छात्रवृत्तियों को किसी धर्म या जाति विशेष के लिए सीमित नहीं किया था बल्कि वसीयत की थी कि ईसाई, हिंदू, मुसलमान सभी समान रूप से इससे लाभ उठा सकते है। लेकिन अब यह स्कूल सिर्फ योरुपियन बच्चों के लिए सीमित है। किसी हिंदुस्तानी को वज़ीफ़ा मिलना तो दरकिनार वह वहां शिक्षा भी प्राप्त नहीं कर सकता। शायद यह इस वजह से हो कि ग़दर के ज़माने में जाहिल और जोशीले बलवाइयों ने क़ब्र खोद कर मि० मार्टिन की हड्डियां निकाल लीं और उन्हें इधर-उधर फेंक दिया। अंग्रेज़ों को उनके आधिपत्य के बाद एक हड्डी संयोगवश मिल गयी जो फिर उसी मिट्टी मे दबा दी गयी। लेकिन इन बलवाइयों के काम के ज़िम्मेदार आम हिंदुस्तानी नहीं हो सकते।

सन 1798 ई० में नवाब आसफ़उद्दौला का देहांत हुआ और उनकी जगह नवाब वज़ीर अली खा गद्दीनशीन हुए जिनकी शादी की धूमधाम का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। मगर चार ही महीने में ऐसे मूर्खतापूर्ण और घृणित काम कर बैठे कि अधिकतर लोग उनसे नाराज़ हो गये। खुद बहू बेगम साहबा उनके मुक़ाबिले में अपने सौतेले बेटे यामीनउद्दौला नवाब सआदतअली खां को ज़्यादा पसंद करती थीं। उधर यह ख़बर फैली कि वज़ीर अली खां आसफ़-उद्दौला के बेटे ही नहीं है क्योंकि आसफ़उद्दौला के बारे में बहुतों का ख़्याल था कि पैदाइशी नपुंसक थे।

नवाब सम्रादतम्रली खां म्रासफ़उद्दौला के विरोध के कारण उनके समय में मुद्दतों उनके राज्य से बाहर म्रौर दूर रहते थे। मुद्दतों कलकत्ते में रहे म्रौर एक लंबे म्रर्से तक बनारस में क़ायम रहे। जब वज़ीर म्रली खां के बारे में यह विचार क़ायम हो गया तो फिर सम्रादतम्रली खां पर दृष्टि गयी म्रौर वे बनारस से लाये गये म्रौर बिबयापुर की कोठी में खुद गवर्नर जनरल बहादुर ने दरबार करके वज़ीर म्रली खां को म्रपदस्थ म्रौर नवाब सम्रादतम्रली खां को गद्दी पर बैठाने का फ़ैसला किया। वज़ीर म्रली खां फौरन गिरफ़्तार करके बनारस भेज दिये गये जहां उन्होंने तैश में म्राकर मि० चरी को मार डाला म्रौर उसकी सज़ा में गिरफ़्तार करके चिनारगढ़ भेजे गये म्रौर वहीं मरे। उनकी मुसीबतों म्रौर परेशानियों का एक बड़ा भारी क़िस्सा मशहूर है जिसका वर्णन इस संक्षिप्त लेख में नहीं किया जा सकता।

[5]

नवाब सम्रादतम्रली खां ने सन् 1798 ई० में गद्दी पर बैठते ही म्राधा प्रान्त म्रंग्रेजों को भेंट कर दिया। मशहूर है कि वे राज्य मिलने की म्राशा छोड़कर बनारस में पड़े हुए थे कि ख़बर पहुंची नवाब म्रासफ़उद्दौला बहादुर की मृत्यु हो गयी म्रौर राजसिंहासन पर वज़ीर म्रली खां बैठ गये। यह सुनते ही राज्य पाने की रही-सही उम्मीदों पर भी पानी फिर गया। इसी निराशा की स्थिति में थे कि बनारस के किसी योरुपियन म्रधिकारी ने म्राकर पूछा, 'नवाब साहब, म्रगर म्रापको म्रवध की हुकूमत मिल जाये तो म्रंग्रेज़ सरकार को क्या दीजिएगा?' जो चीज़ हाथ से जा चुकी हो इंसान के दिल में उसकी क़द्र ही क्या हो सकती है? म्रनायास बोल उठे, 'म्राधा मुल्क म्रंग्रेजों की नज्र कर दूंगा'। यह वायदा सुनकर उस म्रंग्रेज म्रधिकारी ने कहा, 'तो म्राप खुश हों म्रौर मैं म्रापको खुशखबरी सुनाता हूं कि म्राप ही को लखनऊ का शासक चुना गया है।' सम्रादतम्रली खां म्रचानक यह खुशखबरी सुनकर खुश तो ज़रूर हुए मगर म्रपने वायदे का ख्याल म्राया तो एक सन्नाटे में म्रा गये म्रौर म्राख़िर गद्दी पर बैठने के बाद इस वायदे को पूरा करने में म्रपना म्राधा राज्य बांट देना पड़ा जिसका कांटा ज़िंदगी भर उनके दिल में खटकता रहा।

अंग्रेज़ी इतिहासों में उनसे वचन लिया जाने का तो जिक्र नहीं है मगर इसे सभी मानते हैं कि नवाब सग्रादतग्रली खां को चूंकि अंग्रेजों ने तख्त पर बिठाया था इसलिए उन्होंने अपना आधा राज्य आभारस्वरूप अंग्रेजों की भेंट कर दिया। बहरहाल कुछ भी हो सम्रादतग्रली खां की गद्दीनशीनी के वक्त अवध का राज्य आधा रह गया। लखनऊ के पुराने लोगों में मशहूर है कि इसी दुख में सग्रादतग्रली खां ने बहुत ही मितव्ययिता से काम लेकर और माल-गुज़ारी वसूल करने में बड़ी कुशलता और सूझबूझ ज़ाहिर करके बाईस-तेईस करोड़ रुपया जमा किया और इंग्लैंड में ब्रिटिश सरकार से पत्र-व्यवहार करके यह तय कर लिया था कि हिन्दुस्तान की हुकूमत का ठेका ईस्ट इंडिया कंपनी के बजाये उन्हें दे दिया जाये और क़रार की पूर्ति होने ही को थी कि उनके माले ने किसी साज़िश में शामिल होकर उन्हें ज़हर दे दिया और वही कहावत चरितार्थ हुई : न रहेगा बास और न बजेगी बांसरी।

और इसी प्रकार की अनेक घटनाएं मशहूर हैं जिनका सबूत सिवाय अफ़-वाहों के और कुछ नहीं मिल सकता। लेकिन इसमें शक नहीं कि सग्रादतग्रली खां इतने मितव्ययी और अच्छे शासक थे कि उन जैसे शासक ने अपने राज्य का कोई हिस्सा आसानी से न दिया होगा। दूसरे, उनके रवैये और नीति में एक ऐसी अस्थिरता और रहस्यमयी व्याकुलता दिखाई देती है कि चाहे पता न चले मगर साफ़ मालूम होता है कि वे कोई बड़ा काम करनेवाले थे और उनके तेवर बड़े सार्थक थे।

प्रांत को बांट देने की वजह से उन्हें सबसे बड़ी मुश्किल यह पेश आयी कि राज्य की आधी आमदनी घट गयी। और आसफ़उद्दौला ने खर्च हद से ज़्यादा बढ़ा रखे थे। चुनांचे उन्हें दरबार के खर्च घटाना पड़े जो अपने में बड़ा मुश्किल काम था। इस कोशिश में उन्होंने हिसाब की जांच की, छोटी-छोटी रक़मों पर नज़र डाली, माफ़ियों और जागीरों की बहुत ही सख्ती के साथ छानबीन की और दरबार के खर्च में, जहां तक बना, कमी की। गरज़ यह कि जिस तरह से हो सका बदनामियां उठाकर और लोगों पर सख्तियां करके उन्होंने सल्तनत की आमदनी बढ़ायी और खर्च घटाया।

ये कार्रवाइयां देखकर समझदार और इंसाफ़पसंद लोग तो सग्रादतग्रली खां की योग्यता और सूझबूझ के क़ायल हो गये मगर आम जनता में बड़ी सख्त नाराज़गी फैली। एक ओर तो उन माफ़ीदारों और जागीरदारों का गिरोह

शिकायत करता था जिनकी जायदादें ज़ब्त हुई थीं, दूसरी ओर वे फ़ालतू और पुराने नौकर रोते-फिरते थे जिनकी जगहें कम कर दी गयी थीं। इतना ही नहीं प्रांत में एक बड़ा भारी गिरोह उन लोगों का भी था जो वज़ीर अली खां के समर्थक थे। उनको राज्य का जाइज़ और सच्चा हक़दार मानते थे और सग्रादतग्रली खां को लुटेरा बताते थे। कहना चाहिए कि देश में हज़ारों दुश्मन थे जिनसे खतरा था कि नवाब की जान पर हमला न कर बैठें। रिग्राया के ग्रलावा फौज भी नये नवाब से बहुत नाराज़ थी। बेशुमार फ़ौज का टिड्डी दल जो नवाब शुजाउद्दौला के समय में था उसमें ग्रासफ़उद्दौला ही के ज़माने से ग्रंग्रेज़ सरकार की सलाह से कमी शुरू हो गयी थी। मगर ग्रासफ़-उद्दौला की दानशीलता और फ़िज़ूलखर्ची के कारण वे बहलते रहे और शिकायत की ग्रावाज ज़्यादा न उभर सकी। सग्रादतग्रली खां ने जब ज़्यादा छंटनी की और उसके साथ खुद भी मितव्ययिता बरती तो हर तरफ हाय-हाय पड़ गयी और जो था उनकी जान को रो रहा था।

नतीजा यह हुग्रा कि उनकी जान की हिफ़ाज़त के लिए ग्रंग्रेज़ सरकार को जरूरत महसूस हुई कि एक बाज़ाब्ता ग्रंग्रेज़ फ़ौजी गार्ड खास शहर के ग्रंदर रखा जाये क्योंकि शहर के दंगाइयों और विद्रोहियों को कुचलने के लिए और शांति तथा व्यवस्था बनाये रखने के उद्देश्य से एक बाहरी ज़बरदस्त शक्ति का हर वक्त शहर में रहना बहुत ही ज़रूरी था जिसके बारे में सुना जाता है कि नवाब सग्रादतग्रली खां ने इस प्रस्ताव को बहुत ही ग्रनिच्छा से मंज़ूर किया।

ग्रवध के शासकों ने इससे पहले ग्रपने रहने-सहने के बारे में बहुत ही सादगी ज़ाहिर की थी। पहले तीन नवाबों यानी नवाब बुरहान-उल-मुल्क, नवाब सफदरजंग और नवाब शुजाउद्दौला ने जिन सादे मकानों में ज़िंदगी बसर की वे भी उनकी निजी मिल्कियत नहीं बल्कि किराये पर थे। उन्होंने ग्रपना ग्रसली मकान या तो जंग के मैदान को माना या सारे राज्य को जिसमें वे दौरा करते रहते और सारी ज़मीन के हर हिस्से को ग्रपना मकान ही समझते रहे। नवाब ग्रासफ़उद्दौला बहुत व्यस्त थे, ऐयाशी और फ़िज़ूलखर्ची में बदनाम थे, मगर उनके लिए भी सिर्फ़ एक सादा, पुराने ढंग का मकान यानी पंच महला काफी था, हालांकि उन्हें इमारत का बड़ा शौक़ था। इससे ज़्यादा क्या होगा कि बीस लाख रुपये एक इमामबाड़े और मस्जिद के बनवाने में खर्च कर

दिये और उससे ज़्यादा ही रकम चौक, विभिन्न बाज़ारों, मंडियों, पुलों और सरायों आदि के निर्माण में ख़र्च की। गरज यह कि पहले तीन शासकों का इमारतों का शौक़ अगर क़िलों, गढ़ियों के निर्माण और फ़ौजी सामान के जुटाने में पूरा होता था तो आसफ़उद्दौला का शौक मज़हबी इमारतों या लोक-हित के कामों में। इसके साथ इमारतें बनवाने का पुराना शौक़ भी अब तक निभता चला जाता था। आसफ़उद्दौला के इमामबाड़े तक की इमारतें पुराने स्थापत्य का नमूना हैं। दिल्ली और आगरा में शाहजहां बादशाह को उच्चकोटि का संगमरमर और संगे मुर्ख़ क़रीब की खानों में मिल गया था जिसने वहां की इमारतों में ख़ास तरह की नफ़ासत और शान पैदा कर दी। लखनऊ में पत्थर का मिलना नामुमकिन था और आगरा या जयपुर से लाना इतना दूभर था कि किसी को मंगवाने का साहस न हो सकता था। आसफ़उद्दौला ने ईंट और चूने से वही काम लिया और वैसी ही शानदारी दिखा दी।

नवाब सआदतअली खां को मितव्ययिता, कंजूसी और रुपया जमा करने की हवस के बावजूद मकानों और इमारतों का शौक़ था। मगर अफ़सोस उनका यह शौक़ कलकत्ता में रहने और जगह-जगह की इमारतों के देखने से ऐसा ख़त्म हुआ कि उनके ज़माने की इमारतों से वे पुरानी विशेषताएं समाप्त हो गयीं और तब से मानो स्थापत्य-कला का स्तर ही बदल गया।

लखनऊ में इमारत-संबंधी इस तब्दीली का असली कारण गद्दीनशीनी से पहले नवाब सआदतअली खां का अन्य प्रांतों में रहना, ख़ानाबदोशी और योरु-पियन जातियों से मिलना-जुलना था और ज़्यादातर यह चीज़ थी कि जनरल मार्टिन ने अपनी रुचि की दो-एक कोठियां बनवा कर स्थापत्य की एक नयी शैली नवाबों के सामने पेश कर दी जो मज़बूती की दृष्टि से बेकार और ज़िंदगी की ज़रूरतों के लिहाज से बहुत ही आकर्षक थी। इन इमारतों की हालत बिल्कुल उन खिलौनों की-सी थी जो बच्चों के हाथ में दिये जाते है और रोज टूटते और नये ख़रीदे जाते हैं। योरुप के आलोचक आलोचना करते समय बड़े ज़ोर-शोर से एतराज़ करते हैं कि आसफ़उद्दौला के बादवाले लखनऊ के नवाबों की इमारतें बनाने की रुचि बिल्कुल भ्रष्ट हो गयी थी और उनकी तमाम इमारतें लड़कों के खिलौनें या लड़कियों के घरोंदे है, मगर इधर ध्यान नहीं देते कि यह रुचि बिगाड़ी किसने ? कहा जाता है कि यहां की राष्ट्रीय रुचि इसलिए बिगड़ गयी थी कि यहां दरअसल कोई जाति थी ही नही। और

इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि यहां की राष्ट्रीयता को बिगाड़ा किसने और किसकी कारस्तानियों ने लोगों से उनकी पुरानी रीति छुड़ा दी ? सच यह है कि यह सब कुछ उन्हीं का किया-धरा था।

सआदतअली खां ने पहले फ़रहत बख़्श की कोठी पचास हज़ार रुपये पर जनरल मार्टिन से मोल ली, उसी में रहना शुरू किया और उसके आसपास और कई मकान बनवाये। फिर वहां से क़रीब ही रेज़ीडेंट साहब के रहने के लिए टेढ़ी कोठी बनवायी जिसके खंडहर रेज़ीडेंसी के अंदर पड़े हुए हैं। उसके बाद अपने दरबार के लिए उन्होंने लाल बारहदरी बनवायी जिसमें अब लायब्रेरी है और उन दिनों 'क़स्र-उल-सुल्तान' के नाम से मशहूर थी। इसके अलावा दरिया पार उन्होंने 'दिल आराम' नामक एक नयी कोठी बनवायी और उसी सिल-सिले में एक बुलंद टेकरे पर जो अब सदर यानी लखनऊ की फ़ौजी छावनी के इलाके में स्थित है और जहां सारे शहर, गिर्द के मैदान और नदी का सुंदर दृश्य आंखों के सामने आ जाता है एक खूबसूरत कोठी बनवायी और 'दिलकुशा' उसका नाम रखा। इसी तरह एक और कोठी बनवायी जिसका नाम 'हयात-बख़्श' रखा। मगर उस कोठी का नवाब सआदतअली खां के बाद के अवध नरेशों ने इस्तेमाल नहीं किया। उसमें ग़दर से पहले मेजर बैंक रहते थे और ग़दर के बाद यह आम रिवाज था कि अंग्रेज सरकार की ओर से जो भी प्रतिष्ठित योरुपियन अवध के चीफ़ कमिश्नर होकर आते उसी कोठी में आकर रहते।

ऊपर लिखी कोठियों के अलावा नवाब ने मशहूर इमारतें 'मुनव्वरबख़्श' और 'खुरशीद मंजिल' भी बनवायीं और चौपड़ा का अस्तबल भी इन्हीं की यादगार है। मगर इन सब इमारतों के निर्माण में अपनी पुरानी देशी रीति छोड़ दी गयी और योरुप से आयी हुई नयी शैली अपनायी गयी और ज़ाहिर है कि इस संबंध में लखनऊ का कोई पुराना मकान इन नयी, आलीशान इमारतों का मुक़ाबिला न कर सकता था जो खुद ब्रिटिश सरकार के प्रभाव और प्रबंध से हिंदुस्तान के विभिन्न शहरों में बन चुकी हैं या दिन-ब-दिन बनती जाती हैं। ग़रज यही जमाना है जब से लखनऊ में उन पुरानी रुचि की इमारतों का ख़ात्मा हो गया जिनका ऐतिहासिक महत्व हो और जो अपनी किसी विशेषता के कारण पर्यटकों को अपनी ओर आकृष्ट करें।

नवाब सआदतअली खां ने लखनऊ के पश्चिमी भाग में एक बड़ा गंज

बनवाया और उसकी आबादी और रौनक़ के लिए ऐसा इंतज़ाम किया कि उसके लिए खास कानून बनाये गये और व्यापारियों तथा दुकानदारों को ख़ास तरह के अधिकार दिये गये। उसने बड़ी रौनक़ पायी और आज तक इस बात के बावजूद कि वह शहर की आबादी से दूर और बिल्कुल अलग स्थित है, विभिन्न वस्तुओं की सबसे बड़ी मंडी है और आलम नगर का स्टेशन सिर्फ उसी की वजह से रोज़-बरोज़ तरक़्क़ी पाता जाता है।

सआदतगंज के अलावा दूसरे बड़े बाजार जो नवाब साहब के समय में क़ायम हुए और आबाद भी हुए ये हैं: रकाबगंज (जो आज लोहे की सबसे बड़ी और अनाज वग़ैरा की एक प्रमुख मंडी है), जंगलीगंज, मकबूलगंज, मौलवीगंज, गोलागंज और रस्तोगी मुहल्ला। मोती महल में जो असली और पुरानी इमारत है वह भी नवाब सआदतअली खां की बनवायी हुई है। यह इमारत मौजूदा मोती महल के अहाते में उत्तर की ओर स्थित है। इसमें बहुत ही सुंदर सफेद गुंबद था जिसमें कारीगर ने मोती की-सी आबो-ताब पैदा कर दी थी।

सआदतअली खां अवध के सभी नवाबों से ज्यादा बुद्धिमान, राजनीतिज्ञ और इसके साथ बहुत ही मितव्ययी बल्कि कंजूस माने जाते हैं। प्रांत का शासन प्रबंध उन्होंने असाधारण योग्यता और चतुरता से किया और इसमें कोई संदेह नहीं कि अगर उन्हें अपने शासन-काल के अंत तक पूरी तरह संतोष मिल जाता तो पिछली सारी बुराइयां दूर हो जाती और वे प्रांत का अच्छी तरह सुधार कर पाते। लेकिन ख़राबी यह हुई कि ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ उनके संबंध अच्छे नहीं रहे। यहां तक कि कभी-कभी उनका मन राजसिंहासन तथा शासन आदि से भी खट्टा हो गया। इन्हीं बातों से तंग आकर उन्होंने आधे से ज्यादा राज्य महान ब्रिटिश सरकार के सुपुर्द कर दिया और समझे कि अब मैं अपने इलाक़े में जहां मेरा राज्य है बिना किसी झिझक के शासन कर सकूंगा, लेकिन अफ़सोस कि अब भी उन्हें चैन न मिला। जो प्रांत उनके अधिकार में छोड़ा गया था उसमें भी जगह-जगह अंग्रेज़ फ़ौज के कैंप क़ायम किये गये और उनमें से अधिकतर लखनऊ और उसके आसपास ही बनाये गये। उन फ़ौजों की देखभाल भी मुश्किल थी और उनकी संख्या अधिक होने के कारण राज्य पर भारी बोझ पड़ गया था और नतीजे में उन्हें अपनी बहुत-सी फ़ौज घटा देनी पड़ी।

लेकिन इन चिंताओं और परेशानियों के बावजूद उन्होंने जो-जो सुधार किये वे भी बहुत प्रशंसनीय हैं। मगर सबसे अजीब यह बात है कि बाज़ारों की तरक्क़ी और व्यापार को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ उनके दरबार में गुणी और प्रतिष्ठित लोगों का इतना बड़ा जमाव था कि उस समय हिंदुस्तान के और किसी दरबार में ऐसे बाकमाल लोग न नज़र आ सकते थे। ऐसे लोग अक्सर उसी जगह जमा हुआ करते हैं जहां के रईस आम लोगों की अपेक्षा ज़्यादा उदारता और दानशीलता प्रकट करते हैं। सआदतअली खां, जैसा कि हम बयान कर चुके हैं, मितव्ययी और कंजूस थे मगर उस कंजूसी और मितव्ययिता के साथ उनमें यह गुण भी था कि उनकी वैयक्तिक योग्यता दूसरे व्यक्तियों की योग्यता को स्वीकार करने पर मजबूर हो जाती थी और इसी बात ने उनके हाथों से लायक़ लोगों की क़द्र करायी और लखनऊ पहले से ज़्यादा बाकमाल लोगों का केंद्र बन गया। जो काबिल आदमी जहां होता सआदतअली खां की क़द्रदानी की शोहरत सुनते ही अपना वतन छोड़ कर लखनऊ का रुख़ करता और यहां ऐसा आराम पाता कि फिर कभी अपने घर जाने का नाम न लेता।

सन 1814 ई० में नवाब सआदतअली खां की मृत्यु हुई और उनके बेटे ग़ाज़ीउद्दीन हैदर राजगद्दी पर बैठे। क़ैसर बाग की वर्गाकार इमारत के अंदर नवाब सआदतअली खां और उनकी बीवी मुर्शीदज़ादी के मकबरे हैं। इन दोनों मकबरों की जगह एक मकान था जिसमें नवाब गाज़ीउद्दीन हैदर उस समय रहा करते थे जब वे युवराज थे। बाप की आंखें बंद होते ही जब वे राजमहल में गये तो कहा, "मैंने वालिद का घर लिया तो जरूर है कि अपना मकान उन्हें रहने को दे दूं।" इस ख़याल के मुताबिक मरहूम नवाब को अपने घर में दफ़न कराया और पुराना मकान ढहाकर ये मक़बिरे बनवाये।

अब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के समय में न बाप की-सी सूझबूझ और दौलत की क़द्र थी और न पिछले शासकों की-सी फ़ौजी सरगर्मी। हां आसफ़उद्दौला के जमाने की-सी आराम-तलबी और ऐशपरस्ती जरूर थी। मगर उसमें भी यह फ़र्क आ गया था कि आसफ़उद्दौला की फ़िज़ूलखर्ची भी देश तथा जनता को लाभ पहुंचाने के लिए होती थी और अब सिर्फ स्वार्थपरता के लिए होती थी।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर को बाप का जमा किया हुआ करोड़ों रुपयों का नक़द ख़ज़ाना मिल गया था जो शाही शौक के पूरा होने में बड़ी दरियादिली से

उड़ने लगा। मोती महल में, हम कह आये हैं कि, उत्तर की ओर सआदतअली ख़ां ने एक कोठी बनवायी थी, ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने उस अहाते में दो और कोठियां बनवायी जिनके नाम, "मुबारक मंज़िल" और "शाह मंज़िल" रखे गये। शाह मंज़िल के पास ही किश्तियों का एक पुल था और मुबारक मंज़िल उसके पूर्व में थी। शाह मंज़िल के सामने नदी के पार एक चरागाह थी जो हज़ारी बाग़ के नाम से जानी जाती थी और उसमें मीलों तक सुखद बगीचा चला गया था। उसमें अक्सर मस्त हाथी, गैंडे और जंगली जानवर लड़ाए जाते और बादशाह उस पार शाह मंज़िल के कोठे पर बैठकर उनकी लड़ाई का तमाशा देखा करते थे। शेरों की लड़ाई भी वहीं होती जिसके लिए मज़बूत कटहरे और एक बढ़िया सर्कस बना हुआ था। मगर जो छोटे नुक्सान न पहुंचानेवाले जानवर लड़ाए जाते उनकी लड़ाई ख़ास शाह मंज़िल के अहाते मे इसी पार होती थी।

ये दरिंदों और जंगली जानवरों के लड़ाने का शौक़ हिंदुस्तान में यहां से पहले और कहीं नहीं सुना गया। मालूम होता है कि रेज़िडेंटों और दरबार में आने-जानेवाले योरुपियनों से रोमियों के एंफ़ी थियेटर के हालात सुनकर जहांपनाह के दिल में शौक़ पैदा हुआ मगर मौलाना हबीबुर्रहमान खां साहब शेखानी के बताने से हमें मालूम हुआ कि दरिंदों की लड़ाई का रिवाज़ मुग़लों के ज़माने से है।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने अपनी एक योरुपियन बीवी के लिए विलायती महल बनवाया और उसका नाम विलायती बाग़ करार दिया। वहां से क़रीब ही कदम रसूल की इमारत बनवायी। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की इच्छा के अनुसार अंग्रेज़ी दरबार से उन्हें बादशाह की उपाधि प्रदान की गयी। इससे पहले अवध के शासकों का पद मंत्री के समान समझा जाता था और सिवाय 'नवाब' के और कोई सम्मानित नाम या पद उन्हें नहीं दिया जाता था। उस ज़माने तक हिंदुस्तान में मुगल शहंशाहों की इतनी आन-बान बाक़ी थी कि यद्यपि देश स्वतंत्र था और विद्रोही शासकों में बंट गया था और दिल्ली के बादशाह के क़ब्ज़े मे सिर्फ दिल्ली के आसपास की ज़मीन बाक़ी रह गयी थी, लेकिन इस बदहाली पर भी शहंशाह और जहांपनाह वही थे। न तो दिल्ली के सम्राटों के अलावा हिंदुस्तान में किसी को 'बादशाह' कहलाने का हक़ था और न ख़िताब या इज़्ज़त देने का। उनके इस ग़रूर को तोड़ने के लिए ईस्ट इंडिया

कंपनी ने ग़ाज़ीउद्दीन हैदर को जिन्होंने बाप के खज़ाने में से बहुत-सा रुपया अंग्रेज़ों को क़र्ज दे दिया था, शाही का खिताब दिया और अवध दरबार ने इस सम्मान को बड़ी क़द्र की निगाह से देखा। चुनांचे उस वक्त से अवध के शासक जो रेज़िडेंटों के हाथों के खिलौने थे, बादशाह बन गये और अंतिम शासक वाजिदअली शाह के मरने तक उनके कृपापात्र रहे।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने इसी शाही खिताब की यादगार में दरिया पार मच्छी भवन के सामने एक नया बाज़ार बसाया और उसका नाम बादशाहगंज रखा। इसी ज़माने में हकीम मेहदी ने मेहदीगंज आबाद किया और प्रधान मंत्री आग़ा मीर की शाही इमारत के दूर तक फैल जाने की वजह से ऐन बीच शहर में मुहल्ला 'आग़ा मीर की ड्योढ़ी' कायम हुआ और उसी दौर में आग़ा मीर की सराय क़ायम हुई।

बादशाह की और उससे ज़्यादा बादशाह बेगम की मज़हबी मामलों में बहुत ज़्यादा दिलचस्पी थी। सफ़विया[1] खानदान के ज़माने से ईरान का मज़हब शीया इसना अशरी[2] था मगर हिंदुस्तान के आम मुसलमान सुन्नी थे। नवाब बुरहान-उल-मुल्क चूंकि विलायत से नये आये थे इसलिए उनका और उनके सारे खानदान का मज़हब शीआ था। इस सबके बावजूद बहुत ज़माने तक लखनऊ में हुकूमत का वही पुराना तरीक़ा चला आता था जो इस्लामी सल्तनत के शुरू से ही हिंदुस्तान के दूसरे शहरों और सारे देश का था। मगर उस वक्त बादशाह और उनकी खास मल्का की मज़हबी दिलचस्पी की वजह से शीआ मत लखनऊ के शासन का प्रमुख अंग बन गया। फिरंगी महल के विद्वानों की ओर से शासकों का ध्यान हट गया और मुज्तहिदों[3] का खानदान तरक्क़ी पाकर सल्तनत का असली क़ानूनसाज क़रार पाया।

लेकिन शीआ मत अगर अपनी असली हालत पर क़ायम रहता तो कोई बात न थी, खराबी यह हुई कि बादशाह बेगम की अमीरों की-सी मज़हबी गतिविधि ने, जो अज्ञान से भरी थी, शीआ मत में नयी-नयी बातें पैदा की जिनकी वजह से सिर्फ यही नहीं हुआ कि बादशाहों और अमीरों में तरह-तरह की बचकाना आदतें पैदा हुईं बल्कि लखनऊ का शीआ मत सारे संसार

[1] ईरान का एक परिवार।

[2] बारह इमामों को मानने वाला शीआ।

[3] शीआ संप्रदाय का अधिकारी विद्वान।

के शीआ मत से नया, निराला और अजीब हो गया ।

सबसे पहले बेगम साहबा ने उस समय के बड़े इमाम साहब की छठी की रस्म मनाई जिसमें अगर यह होता कि किसी महफ़िल में इमाम साहब के हालात बयान करके सवाब हासिल कर लिया जाये तो कोई हर्ज न था, मगर नहीं यहां हिंदुओं की जन्माष्टमी की परंपरा के अनुसार पूरा ज़च्चाखाना बनाया जाता । उसके बाद यह तरक़्क़ी हुई कि उन सैयदों की, जिनका वंश निर्मल था, खूबसूरत लड़कियां लेकर बारह इमामों की बीवियां क़रार दी गयीं जिनका नाम "अछूतिया" रखा गया और जब वे इमामों की बीवियां थीं तो फिर उनके यहां इमामों का जन्म भी होता और बारहों इमामों के जन्मोत्सव बड़े ठाट-बाट के साथ मनाये जाने लगे ।

गाज़ीउद्दीन हैदर बहुत ही क्रोधी-स्वभाव और उद्विग्न-चित्त शासक थे । उनका रौबदाब ऐसा था कि उनके समय में अंग्रेज़ों से संबंध तो अच्छे रहे मगर आग़ा मीर, जो प्रधान मंत्री था, दरबार पर इतना हावी हो गया था कि खुद बादशाह बेगम और राजकुमार तक उसके अत्याचार से न बच सकें । गाज़ीउद्दीन हैदर उसे घूसों और लातों से मारते जिस मार को वह खुशी से खा लेता मगर इसका बदला दरबार के दूसरे प्रतिष्ठित सदस्यों और बादशाह के रिश्तेदारों से लिया करता ।

इससे पहले अवध नरेश ने धार्मिक श्रद्धावश नदी के किनारे और मोती महल के पास नजफ़े-अशरफ़ यानी हज़रत अली के रौज़े (समाधि) की नक़ल लखनऊ में बनवाई और उसकी रोशनी और देख-भाल के लिए बहुत-सा रुपया अंग्रेज सरकार के हवाले किया जिसकी बदौलत आज तक वह बारौनक़ और खूब आबाद है । सन 1827 में जब नवाब साहब का निधन हुआ तो वे उसी में दफ़न हुए ।

1827 ई० में ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के बेटे नसीरउद्दीन हैदर तख़्त पर बैठे। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के ज़माने से, जैसा कि हम बता चुके हैं, अवध के शासक नवाब नहीं, बादशाह थे। इस सम्मान का प्रारंभ दिल्ली के वज़ीर के पद से हुआ था और पहले के ज़बरदस्त, महत्वपूर्ण शासक सभी नवाब वज़ीर कहलाते थे। लेकिन अब जबकि असल हुकूमत और धाक खत्म हो चुकी थी और हिंदुस्तान की राजनीति में उन लोगों का बिल्कुल असर बाक़ी न रहा था, ये बादशाह बन गये।

खयाल किया जा सकता है कि अंग्रेज़ों ने अवध के शासकों को बादशाही इज़्ज़त दी तो अपनी हिमायत से उनकी धाक और दबदबा भी बढ़ा दिया होगा और उन्हें नाम ही का बादशाह नहीं बल्कि अमल में बादशाह बनाकर दिखाया गया होगा। लेकिन नहीं, हमें यह नज़र आता है कि उस ज़माने में अवध के बाहर उन लोगों का असर तो बिल्कुल था ही नहीं, खुद अपने राज्य में भी वे इतने आज़ाद न थे जितने कि उनके पूर्वज होते आये थे। अब किसी की ताजपोशी बग़ैर अंग्रेज़ों की मंज़ूरी के हो ही न सकती थी। अंग्रेज़ फ़ौज सारे राज्य में जगह-जगह फैली हुई थीं। कोई भी महत्वपूर्ण मामला बग़ैर रेज़ि-डेंट साहब के हस्तक्षेप के तै ही न हो सकता था। राजसिंहासन एक मंच था जिस पर जो कुछ होता बज़ाहिर नज़र आता कि अभिनेता कर रहे हैं लेकिन असल में उस अभिनय का नियंता कोई और ही व्यक्ति था जो पर्दे की आड़ में था और जो चाहता था करता था।

मगर खुदा की इतनी मेहरबानी थी कि उन पिछले अवध-नरेशों और उनके साथ-साथ राज्य से संबद्ध सभी व्यक्तियों की संवेदनशीलता समाप्त हो चुकी थी जिसके कारण वे अपनी कमज़ोरी और लाचारी को बिल्कुल महसूस न कर सकते थे। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर बादशाह बनते ही ऐश-इशरत में ग़र्क़ हो गये और नसीरउद्दीन हैदर को तो शाही तख़्त विरसे मे मिला था। नवाब सआदतअली खां का जमा किया हुआ रुपया दोनों की विलासिता में सहायक हुआ। कुछ अंग्रेज़ों को उधार दिया गया, कुछ उन मज़हबी रस्मे संपन्न करने में खर्च हुआ जिन्हें बादशाह और उनकी मलकाओं ने अपनी रुचि के अनुसार

बड़े शौक़ से इजाद किया और बाक़ी फ़िज़ूल ख़र्चियों और ऐयाशियों की नज़्र होने लगा। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने तो इतना भी किया था कि नजफ़े-अशरफ की नक़ल बनवाकर अपनी क़ब्र का ठिकाना कर लिया और बिना इसके कि अपने विरसे पर भरोसा करें कुछ रुपया अंग्रेज़ों के हवाले किया कि उसके सूद से धार्मिक संस्कारों के साथ नजफ़ की देखभाल किया करें। चुनांचे आज तक उनकी क़ब्र पर चिराग़ जलाया जाता है, मजलिसे[1] होती हैं, कुरान-पाठ होता है और मुहर्रम में खूब रोशनी होती है जिसकी बदौलत थोड़े से ग़रीबों का भी भला हो जाता है। मगर नसीरउद्दीन हैदर को भोग-विलास से इतनी भी फ़ुर्सत न मिली। दरिया पार मुहल्ले इरादत नगर मे उन्होंने एक कर्बला बनवायी जहां खुद उनकी क़ब्र बननेवाली थी मगर उसकी देखभाल पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया गया जिसका नतीजा यह है कि आज वह डालीगंज के स्टेशन के पास उजाड़ और ख़ामोश पड़ी है और शायद कोई चिराग़ जलानेवाला भी नहीं। उनके ज़माने में नये मुहल्ले गणेशगंज और चांदगंज वहीं नदी के पार आबाद हुए।

नसीरउद्दीन हैदर को ज्योतिष से बड़ा लगाव था जिसने उन्हें खगोल शास्त्र की ओर आकृष्ट किया और उन्होंने इरादा किया कि अपने शहर में एक उच्च कोटि की वेधशाला क़ायम करें। चुनांचे उसी मक़सद के लिए एक कोठी नवाब सआदतअली खां के मक़बरे और मोती महल के दरम्यान में बनवायी जो वेधशाला होने के कारण लखनऊ में 'तारे वाली कोठी' के नाम से मशहूर हुई। इसमें बड़ी-बड़ी दूरबीनें और अन्य उच्च कोटि के यंत्र इकट्ठे किये गये। उनको ठीक ढंग से क़ायम करने का काम और उनका इंतज़ाम कर्नल वॅलकावस के सुपुर्द हुआ जो एक अच्छे खगोलविज्ञानी थे। मगर लखनऊ की यह वेधशाला मानो कर्नल साहब ही के जीवन की एक अज्ञात घटना थी क्योंकि 1827 ई० से नसीरउद्दीन हैदर का शासन प्रारंभ हुआ जिसके चार-पांच साल बाद शायद यह वेधशाला क़ायम हुई होगी और उस समय से 1847 ई० तक जबकि अवध के अंतिम शासक वाजिदअली शाह का ज़माना था, यह वेधशाला उन्ही की देखरेख में चलती रही। उसी वर्ष में कर्नल साहब का देहांत हुआ और उनकी जगह कोई खगोलविज्ञानी उस काम के लिए नियुक्त नहीं किया गया। वाजिदअली शाह ने उसकी ओर से लापर-

---

[1]कर्बला के शहीदों की शोक-सभा।

वाही बरती। लखनऊ के कुछ अधिकृत व्यक्तियों की ज़बानी सुना गया कि उसकी सबसे बड़ी दूरबीन को वाजिदअली शाह ने एक खिलौना समझकर हैदरी वेश्या के हवाले कर दिया था। लेकिन 'गजेटियर' से मालूम होता है कि यह वेधशाला सल्तनत के समाप्त होने तक क़ायम थी। शायद ग़दर में बलवाइयों ने इसे तबाह कर दिया क्योंकि एहमदउल्ला शाह ने (जो डंका शाह भी कहलाते थे और अंग्रेज़ फौज से बड़ी वीरता और साहस के साथ लड़ते थे) तारे वाली कोठी ही में निवास किया था, इसी में अपना दरबार क़ायम किया था और विद्रोही सेना के अफ़सर यहीं इकट्ठे होकर सलाह-मशविरा किया करते थे।

इसी जमाने मे रौशनउद्दौला ने जो प्रधान मंत्री थे अपनी खूबसूरत और शानदार कोठी बनवायी जिसमें फ़िलहाल डिप्टी कमिश्नर बहादुर इजलास करते हैं इसलिए कि वाजिदअली शाह ने इस कोठी को क़ैसर बाग बनवाते वक्त ज़ब्त कर लिया था और जब प्रांत पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा हुआ तो यह कोठी सरकारी जायदाद थी।

नसीरउद्दीन हैदर का ज़माना, सच यह है कि, बहुत ही खतरनाक ज़माना था। एक ओर तो शासन-प्रबंध ढीला था, बादशाह को ऐश-इशरत और अपनी बनाई हुई मज़हबी रस्मों से फ़ुर्सत न मिलती थी, सारा इंतिज़ाम प्रधान मंत्री पर छोड़ दिया जाता था और मंत्रियों की यह हालत थी कि कोई ऐसा व्यक्ति मिलता ही न था जो नेकनियती और समझदारी से काम चला सके। हकीम मेह्दी बुलाये गये। वे प्रबंधक तो अच्छे थे लेकिन चाहते थे कि सल्तनत को अपनी जायदाद बना लें। रौशनउद्दौला मंत्री बने, उनमें न कुछ करने की सामर्थ्य थी और न दिलचस्पी, उनसे कुछ करते-धरते न बनी। बादशाह की फ़िज़ूल-खर्चियों की यह हालत थी कि सआदतअली खां का जमा किया हुआ सारा रुपया पानी की तरह उड़ गया और राज्य की आमदनी महल के खर्च के लिए काफ़ी न हो सकी। इतना ही नहीं, बादशाह और उनकी मां, गाज़ीउद्दीन हैदर की खास पत्नी, में झगड़े शुरू हुए। वे मुन्नाजान को बादशाह का बेटा बताती थीं और बादशाह उसे अपना बेटा नहीं मानते थे। इन बातों ने अवध की यह हालत कर दी कि मालूम होता था शासकों में शासन करने और देश को संभालने की बिल्कुल सामर्थ्य नहीं है।

रैज़िडेंट साहब और हिंद के गवर्नर जनरल ने बार-बार समझाया, डराया,

धमकाया, अंजाम से आगाह किया और बराबर कान खोलते रहे, मगर यहां किसी के कान पर जूं न रेंगी। नसीरउद्दीन हैदर में औरतों में रहते-रहते इस हद तक ज़नानापन आ गया था कि वे औरतों की-सी बातें करते और औरतों ही का लिबास पहनते। ज़नाना-मिज़ाजी के साथ मज़हबी विश्वास ने यह शान पैदा कर दी कि बारह इमामों की फ़र्ज़ी बीबियां (अछूतियां) और उनके जन्मोत्सव आदि को जिनको उनकी मां ने प्रचलन दिया था और अधिक प्रश्रय मिला। यहां तक कि इमामों के जन्म से संबंधित समारोहों में वे खुद गर्भवती स्त्री बन कर प्रसूति-गृह में बैठते, चेहरे और हाव-भाव से प्रसव-पीड़ा प्रकट करते और फिर खुद एक काल्पनिक बच्चे को जन्म देते जिसके लिए जन्म, छठी और नहान की व्यवस्था उसी तरह की जाती जिस तरह कि वास्तव में ऐसे समय की जाती है। ये उत्सव इतने अधिक थे कि साल भर बादशाह को इन्हीं से फ़ुर्सत न मिलती थी, सल्तनत की तरफ़ कौन ध्यान देता ?

अवध दरबार और अंग्रेज़ सरकार के संबंध देखने से मालूम होता है कि अगर गवर्नर जनरल और रेज़िडेंटों की मेहरबानी न होती और इंग्लैंड का जो बोर्ड ईस्ट इंडिया कंपनी की निगरानी करता था, कंपनी को रोके-थामे न रहता तो हुकूमत के खात्मे की कार्रवाई उसी ज़माने में हो गयी होती। मगर इस दरबार की ज़िंदगी, जिसके शासक बचकाना आदतें रखते थे, अभी बाक़ी थी अंग्रेज़ प्रांत पर अधिकार करने का विचार करके रह गये।

नसीरउद्दीन हैदर के संबंध में लखनऊ के पुराने और विश्वस्त लोगों का बयान है कि वे इस स्त्रैणता और बचकाना हरकतों के साथ-साथ बहुत ही ज़ालिम भी थे। लेकिन चूंकि सारी ज़िंदगी औरतों में बसर होती थी इसलिए उनके ज़ुल्म का शिकार भी ज़्यादातर औरतें ही होतीं। बीसियों स्त्रियों को छोटे-छोटे क़सूर और मामूली बदगुमानी पर दीवारों में चुनवा दिया। कहते हैं कि रास्ता चलते किसी मर्द को किसी औरत के सीने पर हाथ रखे देख लिया था, फ़ौरन औरत की छातियां और मर्द के हाथ कटवा डाले।

आखिर दस बरस की कुरीतियों के बाद जबकि अंदर-बाहर के सभी दरबारी ज़िंदगी से तंग आ गये थे, बादशाह खुद अपने दोस्तों और रिश्तेदारों के हाथ का शिकार बने और किसी ने ज़हर देकर 1837 में उनका काम तमाम कर दिया। नसीरउद्दीन हैदर निस्संतान मरे थे। मुन्नाजान को ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की बेगम ने हमेशा अपना पोता और सल्तनत का सच्चा वारिस बनाकर

पेश किया। मगर ग़ाज़ीउद्दीन हैदर और नसीरउद्दीन दोनों ने उनके शाही नस्ल से होने को नहीं माना था। इसी कारण से अंग्रेज सरकार ने नवाब सम्रादत अली खां के बेटे नसीरउद्दौला मुहम्मद अली खां की गद्दीनशीनी का पहले से बंदोबस्त कर लिया था, मगर बेगम साहबा न मानीं। मुन्नाजान को लेकर लाल बारहदरी यानी उस जगह ले गयीं जहां सिंहासन था। रेज़ीडेंट ने हज़ार रोका और समझाया, मगर एक न सुनी और ज़बरदस्ती मुन्नाजान के तख्त पर क़दम रखते ही उनकी बलाएं लीं और अपने दुश्मनों से फ़ौरन बदला लेना भी शुरू कर दिया। बहुतों के घर लुटवाये, कुछ को गिरफ़्तार कर लिया, बाज़ क़त्ल हुए और शहर में एक हड़बोंग मच गया।

रेज़िडेंट साहब और उनके सहायक फ़ौरन दरबार में पहुंचे। बादशाह बेगम को समझाया कि मुन्नाजान सल्तनत के वारिस नहीं हो सकते और इसमें आपको हरगिज़ कामयाबी न होगी। फिर लाट साहब का लिखित फ़रमान दिखाया और कहा कि बेहतर यही है कि मुन्नाजान तख्त को खाली कर दें और नसीरउद्दौला को गद्दी पर बिठाया जाये, मगर किसी ने एक न सुनी। बल्कि किसी ने असिस्टेंट रेज़िडेंट पर हमला किया जिससे उनका चेहरा लहूलुहान हो गया। रेज़िडेंट ने मंडियाओं से अंग्रेज़ फ़ौज पहले ही से बुलवा ली थी और उसने तख्तगाह के सामने तोपें लगा दी थीं और सिपाही क़तार बांधे खड़े थे। मजबूरन रेज़िडेंट साहब ने घड़ी हाथ में ली और कहा दस मिनट की मोहलत दी जाती है। इस समय के अंदर अगर मुन्नाजान तख्त से न उतरे तो ज़बरदस्ती की कार्रवाई की जायेगी। इसकी भी किसी ने परवाह न की हालांकि रेज़िडेंट बार-बार कहते जाते थे कि अब पांच मिनट बाक़ी हैं, अब दो ही मिनट रह गये, और अब देखिए पूरा एक मिनट भी नहीं।

इन चेतावनियों पर किसी ने ध्यान न दिया और यकायक तोपों ने गुराबें मारना शुरू कीं। आनन-फ़ानन में तीस-चालीस आदमी गिर गये। दरबारी घबराकर गिरते-पड़ते भागे। जो नृत्य मंडली मुजरा कर रही थी उसमें से भी कई आदमी ज़ख्मी हुए। शीशे के बर्तन झनाझन टूटकर गिरने लगे। जब कई वफ़ादार बहादुर, जो डट कर मुक़ाबिला कर रहे थे, मारे जा चुके तो मुन्नाजान ने भी तख्त से गिर कर भागने का निश्चय किया, मगर पकड़ लिए गये। गरज़ बेगम साहबा और उन्हें दोनों को अंग्रेज़ों ने गिरफ़्तार कर लिया और साथ ही नसीरउद्दौला को गद्दी पर बिठा दिया गया जो मुहम्मदअली शाह के

नाम में अवध के बादशाह क़रार पाये और मुन्नाजान और उनकी दादी हिरासत में लखनऊ से कानपुर और कानपुर से क़िला चिनारगढ़ भेज दिये गये और दो हज़ार चार सौ रुपया माहवार उनकी तनख़्वाह लखनऊ के ख़ज़ाने से मुक़र्रर कर दी गयी।

मुहम्मद अली शाह की उम्र गद्दीनशीनी के वक़्त त्रेसठ बरस की थी। बूढ़े और तजुर्बेकार थे, ज़माने की ऊंच-नीच और दरबार की बचकाना हरकतें देखते रहे थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि नवाब सआदतअली खां के बेटे थे और उनकी आंखें देखे हुए थे। उन्होंने बहुत संभल कर काम किया: मितव्ययिता के नियम बनाये और जहां तक बना, इंतज़ाम को संभालने की कोशिश की। मगर उम्र ज़्यादा आ चुकी थी और शरीर जवाब दे रहा था। तख़्त पर बैठते ही उन्होंने हकीम मेहदी को फ़र्रुख़ाबाद से बुलवाकर वज़ीर के पद का खिलअत दिया मगर चंद ही रोज बाद वे मर गये। तब ज़हीरउद्दौला को अपना प्रधान मंत्री बनाया। दो-तीन महीने बाद वे भी दुनिया से चल बसे और मुनव्वरउद्दौला वज़ीर क़रार पाये जिन्होंने दो-चार महीने के बाद ही इस्तीफ़ा दे दिया और कर्बला चले गये। फिर अशरफ़उद्दौला मुहम्मद इब्राहीम खां वजीर क़रार पाये जो औरों के मुक़ाबिले ज्यादा समझदार और गंभीर प्रकृति के थे।

मुहम्मदशाह की तख़्तनशीनी पर अंग्रेज़ सरकार और अवध की सल्तनत में एक नया क़रार हुआ जिसके अनुसार अंग्रेज़ सरकार ने जो फ़ौज अवध की निगरानी के लिए रखी थी उसमें बहुत ज़्यादा वृद्धि हुई और ईस्ट इंडिया कंपनी की गवर्नमेंट को यह इख़्तियार हासिल हुआ कि सारे अवध में या उसके जिस इलाक़े के शासन में ढील देखे उसे जब तक चाहे अपने शासन में रखे। बादशाह ने अनिच्छा से इस करार पर हस्ताक्षर किये और जहां तक बना प्रांत की स्थिति में सुधार करने लगे।

तख़्तनशीनी के दूसरे ही बरस उन्होंने अपना मशहूर इमामबाड़ा हुसैनाबाद और उसके क़रीब एक आलीशान मस्जिद बनवाना शुरू की जिसके लिए यह प्रबंध किया गया कि दिल्ली की जामे मस्जिद से रौनक़ और आकार में बढ़कर हो।

उन दिनों लखनऊ की आबादी और रौनक़ इतनी बढ़ गयी थी और इतने अधिक लोग वहां और आसपास आबाद थे कि उसे हिंदुस्तान का बाबुल

कहना बेजा न था। वास्तव में यह शहर हर हैसियत से उस युग का ज़िंदा बाबुल था।

इस समानता के बारे में शायद अंग्रेज़ों या किसी अन्य दरबारी से सुनकर मुहम्मदअली शाह ने इरादा किया कि लखनऊ को पूरा-पूरा बाबुल बना दें और अपनी एक ऐसी यादगार क़ायम कर दें जो उनके नाम को अवध के दूसरे बादशाहों से ज़्यादा बुलंदी पर दिखाए। उन्होंने बाबुल के मीनार या वहां के हवाई बाग़ की तरह की एक इमारत हुसैनाबाद से क़रीब और मौजूदा घंटा-घर के पास बनवाना शुरू की जिसमें मेहराबों के गोलाकार वृत्त पर दूसरा वृत्त और दूसरे वृत्त पर तीसरा वृत्त, गरज यों ही तले-ऊपर कायम होते चले जाते थे। इरादा था कि यों ही सात मंजिलों तक उसे ऊंचा करके एक इतना बड़ा और ऊंचा बुर्ज बना दिया जाये जो दुनिया भर मे लाजवाब हो। और उसके ऊपर से सारे लखनऊ और उसके आसपास का मैदान नजर आये। यह इमारत अगर पूरी बन जाती तो निश्चय ही लाजवाब और आश्चर्यजनक होती। उसका नाम सतखंडा करार दिया गया था और बड़े इंतज़ाम के साथ बन रही थी, मगर पांच ही मंजिलें बनने पायी थीं कि मुहम्मद अली शाह ने 1842 ई० में इस संसार से कूच किया।

मुहम्मद अली शाह ने अपने ज़माने में बिना इसके कि अंदरूनी झगड़े पैदा हों या देश की शासन-व्यवस्था बिगड़े, लखनऊ को बहुत ही खूबसूरत शहर बना दिया। हुसैनाबाद के फाटक से रोमी दरवाज़े तक दरिया के किनारे-किनारे एक सड़क निकाली जो चौक कहलाती थी। इस सड़क पर दुतर्फा आलीशान मकानों के बावजूद एक तरफ रोमी दरवाजा, आसफउद्दौला का इमामबाड़ा और उसकी मस्जिद थी, दूसरी तरफ सतखंडा और हुसैनाबाद का फाटक था। इस नये इमामबाड़े की अनेक गगनचुंबी इमारतें थीं और उनके बाजू में जामा मस्जिद स्थित थी। और सब इमारतों ने मिलकर दोनों ओर एक ऐसा मनोहर दृश्य प्रस्तुत कर दिया था जो दुनिया के तमाम मशहूर और और सुंदर दृश्यों को मात करता था। और अब भी हालाकि दरम्यान में शहर के बाशिंदों के जितने मकान थे सब खुद गये, मगर यह दुनिया का एक सुंदरतम दृश्य माना जाता है।

मुहम्मदअली शाह के बाद अमजदअली शाह राजसिंहासन पर बैठे। मुहम्मदअली शाह ने कोशिश की थी कि युवराज की शिक्षा-दीक्षा उच्च कोटि की हो। चुनांचे उन्हें विद्वानों की संगति में रखा। नतीजा यह हुआ कि अमजद अली शाह बजाये इससे कि पढ़ने-लिखने में कोई विशेष प्रगति करें शिष्टाचार और आदत-स्वभाव की दृष्टि से एक सच्चे मौलवी बन गये। हुकूमत की बागडोर हाथ में आने के बाद उनका जो कुछ हौसला था यह था कि उनके साथ सारी रियाया हुजूर को अपना श्रद्धेय मान ले। लेकिन ज़ाहिर है कि धार्मिक विद्वानों और देश के नेताओं को राजनीति से कोई सरोकार नहीं हो सकता। वे न राजनीतिज्ञ हो सकते हैं और न राजमर्मज्ञ। उनसे जो कुछ हिदायत मिल सकती थी वह थी कि सैयदों की सेवा की जाये और राज्य का धन ईश्वर के भक्तों की सहायता और सेवा में खर्च हो। और यह काम भी श्रद्धावान, संयमी और सच्चरित्र अवध नरेश अमजद अली शाह की नजर में तभी समय सन्तोषजनक हो सकता था जब खुद मुज्तहिद-उल-अस्र के मुबारक हाथों से सम्पन्न हो। चुनांचे देश की आमदनी में से लाखों रुपये ज़कात (दान) के नाम से उनकी नज़्र किये जाते और उसके अलावा और भी बहुत-सी नैमात की रकमें उन्हीं के हाथ में जातीं।

अमजद अली शाह के लिए संयम और शुद्धता का विचार एक रोग बन गया था। वे इन्हीं चीजों की पाबंदी में इतने व्यस्त रहते थे कि शासन-प्रबन्ध की ओर ध्यान देने की उन्हें फुर्सत ही न मिल पाती थी। इसका लाजिमी नतीजा यह हुआ कि मुहम्मद अली शाह ने अपनी तजुर्बाकारी और समझ-बूझ से जो कुछ प्रबन्ध किये थे सब बेकार हो गये और यह हालत हो गयी कि क़ाज़ी मुहम्मद सादिक खां के बयान के मुताबिक सारे कर्मचारी दुश्चरित्र बेईमान और स्वार्थी थे। रिआया तबाह थी, जबरदस्त का ठेगा सर पर था, ज़ालिम और मुजरिम को सजा न मिलती थी, खज़ाना ख़ाली था, रिश्वत-ख़ोरी की गर्मबाजारी थी और जो हंगामे और फ़साद पैदा होते थे किसी के मिटाये न मिट सकते थे।

लेकिन इस संयम और जनसाधारण के हितों के प्रति उदासीनता और

लापरवाही पर भी उन्होंने मुहल्ला हज़रतगंज आबाद किया जो आज लखनऊ में तमाम मुहल्लों से ज़्यादा साफ़-सुथरा, घना आबाद, बहुत ही खूबसूरत धनी व्यापारियों का सबसे बड़ा बाज़ार है और सिविल लाइन का सबसे ज्यादा बारौनक़ हिस्सा है। उन्होंने लनखऊ से कानपुर तक सीधी एक पक्की सड़क बनवायी। उनके काल में सबसे बड़ा काम यह हुआ कि लोहे के पुल की इमारत बन कर तैयार हो गयी। इस पुल के निर्माण का एक महत्व यह भी है कि इसमें लगी सामग्री ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने इंग्लैंड से मंगवायी थी, मगर वे पुर्ज़े और सामान जब तक लखनऊ पहुंचे बादशाह यह असार संसार छोड़ चुके थे। नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में जब वे पुर्ज़े विलायत से आये तो उन्होंने अपने दरबार के इंजीनियर मि० सिक्लेयर को उन पुर्ज़ों के जोड़ने और पुल को बना कर खड़ा कर देने का ठेका दिया और हुक्म दिया कि वे पुर्ज़े रेज़िडेंसी के सामने दरिया के उस पार डाल दिये जायें। जिस जगह पुल के ये लोहे के पुर्ज़े डाले गये थे उस जगह का पता देने के लिए आज वही एक घाट और मंदिर क़ायम है। मि० सिक्लेयर ने दरिया के अंदर खंबे गाड़ने के लिए गहरे कुएं खुदवाये और उन खंबों की जुड़ाई भी करा ली, मगर उसके बाद उनसे कुछ करते धरते न बना और पूल पूरा न हो सका। मुहम्मद अली शाह के ज़माने मे यह पुल अधूरा पड़ा रहा, मगर अमजद अली शाह ने अपने काल में उसकी ओर ध्यान दिया और पुल बन कर तैयार हो गया। लेकिन जो लोहे का पुल आजकल क़ायम है वह मुहम्मद अली शाह के ज़माने का पुल नहीं है। वह एक हैंगिंग ब्रिज यानी लटकने वाला पुल था जिसका सारा भार लोहे के चार ऊंचे और ज़बरदस्त खंबों पर लटक रहा था। अंग्रेज़ों के ज़माने में जब उसके पुर्ज़ों पर जंग लग गया और वे कमज़ोर पड़ गये और उस पर आम आमद-रफ़्त में खतरा नज़र आया तो उसे गिरवाकर उसकी जगह दूसरा लोहे का पुल क़ायम किया गया और वही पुल आज भी मौजूद है।

अमजद अली शाह ही के ज़माने में उनके वज़ीर अमीनउद्दौला ने अमीनाबाद आबाद किया जिसकी आबादी और रौनक़ आजकल दिन-दूनी और रात-चौगुनी तरक़्क़ी कर रही है। अमजद अली शाह ने अपने ज़माने मे हालांकि कुछ नहीं किया और न अपने शौक़ से कोई ऐसी इमारत बनवायी जो आजकल उनकी यादगार हो, मगर शायद अपने संयम और पवित्र-हृदयता

के बदले उन्हें यह क़ुदरती नामवरी हासिल हो गयी कि लखनऊ के आजकल के वे सबसे ज़्यादा मशहूर, सबसे ज्यादा आबाद और दौलतमंद मुहल्ले अमीनाबाद और हज़रतगंज उन्हीं के ज़माने की यादगार हैं।

आखिर ज़माने ने उनके दौर का पन्ना भी पलटा और 1848 ई० में जबकि उम्र अड़तालीस बरस से कुछ ही दिन ज़्यादा थी, कैंसर के रोग से पीड़ित होकर दुनिया से रुख्सत हो गये और अपने आबाद किये हुए मुहल्ले हज़रतगंज में मेढ़ू खां रिसालदार की छावनी के अंदर दफ्न हुए। उनका इमामबाड़ा जिस में वे दफ्न हैं हजरतगंज के पश्चिमी हिस्से में लबे-सड़क मौजूद है जिसकी इमारत उनकी मृत्यु के बाद वाजिद अली शाह ने दस लाख रुपये खर्च करके बनवायी थी। यह इमामबाड़ा हुसैनाबाद की एक घटिया नकल है और अगर हुसैनाबाद की तरह इसमें भी रोशनी होती तो मुहर्रम में लखनऊ का पूर्वी हिस्सा भी जगमगा उठा करता। अगर्चे उसके लिए कोई पेंशन मुकर्रर नहीं है, लेकिन उसकी आमदनी भी कम नहीं। अहाते की इमारत के बाहरी हिस्से की दुकानों में बहुत से अच्छे-अच्छे व्यापारियों की दुकानें हैं और अंदरूनी इमारतों में बहुत से यूरेशियन वग़ैरा रहते हैं जिनसे किराये की अच्छी-खासी रकम वसूल होती है। मगर किराया वसूल करने वालों का यह भी एहसान है जो मुहर्रम में खास कब्र और इमामबाड़े में चंद चिराग रौशन कर दिया करते हैं।

अब अमजद अली शाह के बड़े बेटे वाजिद अली शाह तख्त पर बैठे। उनका ज़माना इस पूर्वी दरबार के इतिहास का अंतिम पृष्ठ और उस प्राचीन शोकगीत का अंतिम मद है। चूंकि अवध के शासन का अंत उन्हीं के काल में हुआ इसलिए तमाम समझ-बूझ वाले लोगों के धिक्कार के वही भागी बने और यह भी लगभग सभी ने मान लिया कि सल्तनत के पतन का कारण वही थे। लेकिन जिस जमाने में उनकी सल्तनत का खात्मा हुआ है उन दिनों हिंदुस्तान की सारी देशी ताक़तें टूट रही थीं और बुरी-भली सब तरह की पुरानी हुकूमतें दुनिया से मिटती जाती थीं। पंजाब में सिखों का और दक्षिण में मराठों का दफ्तर क्यों उलटा? वे तो बहादुर, ज़बरदस्त और होशियार माने जाते थे। दिल्ली में मुग़ल शहंशाही का और बंगाल में नवाब नाज़िम बंगाल का पतन क्यों हुआ हालांकि उनमें ऐसा बचकानापन भी न था जितना कि लखनऊ के शासकों में मौजूद था। उपर्युक्त चारों दरबारों में कोई वाजिद

अली शाह न था, हालांकि उनकी तबाही लखनऊ की तबाही से कम न थी।

असल बात यह है कि उस युग में इधर तो हिंदुस्तानियों की गफ़लत और जहालत का पैमाना छलकने के क़रीब पहुंच गया था और उधर ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति और ब्रिटिश राष्ट्र की दूरदर्शिता, योग्यता और परिश्रम ये सब अपने प्रयत्नों और अपनी उच्च संस्कृति तथा सभ्यता का फल पाने की रोज़-बरोज़ पात्र बनती जा रही थीं। यह नामुमकिन था कि अंग्रेज राज-नीतिज्ञों की बुद्धिमता, अभ्यास, सूझबूझ, नियमितता हिंदुस्तान के अज्ञान और आत्मविस्मृति पर विजय न पातीं। उस युग ने सारी दुनिया में संस्कृति का एक नया रूप धारण किया था और वह पुकार-पुकार कर हरेक जाति से कह रहा था कि जो इसमें मेरा साथ न देगा मिट जायेगा। ज़माने के इस ढिंढोरे की आवाज हिंदुस्तान में किसी ने सुनी और सब मिट गए। इन्हीं मिटनेवालों में अवध की सल्तनत भी थी जिसके पतन का दायित्व बेचारे वाजिद अली शाह पर डाल देना इतिहास के साथ अन्याय करना है।

धर्मशास्त्र का पालन करनेवाले बाप ने वाजिद अली शाह को भी विद्वानों की संगति में रखकर अपना जैसा बनाना चाहा था और यह रंग एक हद तक वाजिद अली शाह पर चढ़ा भी जो उम्र के ढलने तक ज्यादा खिलता गया। मगर अमजद अली शाह का इसमें कुछ जोर न चला कि सल्तनत के वारिस राजकुमार की स्वाभाविक प्रवृत्ति विलासिता और ललित कलाओं की ओर थी। हालांकि बाप के आग्रह के कारण लिखने-पढ़ने में भी अच्छे थे लेकिन संगीत का शौक़ हावी था। अपने राजकुमारत्व-काल ही में अपनी वैयक्तिक रुचि से उन्होंने पिता की इच्छा के विपरीत गवैयों और ढारियों को अपने साथ रख कर गाना-बजाना सीखा। आवारा औरतों और डोम-ढारियों से संपर्क बढ़ाया और परिणाम यह हुआ कि जो आनंद उन्हें सुंदर स्त्रियों और गवैयों की संगति में आता ज्ञान-विज्ञान की सभ्य मंडलियों में न आता था।

बाप के खिलाफ उन्हें इमारत का भी शौक़ था और युवराजत्व ही में उन्होंने अपनी आनंद-सभा और भोगविलास के लिए एक सुहावना बाग और उसमें दो-एक छोटे-छोटे और खूबसूरत मकान बनवाये। अली नक़ी खां जिन्हें तख्त पर बैठते ही वज़ारत का खिलअत दिया, उनसे अपने राजकुमारत्व-काल में एक रंडी के घर पर मुलाक़ात हुई। उनकी यौवनभरी चंचलता ने

राजकुमार को प्रभावित किया और जब उपयुक्त बाग़ और इमारत उनकी निगरानी में बनी और पसंद आयी तो समझ लिया गया कि वज़ारत और राज्य के प्रबंधक के लिए उनसे अधिक उपयुक्त कोई व्यक्ति नहीं है।

वाजिद अली शाह की सल्तनत की शुरुआत तो इस प्रकार हुई कि नौजवान बांके बादशाह को न्याय और सेना-सुधार से विशेष रुचि थी। सवारी में आगे-आगे दो चांदी के संदूक़चे चलते। जिस किसी को कुछ शिकायत होती अर्ज़ी लिख कर उसमें डाल देता। कुंजी खुद बादशाह के पास रहती। महल में पहुंच कर हुजूर उन अर्ज़ियों को निकालते और अपने हाथ से उन पर हुक्म लिखते। इस तरह कई नये रिसाले और कई पलटनें भर्ती हुईं। रिसालों के नाम बादशाह ने अपने लेखन-कौशल से बांका, तिरछा, घनघोर रखे और पलटनों के नाम अख्तरी, नादरी रखे गये। नवाब साहब खुद घोड़े पर सवार होकर जाते और घंटों धूप में खड़े होकर उनकी क़वायद और युद्ध कौशल में उनका अभ्यास देखते और खुश हो-होकर दक्ष सैनिकों को इनाम-इकराम देते। उन्होंने फ़ौजी क़वायद के लिए खुद ही फ़ारसी शब्दावली और वाक्य बनाये : "रास्त रौ" (सीधे चल), "पस बया" (पीछे घूम), "दस्तर-चप बगिरद" (बाईं ओर मुड़)। चंद रोज बाद जवान और हसीन औरतों की एक छोटी ज़नानी फ़ौज बनायी गयी और उनको भी इन्हीं शब्दों में क़वायद सिखायी गयी।

मगर आधुनिक युग का यह पहला चिह्न कुछ ही दिन बाकी रहा। पूरा एक साल भी न गुज़रा होगा कि तबीयत इन चीजों से उकता गयी। राजकुमारत्व-काल की वही पुरानी रुचि फिर लौट आयी। सुंदर और आवारा औरतों की संगत बढ़ी, आनंद मंडलियों का आयोजन प्रारंभ हुआ और थोड़े ही दिनों में डोम, ढाड़ी ही सभासद और राज्य के प्रतिष्ठित लोग बन गये। बादशाह के दिल में अब अगर ज्ञान-विज्ञान या शिष्ट रुचि बाक़ी थी तो वह शाइरी थी क्योंकि वे खुद शेर कहते और शाइरों की क़द्र करते थे।

लखनऊ में उन दिनों शाइरी का चर्चा हद से ज्यादा बढ़ा हुआ था। अकेले लखनऊ में इतने शाइर मौजूद थे कि अगर सारे हिंदुस्तान के शाइर जमा किये जाते तो उनकी तादाद लखनऊ के शाइरों से न बढ़ सकती। "मीर" और 'सौदा' की पुरानी शाइरी बेकार हो चुकी थी। अब 'नासिख' की जबान और 'आतश' के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] "[illegible]"

और "सहबा" की सुरा-सुंदरी विषयक शाइरी और नवाब मिर्ज़ा "शौक़" की मसनवियों ने विषय-वासना को बढ़ावा दिया था और इसी प्रकार के विषयों में बादशाह की रुचि थी और यही उनके स्वभाव के अनुरूप भी थे।

इस्लामी शाइरी का रंग इस्लामी ख़िलाफ़त की पहली सदी तक तो यह था कि शाइर एक ख़ास औरत पर आशिक़ होते। उसका नाम ले-लेकर उसकी सुंदरता और उसकी अदाओं की चिता कर्षकता का वर्णन करते और उससे संबोधन कर-करके अपनी बेचैनी और व्याकुलता ज़ाहिर करते। अक्सर छिप-छिपकर उससे मिलते, मगर तहज़ीब और शिष्टता के दायरे से कभी क़दम बाहर न निकालते। चंद रोज़ बाद अरब ही में माशूक़ गुमनाम हो गया और आमतौर पर शाइरों का माशूक़ उनके ख़्याल का एक पुतला बन गया जिसे भोगी तो कोई सुंदर स्त्री या कोई सुंदर लड़का बताते मगर सूफी अन्योक्ति के माध्यम से उसे अपना प्रियतम यानी स्रष्टा बता देते। यही समोया हुआ, छिपा ढंका अंदाज़ फ़ारसी शाइरी में रहा और यही रुचि उस समय तक उर्दू शाइरी की भी थी, मगर नवाब मिर्ज़ा शौक़ ने अपनी शाइरी को हसीन पर्दादार औरतों पर आशिक़ होकर उनके ख़राब करने का साधन बनाया। और क़यामत यह थी कि उनकी मसनवियों की ज़बान ऐसी खूबसूरत, बेतकल्लुफ़ और साफ़-सुथरी थी और उनमें प्रेम-प्रणय के भाव इतने ज़्यादा भर गये थे कि सभ्य और शिष्ट लोगों से भी बिना देखे और मज़ा लिये न रहा जाता।

वाजिद अली शाह ने भी इन मसनवियों को देखा और चूंकि वे खुद शाइर थे, इस रंग को अपनाकर अपने बहुत से प्रेमों और अपने यौवन की सैकड़ों असंगतियों को खुद ही शेर के रूप में ढालकर देश में फैला दिया और खुद अपने नैतिक अपराधों को स्वीकार कर लिया। मैं समझता हूं कि बादशाह तो बादशाह वज़ीरों और अमीरों में भी विरले ही ऐसे रहे होंगे जिन्होंने युवावस्था में अपनी कामवासना जी भर के पूरी न की हो। मगर वाजिद अली शाह की तरह किसी ने अपने उन बेशर्मी के अपराधों को खुद ही लोगों के सामने पेश नहीं किया था। वाजिद अली शाह ज़ोर में आये तो चाहे शाइरी में न बढ़ सकें मगर अपने भावों और विचारों और अपने कारनामों को दुनिया के सामने प्रकट करने में नवाब मिर्ज़ा से भी दो क़दम आगे निकल गये और यहां तक तरक़्क़ी की कि बाज़ मौक़ों पर उन्हें घृणित बाज़ारी

मज़ाक और अश्लील शब्दों के प्रयोग में भी संकोच नहीं होता ।

वे कहारियों, रंडियों, दासियों, महल में आने-जानेवाली औरतों, गरज़ सैकड़ों औरतों पर मोहित हुए और चूंकि युवराज थे इसलिए अपने प्रेम में पूरी तरह सफल हुए । उनके प्रेम की शर्मनाक दास्तानें उनकी कविताओं तथा अन्य रचनाओं में खुद उनकी ज़बान से सुनी जा सकती हैं और यही कारण है कि इतिहास में उनका चरित्र सबसे अधिक अपवित्र और कलुषित नजर आता है ।

चूंकि इमारत का बेहद शौक़ था, इसलिए तख्त पर बैठते ही क़ैसर बाग़ की इमारत बनवाना शुरू कर दी, जो चाहे आसफउद्दौला की इमारतों की तरह मज़बूत न हो, मगर खूबसूरती और शानदारी में लाजवाब है । इसमें बहुत ही सुंदर और शानदार दो मंज़िली इमारतों का एक आयाताकार इलाका दूर तक चला गया था जिसका एक रुख जो दरिया की तरफ था गदर के बाद खोद डाला गया और तीन पहलू अब तक क़ायम हैं जिनको विभिन्न टुकड़ों में बांट कर गवर्नमेंट ने अवध के ताल्लुक़ादारों के हवाले कर दिया है और हुक्म दिया है कि उनमें रहें और उनको उसी स्थिति में क़ायम रखें ।

क़ैसरबाग़ का अंदरूनी सहन जिसमें पेड़-पौधे लगे हुए थे जिलौखाना (अस्तबल) कहलाता था । दरम्यान में पत्थर वाली बारहदरी थी जो आज-कल लखनऊ का टाऊन हाल है । उसमें और कई इमारतें भी थीं जिन्होंने जमीन के उस हिस्से को संसार की विलक्षण वस्तु बना दिया था । ये इमारतें क़ैसर बाग़ के पूर्वी फाटक के बाहर थीं । लोगों को उस फाटक से निकलते ही दोनों तरफ लकड़ी के पर्दे मिलते थे जिनमें से गुजरकर वे चीनी बाग़ में पहुंचते । वहां से बायें हाथ की तरफ मुड़कर आप जलपरियों के एक आलीशान फाटक पर पहुंचते जिस पर प्रधान मंत्री नवाब अली नक़ी खां का क़याम रहता था ताकि हर वक्त जहांपनाह से क़रीब रहें और ज़रूरत के वक्त फ़ौरन बुलाये जा सकें । इस फाटक के उस तरफ हज़रत बाग़ था और अंदर ही दाहिनी तरफ चांदी वाली बारहदरी थी । यह एक मामूली ईंट-चूने की इमारत थी मगर छत में चांदी के पत्तर जड़े होने की वजह से चांदी वाली बारहदरी कहलाती थी । इसी से लगी हुई कोठी 'ख़ास मकाम' थी जिसमें खुद जहांपनाह सलामत रहते और वहीं नवाब सआदत अली खां की बनायी हुई पुरानी कोठी 'बादशाह मंज़िल' थी ।

फिर इन लकड़ी के स्क्रीनों के गलियारे से निकलकर दूसरी तरफ मुड़िए तो पेचीदा इमारतों का एक सिलसिला दूर तक चला गया था जो चौलक्खी के नाम से मशहूर थी। इन इमारतों की बुनियाद हुज़ूरी नाई अज़ीमउल्लाह ने रखी थी जिन्हें बादशाह ने चार लाख रुपया देकर मोल लिया था। नवाब की ख़ास बेगम और दूसरी प्रतिष्ठित पत्नियां इसमें रहती थीं। इसी के अंदर ग़दर के ज़माने में हज़रत महल का क़याम रहा और यहीं उनका दरबार हुआ करता था।

यहां से एक सड़क क़ैसर बाग़ की तरफ आयी थी जिसके किनारे एक बड़ा भारी सायादार दरख़्त था। इसके नीचे आसपास संगमरमर का एक सुंदर गोल चबूतरा बनाया गया था जिस पर क़ैसर बाग़ के मेलों के ज़माने में जहांपनाह जोगी बनकर और गेरुए कपड़े पहनकर आते और धूनी रमाकर बैठते। इस चबूतरे से आगे बढ़कर एक आलीशान फाटक था जो चौलक्खी फाटक कहलाता था इसलिए कि उसके बनने में एक लाख रुपये खर्च हुए थे और इससे बढ़कर आप फिर कैसर बाग़ में आ जाते। क़ैसर बाग़ की इमारत में सल्तनत के अस्सी लाख रुपये ख़र्च हुए थे और उसके चारों तरफ की इमारतों में जहांपनाह की बेगमें और परियों जैसी सुंदर स्त्रियां रहती थीं जिनकी जगह अब अजीब-ग़रीब सूरतों को देखकर बाज़ पुराने ज़मानेवाले कह उठा करते हैं :

परीनहुफ़्ता रुखां-ओ-देव दरकरिश्मा-ओ नाज़
बसौख़्त अक़्लज़ हैरत कि ईंचे बुलअजबीस्त[1]

कैसर बाग़ के पश्चिमी फाटक के बाहर रौशनउद्दौला की कोठी थी। उसे वाजिद अली शाह ने ज़ब्त करके उसका नाम 'क़ैसर पसंद' रख दिया था और उनकी एक प्रेमिका नवाब माशूक महल उसमें रहती थीं। अब उसमें डिप्टी कमिश्नर साहब की अदालत है। उसके सामने और क़ैसर बाग़ के उस पश्चिमी पहलू पर भी एक दूसरा अस्तबल था।

साल में एक बार क़ैसर बाग में एक शानदार मेला होता था। जिसमें पब्लिक को भी क़ैसर बाग में आने और जहांपनाह की विलासिता का रंग देखने का मौका मिल जाता था। बादशाह ने श्रीकृष्णजी का रास, जो हिंदुओं

[1]परी ने अपना चेहरा छिपा लिया है और देव (राक्षस) नाज़-नख़रे दिखा रहा है। अक्ल हैरान है कि यह सब कैसे हुआ ?

में प्रचलित है, देखा था और श्रीकृष्णजी की प्रणय-लीला ऐसी पसंद आ गयी थी कि इस रास से ड्रामे के तौर पर एक खेल बनाया था जिसमें खुद कन्हैया बनते, बेगमें गोपियां बनतीं और नाच-रंग की महफ़िलें गर्म होतीं। कभी जवानी के जोश में आकर जोगी बन जाते, मोतियों को जलाकर भभूत बनायी जाती जिसके कारण फ़क़ीरी में भी शाही के करिश्मे नज़र आते। मेले के ज़माने में इन सभाओं में शामिल होने के लिए आम शहरियों को इजाज़त हो जाती। लेकिन शर्त यह थी कि गेरुए कपड़े पहन कर आयें। नतीजा यह होता था कि अस्सी-अस्सी बरस के बुड्ढे भी काशाय पहनकर छैला बन जाते और बादशाह की जवानी की आनंद-मदिरा से अपने बुढ़ापे का जाम भर लेते।

यही रंग चला जाता था और लखनऊ में बड़ी बेफ़िक्री के साथ रंगरेलियां मनाई जा रही थीं कि ब्रिटिश सरकार को रेज़िडेंटों ने यहां के हालात से आगाह किया और वहां के बोर्ड ने यह फ़ैसला कर दिया कि अवध प्रदेश का राज्य ब्रिटेन में शामिल कर लिया जाये। इस हुक्म की तामील के लिए अंग्रेज़ फौज लखनऊ में आई और यकायक उम्मीद के ख़िलाफ़ बादशाह को हुक्म सुनाया गया कि, "आपका राज्य अंग्रेज़ साम्राज्य में शामिल कर लिया गया है। आपके लिए बारह लाख रुपया सालाना और आपके तुलूसी लश्कर[1] के लिए तीन लाख रुपया सालाना पेंशन जो आपकी और आपके आश्रितों की ज़रूरतों के लिए बहुत काफी है मुक़र्रर की गयी है और आपको इजाज़त है कि शहर के अंदर आराम से बेफ़िक्र बनकर बैठिये और रिआया की फ़िक्रों से आज़ाद होकर बेधड़क रंगरेलियां मनाइये।" यह हुक्म सुनते ही शहर में सन्नाटा हो गया। खुद बादशाह ने रो-धोकर बहुत कुछ माफ़ी-तलाफ़ी की। बादशाह की मां और ख़ास महल ने वकालत का भी हक़ अदा किया लेकिन गवर्नर जनरल बहादुर के हुक्म में रद्दोबदल करना रेज़िडेंट साहब के इख़्ति-यार से बाहर था। ईस्ट इंडिया कंपनी की गवर्नमेंट ने बिना किसी विरोध के अवध प्रांत पर क़ब्ज़ा कर लिया और बादशाह अपनी मां, युवराज, ख़ास बेगमात और सच्चे साथियों को लेकर कलकत्ता रवाना हुए कि इंग्लैंड जाकर अपील करें और अपनी बेगुनाही साबित करके सल्तनत के ख़ात्मे के हुक्म को मंसूख करायें।

---

[1] बादशाह की गद्दीनशीनी से संबद्ध सेना।

वाजिद अली शाह की यह बड़ी खुशनसीबी थी कि ताज-तख्त से जुदा होते ही आखिर 1856 ई० में लखनऊ छोड़कर कलकत्ता की तरफ रवाना हो गये ताकि अपने मामले में बाज़ाब्ता पैरवी करें और गवर्नर जनरल हिंद के दरबार से कामयाबी न हो तो लंदन पहुंच कर मुकदमे को पार्लमेंट और इंग्लिस्तान की मल्का के सामने पेश कर दें। चुनांचे जब कलकत्ता में काम न निकला तो इंग्लिस्तान जाने का इरादा किया मगर हकीमों ने समुद्र यात्रा बादशाह के लिए नुक़सानदेह बताई और उनके सलाहकारों ने रोका। नतीजा यह हुआ कि खुद बादशाह तो कलकत्ता ही में ठहर गये मगर अपनी मा और भाई के साथ युवराज को इंग्लैंड भेज दिया। इस सफर में मेरे नाना मुंशी क़मरउद्दीन साहब भी उस अभागे बादशाही काफिले के साथ थे। बादशाह ने अंग्रेज़ सरकार का प्रस्तावित वेतन लेने से इंकार कर दिया था और अड़े हुए थे कि हम तो अपना ताज-तख्त ही लेंगे जो बेक़सूर छीना गया है।

बादशाह कलकत्ता में थे, इनका खानदान लंदन में था और मामले पर अभी विचार हो रहा था कि यकायक कारतूसों के झगड़ों और गवर्नमेंट की ज़िद ने 1857 ई० में ग़दर पैदा कर दिया और मेरठ से बंगाल तक ऐसी आग लगी कि अपने-पराये सबके घर जल उठे। और ऐसा हंगामा पैदा हुआ कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश गवर्नमेंट की बुनियाद ही हिलती नज़र आती थी। जिस तरह मेरठ वग़ैरा के बाग़ी हर तरफ से सिमटकर दिल्ली में जमा हुए थे और शाह ज़फ़र को हिंदुस्तान का शंहशाह बनाया था, वैसे ही इलाहाबाद और फ़ैज़ाबाद के विद्रोही मई 1857 ई० में पूरे जोश के साथ लखनऊ पहुंचे। उनके आते ही यहां के भी बहुत से बेफ़िक्रे उठ खड़े हुए और अवध के शाही खानदान का और कोई सदस्य न मिला तो वाजिद अली शाह के एक दस बरस के नाबालिग बच्चे मिर्ज़ा बीरजीस क़द्र को तख्त पर बिठा दिया और उनकी मा नवाब हज़रत महल सल्तनत की मुख्तार बनी। थोड़ी-सी अंग्रेज फ़ौज जो यहां मौजूद थी और उसके साथ यहां तमाम योरुपियन ओहदेदार जो बाग़ियों के साथ से बच सके बेली गारद में क़िलाबंद हो गये जिसके पास बाग़ियों के पहुंचने से पहले ही क़िले बना लिये गये थे और सुरक्षा का काफ़ी

प्रबंध कर लिया गया था। ग़नीमत हुआ या यह कहिए कि क़िस्मत अच्छी थी कि वाजिद अली शाह लखनऊ से जा चुके थे वर्ना वही ख़्वाहमख़्वाह बादशाह बनाये जाते। उनका हश्र ज़फ़र शाह से भी बदतर होता और अवध के अभागों को ज़रा पनपने के लिए मटिया बुर्ज के दरबार का जो क्षणिक सहारा मिल गया था वह भी न नसीब होता।

अब लखनऊ में अंग्रेज़ों की बाग़ी फ़ौज के अलावा अवध के अक्सर ज़मींदार और ताल्लुकेदार और बादशाह के जमाने में अलग किये गये सिपाही बहुत बड़ी संख्या में मौजूद थे। उनमें शहर के बहुत से व्यभिचारियों और हर वर्ग के लोगों का तूफ़ाने-बेतमीज़ी भी शरीक हो गया था। मालूम होता था कि थोड़े से अंग्रेज़ों पर असंख्य विद्रोही टूट पड़े हैं। मगर फ़र्क़ यह था कि घेरा डालनेवालों में सिवाय शहर के लफंगों और अपने को बहादुर समझनेवाले थोथे और उद्दंड लोगों के एक भी ऐसा व्यक्ति न था जो युद्ध कला से परिचित हो और सारी बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करके एक बाज़ाब्ता फ़ौज बना सके। इसके विपरीत अंग्रेज़ अपनी जान पर खेलकर अपनी रक्षा करते, सिर हथेली पर रखकर हमलावरों को रोकते थे और आधुनिक युद्ध कौशल से अच्छी तरह परिचित थे।

अब लखनऊ में बिरजीस क़द्र का जमाना और हज़रत महल की हुकूमत थी। बिरजीस क़द्र के नाम का सिक्का जारी हुआ, सल्तनत के ओहदेदार मुक़र्रर हुए, सूबे से मालगुज़ारी वसूल होने लगी और सिर्फ मनोरंजन के लिए घेरा डालने की कार्रवाई भी जारी थी। लोग हजरत महल की तत्परता और नेकी की तारीफ़ करते हैं। वे सिपाहियों की बहुत क़द्र करतीं और उनके काम और हौसले से ज्यादा इनाम देती थीं। मगर इसका क्या इलाज कि यह मुमकिन न था कि वे खुद पर्दे से निकल कर फ़ौज की सिपहसालार बन जातीं। उनके सलाहकार अच्छे न थे और सिपाही काम के न थे। हर व्यक्ति स्वार्थी था और कोई किसी का कहना न मानता था। अंग्रेज फ़ौज के बाग़ी इस घमंड में थे कि यह सब कुछ हमारी ही वजह से है, असली शासक हम ही हैं और जिसके सिर पर जूता रख दें वही बादशाह हो जाये। एहमदउल्लाह नाम के एक शाह साहब जो फ़ैज़ाबाद के बागियों के साथ आये थे और कई लड़ाइयों में लड़ चुके थे, वह अपना रौब जमा रहे थे। बल्कि खुद अपनी हुकूमत क़ायम करना चाहते थे। बिरजीस क़द्र के मुकाबिले पर लखनऊ ही में उनका

दरबार अलग क़ायम था और दोनों दरबारों में राजनीतिक विरोध के साथ शीग्रा-सुन्नी का झगड़ा और तास्सुब भी सामने आने लगा। ग़रज बादशाह और शाह साहब में शत्रुता बढ़ती जाती थी। आख़िर उसी साल नवंबर के महीने में बिरजीस क़द्र की गद्दीनशीनी को छह-सात महीने ही हुए थे कि अंग्रेज़ फौज लखनऊ पर क़ब्ज़ा करने के लिए आ गयी जिसके साथ पंजाब के सिख और भूटान के पहाड़ी भी थे और कहा जाता है कि उन्हीं लोगों ने ज़्यादा जुल्म किये। दो ही तीन दिन की गोलाबारी मे नयी सल्तनत का जो निशान नज़र आया था, मकड़ी के जाले की तरह टूटकर रह गया। हज़ारों भगोड़ों के साथ हज़रत महल और बिरजीस क़द्र नेपाल की तरफ भागे। शाह साहब ने दो-तीन दिन लड़-लड़ कर हालांकि बिरजीस क़द्र के लिए आज़ादी से भागने का मौका पैदा कर दिया, मगर ख़ुद अपनी जान न बचा सके। हार खाकर भागे। बाड़ी और मुहम्मदी होते हुए पवाई मे पहुंचे। वहां किसी ने गोली मार दी। पवाई के राजा ने सिर काटकर अंग्रेजों के पास भेजा और बदले में इनाम और जागीर पायी।

आबादी को बागियों से साफ करने के लिए अंग्रेज़ो ने शहर में सख्त गोलाबारी की। सारी रिआया घबरा उठी, मर्द-औरतें घर छोड़कर भागीं और एक ऐसी क़यामत आ गयी कि जिन लोगों ने देखा है आज तक याद करके कांप जाते हैं। मुहल्ले की बैठने वालियां जिन की सूरत कभी सूरज तक ने न देखी थी नंगे पैर जंगलों की ख़ाक छानती फिरती थीं। बेकसी में एक-एक का दामन पकड़ती थीं और जो मिलता था दुश्मन ही मिलता था और 'सादी' का यह मिसरा पूरी तरह चरितार्थ हो रहा था कि "यारां फ़रामोश करदंद इश्क" (प्रेमी प्रेम करना भूल गये)। इसी हालत में विजेता सेना ने शहर को लूटा और जब सब कुछ नष्ट हो गया तब कहीं ख़ुदा-ख़ुदा करके लोगों को फिर अपने घरों में आने की इजाज़त मिली। अब एक तहल्के के बाद जो शांति स्थापित हुई थी वह आज तक क़ायम है और रोज़-बरोज़ तरक़्क़ी करती जाती है। लेकिन पुरानी सल्तनत के कर्ता-धर्ता और बादशाह के रिश्तेदार और दोस्त, जो सल्तनत के खात्मे के बाद बिल्कुल बेकार हो गये और नयी सल्तनत से फ़ायदा उठाने की योग्यता न रखते थे, मिटते ही चले गये। चुनांचे बड़े-बड़े धनवान और प्रतिष्ठित घरानों के बरबाद होने का सिलसिला मुद्दत तक बराबर जारी रहा। मुहल्ले के मुहल्ले उजड़ते चले जाते

थे और ख़ानदान के बाद खानदान मिट रहा था और अक्सर लोगों को यक़ीन हो गया था कि चंद रोज़ के बाद लखनऊ का नामो-निशान भी बाक़ी न रहेगा। लेकिन आखिरकार अंग्रेज़ सरकार की वह नीति जिसके कारण दुनिया में अंग्रेज़ों ने अपने उपनिवेश क़ायम किये हैं, सफल हुई और लखनऊ उस समय की दुर्घटनाओं से बच निकला और पनपने लगा। जिन्हें मिटना था मिट गये और जो बाक़ी रहे वे संभलने योग्य हो गये और अगर मि० बटलर जैसे कुछ और अधिकारी लखनऊ को मिल गये तो उम्मीद है कि आइंदा बहुत तरक़्क़ी करेगा।

ज़रूरत मालूम होती है कि घटनाओं के इसी क्रम में हम वाजिद अली शाह की बाक़ी ज़िंदगी और कलकत्ता में उनके प्रवास के समय के हालात भी अपने पाठकों के सामने पेश कर दें क्योंकि बिना इसके यह इतिहास पूरा नहीं हो सकता। कलकत्ता में खुद हमारा बचपन बादशाह की छत्रछाया में गुज़रा है और अगर पिछली बातें हमने लोगों से सुनकर और इतिहास के पन्नों में पढ़ कर बयान की हैं तो आइंदा आंखों देखे हालात बयान करेंगे।

कलकत्ता से तीन-चार मील की दूरी पर दक्षिण की ओर हुगली नदी किनारे "गार्डन रिज" नामक एक शांत मुहल्ला है और चूंकि वहां मिट्टी का एक तौदा-सा था, इसलिए आम लोग इसे मटिया बुर्ज कहते है। यहां कई आलीशान कोठियां थीं जिनकी ज़मीन दरिया के किनारे-किनारे लगभग दो ढाई मील तक चली गयी है। जब वाजिद अली शाह कलकत्ता पहुंचे तो गवर्नमेंट आफ इंडिया ने ये कोठियां उन्हें दे दीं : दो खास बादशाह के लिए, एक नवाब ख़ास महल के वास्ते और एक अली नक़ी खां के रहने के लिए जो बादशाह के साथ थे और उनके गिर्द जमीन का एक बड़ा टुकड़ा, जो चौड़ाई में नदी के किनारे से लगभग मील-डेढ़ मील तक चला गया था और उसका हल्का छह-सात मील से कम न होगा, बादशाह को अपने और अपने कर्मचारियों के निवास के लिए दिया गया। म्युनिसिपैलिटी की सड़क इस रक़बे की लंबाई के बीच से गुज़रती थी। वे दो कोठियां जो बादशाह को दी गयी थीं उनके नाम बादशाह ने "सुल्तान खाना" और "असद मंज़िल" क़रार दिये। नवाब ख़ास महल की कोठी पर जब बादशाह ने क़ब्ज़ा कर लिया तो उसका नाम "मुरस्सा मंज़िल" रखा और अली नक़ी खां की कोठी आखिर तक उन्हीं के क़ब्जे मे रही और उनके बाद उनकी औलाद, खासतौर से नवाब

अख़्तर महल के क़ब्ज़े में रही जो अली नक़ी ख़ां की बेटी और बादशाह की ख़ास बीबी बल्कि उनके दूसरे युवराज मिर्ज़ा ख़ुशबख़्त बहादुर की मां थीं।

ग़दर के ज़माने में अंग्रेज फ़ौज के बाग़ी अफसरों ने इरादा किया कि अगर बादशाह उनके शासक बनें तो वे कलकत्ता में ग़दर कर दें। मगर बादशाह ने गवर्नमेंट आफ इंडिया के मामले में यह नीति उस समय भी न अपनायी थी जब उन्हें गद्दी से उतारा गया था और न अब पसंद की बल्कि लाट साहब को उन लोगों के इरादे की इत्तिला कर दी जिस पर उन्हें धन्यवाद दिया गया। मगर दो ही चार रोज़ के बाद मुनासिब समझा गया कि बादशाह को फ़ोर्ट विलियम में रखा जाये ताकि फिर कभी बाग़ी उन तक न पहुंच सकें। लंदन में उनकी ओर से जो मुक़दमा पेश था वह इस कारण से मुल्तवी कर दिया गया कि जिस देश के लिए यह दावा है वह अब हमारे क़ब्जे में ही नहीं, जब उस पर फिर ब्रिटिश साम्राज्य का अधिकार होगा तब देखा जायेगा।

बादशाह हिरासत ही में थे कि लखनऊ का उपद्रव शांत हो गया और मसीहउद्दीन ख़ां ने, जो लंदन में बादशाह के मुख़्तार-ए-आम थे, फिर अपना दावा पेश किया। उन्हें शुरू-शुरू में कामयाबी और सल्तनत की बहाली की पूरी उम्मीद थी मगर बदक़िस्मती से उन लोगों में जो किले में बादशाह के सलाहकार और मुसाहिब थे—चाहे किसी बाह्य प्रेरणा से या खुद अपने फ़ायदे के ख़याल से—एक साज़िश हुई। उन लोगों ने सोचा कि अगर मसीहउद्दीन ख़ां मुक़दमा जीत गये तो हमें कौन पूछेगा और बस वही वह रह जायेंगे। लिहाजा सबने बादशाह को समझाना शुरू किया कि "जहांपनाह, भला कभी किसी ने मुल्क लेकर दिया है ? मसीहउद्दीन ख़ां ने हुज़ूर को धोखे में डाल रखा है। होना-हवाना कुछ नहीं है और जहांपनाह मुफ़्त में तकलीफ़ उठा रहे हैं। डेढ़-दो साल से तनख़्वाह नहीं ली है, हर बात की तंगी है और हम सरकार के नौकर भी पैसे-पैसे को मोहताज हैं। मुनासिब यह है कि हुज़ूर अंग्रेज़ सरकार के प्रस्तावों को मान लें और तनख़्वाह वसूल करके इत्मिनान और बेफ़िक्री से अपनी बेगमात और सरकारी नौकरों के साथ ज़िंदगी बसर फरमायें।" बादशाह को ख़र्च की तंगी थी और बादशाह से ज़्यादा उनके साथी परेशान थे। मुसाहिबों ने जब बार-बार यह सुझाव दुहराया तो उन्होंने बिना झिझक के वाइसराय को लिख भेजा, "मुझे अंग्रेज़ सरकार की प्रस्तावित पेंशन स्वीकार

है, लिहाज़ा मेरी इस वक़्त तक की तनख़्वाह दी जाये और मुक़दमा जो लंदन में दायर है, खारिज किया जाये।" जवाब मिला, "अब आपको पहले तो पिछले दिनों की पेंशन नहीं दी जायेगी, सिर्फ इस वक़्त से पेंशन जारी होगी। दूसरे सिर्फ बारह लाख रुपये सालाना दिये जायेंगे और जो तीन लाख रुपये सालाना आपके मुलाज़िमों के लिए तय किये गये थे अब उनके देने की ज़रूरत नहीं समझी जाती।"

अधिक संभावना तो यह थी कि बादशाह इस नुकसान को बर्दाश्त नहीं करते, मगर मुसाहिबों ने इस पर भी राज़ी कर दिया। गवर्नमेंट आफ इंडिया ने इंग्लिस्तान में इत्तला दी कि वाजिद अली शाह ने सरकार के प्रस्ताव स्वीकार कर लिये, लिहाज़ा उनका मुक़दमा ख़ारिज किया जाये। ये घटनाएं मैंने खुद अपने नाना मुंशी क़मरउद्दीन साहब की ज़बान से सुनी है जो बादशाह के साथ गये दफ्तर के मीर मुंशी और मौलवी मसीहउद्दीन खां के नायब-ए-खास थे और कुल कार्रवाइयां उन्हीं के हाथ से अमल में आती थीं। बादशाह के पेंशन पर राज़ी हो जाने की खबर जैसे ही लंदन पहुंची, मसीहउद्दीन खां के होश जाते रहे। बादशाह की मां, उनके भाई और युवराज ने सिर पीट लिया और हैरान थे कि यह क्या गजब हो गया। अफ़सोस इस वक़्त तक का सब किया-धरा ख़ाक में मिला जाता है। आख़िर मसीहउद्दीन खां ने सोचते-सोचते एक बात पैदा की और पार्लमेंट में यह क़ानूनी आपत्ति पेश की कि "बादशाह फ़िलहाल गवर्नमेंट आफ इंडिया की हिरासत में हैं और ऐसी हालत में उनका कोई बयान विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।" आपत्ति ठीक ही थी और मान ली गयी। गवर्नमेंट आफ इंडिया को बादशाह के मुख़्तार की आपत्ति की सूचना दी। साथ में मसीहउद्दीन खां और शाही ख़ानदान के सभी सदस्यों ने बादशाह को लिखा: "यह आप क्या ग़ज़ब कर रहे हैं? हमें अवध का राज्य वापस मिलने की पूरी उम्मीद है।" अब ग़दर खत्म हो चुका था। गवर्नमेंट ने बादशाह को छोड़ दिया और खुशी-खुशी क़िले से निकल कर मटिया बुर्ज में आये और आज़ादी हासिल हुई ही थी कि मुसाहिबों ने अर्ज़ किया, "हुज़ूर! मसीहउद्दीन खां लंदन में यह कह रहे हैं कि जहांपनाह ने तनख़्वाह लेने को सिर्फ क़ैद होने की वजह से मंजूर कर लिया है।" यह सुनते ही बादशाह ने उत्तेजित होकर उसी वक़्त लिख भेजा कि, "हमने आज़ादी से और अपनी रज़ामंदी से गवर्नमेंट के प्रस्ताव को स्वीकार किया है और

मसीहउद्दीन खां का यह कहना बिल्कुल ग़लत है कि हमने क़ैद में होने या किसी ज़ोर-ज़बरदस्ती की वजह से मंज़ूरी दी है। लिहाजा हम आइंदा के लिए उस मुख़्तारनामे ही को मसूख किये देते है जिसके अनुसार वे हमारे मुख़्तार-ए-आम बनाये गये हैं।"

अब क्या था, सारी कार्रवाई ख़त्म हो गयी। बादशाह मटिया बुर्ज मे रंगरेलियां मनाने लगे, मुसाहिबों के घरों में धन बरसने लगा और शाही ख़ानदान का अभागा काफ़िला जो इंग्लिस्तान में पड़ा हुआ था, क़रीब-क़रीब वहीं तबाह हो गया। अक्सर साथियों ने साथ छोड़ दिया, बादशाह की मा इस सदमे से बीमार हो गयी और इसी बीमारी में चलीं कि फ्रांस से होती हुई मुस्लिम तीर्थ स्थानों में जायें और उनके दर्शन लाभ करके कलकत्ता पहुंचें। मगर मौत ने पेरिस के आगे क़दम न बढ़ने दिया, वहीं उनका निधन हो गया। फ्रांस के उस्मानी दूतावास की मस्जिद के पास मुसलमानों का एक क़ब्रिस्तान है उसी में दफ़्न हुईं। मिर्ज़ा सिकंदर हश्मत को मां के मरने का ऐसा सदमा हुआ कि मां के मरते ही ख़ुद भी बीमार पड़ गये और मां के चौदह-पंद्रह रोज़ बाद वे भी मां के बराबर लिटा दिये गये। सिर्फ़ युवराज कलकत्ता वापस आकर मां-बाप से मिले।

कहते है कि शुरू-शुरू में मटिया बुर्ज में भी बादशाह की ज़िंदगी बहुत सूझबूझ और होशियारी की थी। यह हालत देखकर पास-पड़ोस के लोगों ने कुछ वाद्य लाकर दे दिये, फौरन 'ऊंघते को ठेलते का बहाना' कहावत चरितार्थ हुई और आनंद-मंडली वहां भी जमा होने लगी। हिंदुस्तान के अच्छे-अच्छे गवैये आकर नौकर हुए और मटिया बुर्ज में संगीतकारों का ऐसा जमघट हो गया कि और किसी जगह न था।

सुंदर स्त्रियों के एकत्र करने और प्रेम-प्रणय की क्रियाओं में फसे रहने का वहां भी वैसा ही शौक़ था जैसा कि लखनऊ में सुना जाता है, मगर मटिया बुर्ज में इस शौक़ में कुछ मज़हबी एहतियात भी बरती जाने लगी। बादशाह शीआ थे और शीओं के धर्म में मुत्आ[1] बिना किसी रोक-टोक के जायज़ है। इस मज़हबी आज़ादी से फ़ायदा उठाकर बादशाह जी भर के अपना शौक़ पूरा कर लेते और क़ायदा था कि ऐसी औरत की, जिसके साथ मुत्आ न हुआ हो, सूरत देखना भी पसंद न करते। यह एहतियात इस हद तक

[1] एक निश्चित अवधि के लिये किया गया विवाह।

बढ़ी हुई थी कि एक जवान भिश्तन जो बादशाह के सामने ज़नाने में पानी लाती उसे भी मुत्ग्रा करके उसे नवाब ग्राबरसां बेगम का खिताब दे दिया। एक जवान भंगन जिसकी हुज़ूरी में ग्रामद-रफ़्त रहती उसे भी मुत्ग्राशुदा बेगमात में शामिल करके नवाब मुसफ्फा बेगम का खिताब दिया गया। इसी तरह संगीत का शौक़ भी मुत्ग्राशुदा ग्रौरतों तक ही सीमित रहता। शायद ही कभी ऐसा रहा होगा कि बादशाह ने कभी किसी बाज़ारी वैश्या का मुजरा देखा हो। खुद मुत्ग्राशुदा बेगमों की पार्टियां बना दी गयी थीं जिन्हें विभिन्न प्रकार के नृत्य-गान की शिक्षा दी जाती थी। एक राधा मंज़िल-वालियां, एक झूमरवालियां, एक लटकनवालियां, एक शारदा मंज़िलवालियां, एक नथवालियां, एक घूंघटवालियां, एक रासवालियां, एक नक़लवालियां ग्रौर इसी तरह के बीसों गिरोह थे जिनको नाच-गाने की ऊंची शिक्षा दी गयी थी ग्रौर उन्हीं के नाच-गाने में उनका दिल बहलता था। उन सबसे मुत्ग्रा हो गया था, बेगमें कहलाती थीं ग्रौर दो-एक गिरोहों में ग्रगर कुछ कम उम्र ग्रौर नाबालिग़ लड़कियां ऐसी थीं जिनके साथ मुत्ग्रा नहीं हुग्रा था तो उसकी वजह यह थी कि उनके बालिग़ होने पर उनके साथ मुत्ग्रा कर लिया जायेगा। उनमें से ग्रधिकतर खुद बादशाह के करीब खास सुल्तानखाने में रहतीं ग्रौर बाज़ को दूसरी कोठियों में ग्रलग महल सरायें मिली थीं। इन मुत्ग्राशुदा ग्रौरतों मे से जिनके संतान हो जाती उनको 'महल' का ख़िताब दिया जाता, रहने को ग्रलग महलसरा मिलती ग्रौर उनकी तनख्वाह ग्रौर इज़्ज़त बढ़ जाती।

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि संगीत के ग्रलावा ग्रौर तमाम हैसियतों से बादशाह बड़े संयमी थे ग्रौर धार्मिक सिद्धांतों का पालन करते थे। उनकी नमाज़ में कभी देर न होती थी, तीसों रोज़े रखते थे। ग्रफ़ीम, शराब, फ़लक सैर या ग्रौर किसी क़िस्म के नशे से ज़िंदगी भर परहेज करते रहे ग्रौर मुह-र्रम की मातमदारी बड़ी निष्ठा से किया करते थे।

तीसरा शौक़ उन्हें इमारत का था। सुल्तानखाने के पास बीसियों महल-सरायें बन गयीं ग्रौर बहुत-सी नयी कोठियां ग्रौर उनमें महलसरायें बनीं। गवर्नमेंट से सिर्फ सुल्तानख़ाना, ग्रसद मंज़िल ग्रौर मुरस्सा मंज़िल मिली थी मगर बादशाह के शौक़ ने चंद ही रोज़ में बीसियों कोठियां बनवा दीं जिनके ग्रासपास बहुत ही हरे-भरे ग्रौर ग्रानंददायक बाग़ थे। जिस वक़्त मैंने देखा है

बादशाह के क़ब्ज़े में निम्नलिखित आलीशान कोठियां थीं जो दक्षिण से उत्तर तक सिल-सिलेवार चली गयी थीं : सुल्तानखाना, क़स्र-उल-बैज़ा, गोशः-ए-सुल्तानी, शहंशाह मंज़िल, मुरस्सा मंज़िल, असद मंज़िल, शाह मंज़िल, नूर मंज़िल, तफ़रीह बख्श, बादामी, आसमानी, तहनियत मंज़िल, हद्द-ए-सुल्तानी सद्द-ए-सुल्तानी, अदालत मंज़िल। इनके अलावा और भी कई कोठियां थीं जिनके नाम मुझे याद नहीं रहे।

इनके अलावा बाग़ों के अंदर तालाबों के किनारे बहुत से कमरे, बंगले और छोटे-छोटे महल थे। इन तमाम कोठियों, कमरों, बंगलों और महलों में साफ़-सुथरा फ़र्श बिछा रहता, चांदी के पलंगों पर बिछौने और तकिये लगे रहते, तस्वीरें और तरह-तरह का फ़र्नीचर सजा होता और सिर्फ़ देखभाल के ख़याल से ज़रूरत से ज़्यादा मकानदार मुक़र्रर थे जो रोज़ झाड़ते और हर चीज़ को सफ़ाई और सलीक़े से सजाकर रखते। ग़रज़ हर कोठी अपने में इतनी सजी हुई नज़र आती कि इंसान चकित हो जाता। कोठियों के आसपास के बाग़ और चमन ऐसे अंकों और ज्यामिति की आकृतियों के अनुसार बनाये गये थे कि देखने वालों को बादशाह की स्थापत्य कला के प्रति स्वाभाविक रुचि पर आश्चर्य होता।

लखनऊ में तो बादशाह ने सिर्फ़ क़ैसर बाग़ और उसके पास की चंद इमारतें या अपने वालिद का इमामबाड़ा और मक़बिरा ही बनवाया था, मगर मटिया बुर्ज में बढ़िया और ऊंचे दर्जे की इमारतों का एक ख़ूबसूरत शहर बसा दिया था। दरिया के उस पार मटिया बुर्ज के ठीक सामने कलकत्ते का मशहूर पौलिटिकल गार्डन है मगर वह मटिया बुर्ज की दुनियवी जन्नत और उसकी अजीब-अजीब चीजों के सामने मिट गया था। इन तमाम इमारतों, बग़ीचों, कुंजों और विस्तृत हरी-भरी चारागाहों के गिर्द बुलंद दीवारों का अहाता था, मगर म्युनिसिपैलिटी के आम रास्ते के किनारे-किनारे लगभग एक मील तक शानदार दुकानें थीं और उनमे वही निचले दर्जे के नौकर रह पाते थे जिन्हें अपने फ़र्ज पूरे करने के लिए वहां रहने की ज़रूरत थी। मगर अंदर जाने क़ा रास्ता सिवाय फाटकों के जिन पर पहरा रहता, किसी दुकान में नहीं रखा गया था। ख़ास सुल्तानखाने के फाटक पर निहायत शानदार नौबतख़ाना था। नक़्क़ारची नौबत बजाते और पुराने पहरों और घड़ियों के हिसाब से दिन-रात घड़ियां बजाया करते थे।

दुनिया में इमारत के शौकीन हजारों बादशाह गुज़रे हैं मगर अपनी पसंद और शौक़ से किसी बादशाह ने इतनी इमारतें और इतने बाग़ न बनवाये होंगे जितने कि वाजिद अली शाह ने अपनी असफल ज़िंदगी और नाममात्र की बादशाही के थोड़े से अर्से में बनवाये। शाहजहां के बाद इस संबंध में अगर किसी का नाम लिया जा सकता है तो वह इसी अत्याचार-ग्रस्त अवध-नरेश का नाम है। यह और बात है कि कोई ख़ास इमारत सैकड़ों-हज़ारों साल तक बाक़ी रही और किसी की सैकड़ों इमारतें ज़माने ने चंद ही रोज़ में मिटाकर रख दीं।

इमारत के अलावा बादशाह को जानवरों का शौक़ था और उस शौक़ को भी उन्होंने इस दर्जे तक पहुंचा दिया कि दुनिया उसका सानी पैदा न कर सकी और शायद किसी व्यक्ति की कोशिश उसके आधे दर्जे को भी न पहुंच सकी होगी।

नूर मंज़िल के सामने लोहे के एक सुंदर कटहरे से घेरकर एक लंबा-चौड़ा रास्ता बनाया गया था जिसमें सैकड़ों चीतल, हिरन और जंगली चौपाये[1] छूटे फिरते थे। उसी के दरम्यान संगमरमर का एक पुख़्ता तालाब था जो हर वक्त लबालब भरा रहता और उसमें शुतुरमुर्ग किशोरी,[1] फ़ील-मुर्ग,[2] सारस, क़ाज़ें,[3] बगले, क़रक़रे,[4] हंस, मोर, चकोर और सैकड़ों क़िस्म के पक्षी और कछुवे छोड़ दिये गये थे। सफाई का ऐसा प्रबंध था कि मजाल क्या जो कहीं बीट या किसी जानवर का पर भी नज़र आ जाये। एक तरफ तालाब के किनारे कटहरों में शेर थे और उस चारागाह के पास ही लकड़ी के सलाखदार बड़े-बड़े ख़ानों का एक सिलसिला शुरू हो गया था जिसमें बीसियों तरह के और खुदा जाने कहां-कहां के बंदर लाकर जमा किये गये थे जो अजीब-अजीब हरकतें करते और इंसान को बिना अपना तमाशा दिखाये आगे न बढ़ने देते।

हौज़ों में अनेक स्थानों पर मछलियां पाली गयी थीं जो इशारे पर जमा हो जातीं और कोई खाने की चीज़ डालिये तो अपनी उछल-कूद से खूब बहार दिखातीं। सबसे बढ़कर यह कि शहंशाह मंज़िल के सामने एक बड़ा-सा लंबा और गहरा हौज़ कायम करके और उसके किनारों को चारों तरफ से खूब

---

[1]छोटे पशु, [2]मोर की जाति का पक्षी, टर्की,
[3]बड़ी बत्तख, [4]एक सुंदर पक्षी।

चिकना करके और आगे की तरफ झुकाकर उसके बीच में एक कृत्रिम पहाड़ बनाया गया था जिसके अंदर सैकड़ों नालियां दौड़ाई गयी थीं और ऊपर से दो-एक जगह काटकर पानी का सोता भी बहा दिया गया था। उस पहाड़ी में हज़ारों बड़े-बड़े दो-दो, तीन-तीन गज के लंबे सांप छोड़ दिये गये थे जो बराबर दौड़ते और रेंगते फिरते। पहाड़ की चोटी तक चढ़ जाते और फिर नीचे उतर आते। मेढकें छोड़ी जातीं, उन्हें दौड़-दौड़ कर पकड़ते। पहाड़ के इर्द-गिर्द नहर की शान से एक नाली थी। उसमें सांप लहरा-लहरा कर दौड़ते और मेढकों का पीछा करते और लोग बिना किसी डर के पास खड़े सैर देखा करते। उस पहाड़ के नीचे भी दो कटहरे थे जिनमें दो बड़ी-बड़ी चीतें रखी गयी थीं। वे यों तो खामोश पड़ी रहतीं लेकिन जिस वक़्त मुर्ग़ लाकर छोड़ा जाता उसे झपट कर पकड़तीं और पूरा-का-पूरा निगल जातीं। सांपों के रखने का इंतिज़ाम इससे पहले शायद कहीं न किया गया होगा और यह ख़ास वाजिद अली शाह का आविष्कार था जिसे यूरोप के पर्यटक आश्चर्य से देखते और उसकी तस्वीरें तथा उसका ब्योरा लिखकर ले जाते थे।

उपर्युक्त जानवरों के अतिरिक्त हज़ारों पक्षियों के पीतल के पिंजरे खास सुल्तानख़ाने के अंदर थे। बीसियों बड़े-बड़े हाल थे जो लोहे के जाल से सुरक्षित कर दिये गये थे और गंज कहलाते थे। उनमें भांति-भांति के पक्षी बहुत अधिक संख्या में लाकर छोड़ दिये गये थे और उनके रहने और पलने-बढ़ने का पूरा सामान जुटाया गया था। बादशाह की कोशिश थी कि चरिंद-परिंद में से जितनी क़िस्म के जानवर मिल सकें सब जमा कर लिये जायें और ऐसा पूरा, जिंदा चिड़ियाघर शायद संसार में और कहीं मौजूद न होगा। इन जानवरों को जुटाने में बेझिझक रुपया ख़र्च किया जाता और कोई शख़्स नया जानवर लाता तो मुंह मांगे दाम पाता। कहते हैं कि बादशाह ने रेशमपरे कबूतरों का जोड़ा चौबीस हज़ार रुपये में और सफेद मोर का जोड़ा ग्यारह हज़ार रुपये में लिया था। ज़िराफ़ जो अफ्रीका का बहुत बड़ा और बहुत ही अजीब जानवर है, उसका भी एक जोड़ा मौजूद था। दो कोहान के बग़दादी ऊंट हिंदुस्तान में कहीं नज़र नहीं आते लेकिन बादशाह के यहां थे। कलकत्ता में हाथी का नाम नहीं है मगर बादशाह के उस जिंदा नैचरल हिस्ट्री-म्यूज़ियम में एक हाथी भी था। सिर्फ़ इस ख़्याल से कि कोई जानवर रह न जाये दो गधे भी चारागाह में लाकर छोड़ दिये गये थे। दरिंदों में से शेर बबर,

देसी शेर, चीते, तेंदुए, रीछ, सियाहगोश,[1] चर्खे, भेड़िये सब कटहरों में बंद थे और उनकी बड़ी देखभाल रखी जाती थी।

कबूतरों का इंतिज़ाम दूसरे जानवरों से अलग था। बादशाह की विभिन्न कोठियों में सब मिलाकर चौबीस-पच्चीस हज़ार कबूतर थे जिनके उड़ाने में कबूतरबाज़ों ने बड़े-बड़े कमाल दिखाये थे।

जानवरों पर जो खर्च हो रहा था उसका मामूली-सा अंदाज़ा इससे हो सकता है कि आठ सौ से ज़्यादा जानवरबाज़ थे, तीन सौ के क़रीब कबूतरबाज़ थे, इतने ही मछली पालनेवाले थे और तीस-चालीस सांप पालनेवाले थे जिन्हें छह रुपया माहवार से लेकर दस रुपया माहवार तक तनख्वाहें मिलती थीं। अफसरों की तनख्वाहें तीस से बीस रुपये तक थीं और कबूतरों, सांपों और मछलियों के अलावा दीगर जानवरों की खुराक में कुछ कम हज़ार रुपये माहवार खर्च होते थे।

इमारत का काम ज़्यादातर मुनिसउद्दौला और रेहानउद्दौला के सुपुर्द रहा जिन्हें इमारत की मद में लगभग पच्चीस हज़ार माहवार मिला करते थे।

हज़ार के क़रीब पहरे के सिपाही थे जिनकी तनख्वाहें आमतौर पर छह रुपये माहवार थीं, बाज़-बाज़ आठ या दस रुपये भी पाते थे। यही तनख्वाह मकानदारों की थी जिनकी गिनती पांच सौ से ज़्यादा थी। क़रीब अस्सी मुहर्रिर थे जो दस से तीस रुपये माहवार तक तनख्वाह पाते थे। प्रतिष्ठित मुसाहिबों और ऊंचे ओहदेदारों की संख्या चालीस-पचास से कम न होगी जो अठासी रुपये माहवार पाते थे। सौ से ज्यादा कहार थे।

इनके अलावा बीसियों छोटे-छोटे महकमे थे : बावर्चीखाना, आबदारखाना, भिंडीखाना, खसखाना और खुदा जाने क्या क्या। फिर एक मद मुत्आशुदा बेगमों के रिश्तेदारों और भाई-बंदों की थी जिन्हें उनकी हैसियत के मुताबिक तनख्वाहें मिलती थीं।

इन सब लोगों ने कोठियों के रक़बे से बाहर, ज़्यादातर इसी ज़मीन पर, जो बादशाह को दी गयी थी और बहुतों ने पास की दूसरी ज़मीनों पर मकान बना लिये थे और एक शहर बस गया था जिसकी मर्दुमशुमारी चालीस हजार से ज़्यादा थी। उन सबकी ज़िंदगी का दारोमदार बादशाह की तनख्वाह के एक लाख रुपये माहवार पर था और किसी की समझ में न आता था कि इतने

[1] कुत्ते की जाति का एक पशु।

लोग इस थोड़ी-सी रकम में क्योंकर बसर कर लेते हैं। बंगाल में यह मशहूर था कि बादशाह के पास पारस पत्थर है—जब ज़रूरत होती है लोहे या तांबे को रगड़ कर सोना बना लिया करते हैं।

असल बात तो यह है कि बादशाह के रहने से कलकत्ता के पड़ोस में एक दूसरा लखनऊ आबाद हो गया था, असली लखनऊ मिट गया था और वहां के चुने हुए लोग मटिया बुर्ज में चले गये थे, बल्कि सच तो यह है कि उन दिनों लखनऊ लखनऊ नहीं रहा था, मटिया बुर्ज लखनऊ था। यही चहल-पहल थी, यही ज़बान थी, यही शाइरी थी, यही महफ़िलें और मनोरंजन की सामग्री थी। यहीं के विद्वान और संत थे, यहीं के अमीर और रईस थे और यहीं की जनता थी। किसी को नज़र ही न आता था कि हम बंगाल में हैं। यही पतंगबाज़ियां थीं, यही मुर्गबाज़ियां थीं, यही बटेरबाजियां थीं, यही अफ़ीमची थे, यही दास्तानगोई (कथा वाचन) थी और यही ताजियादारी थी, यही मर्सियाख्वानी थी, यही इमामबाड़े थे और यही कर्बला थी। बल्कि जिस शान-शौकत से बादशाह का खास ताज़िया उठता था लखनऊ में बादशाहों के समय में शायद उठ सका हो। ग़दर के बाद तो कभी कोई ताज़िया नहीं उठा सका। कलकत्ते के हज़ारों लोग और अंग्रेज़ तक ज़ियारत (दर्शन) के लिए मटिया बुर्ज में आ जाते थे।

बादशाह अगर्चे शीआ थे, मगर उनके स्वभाव में धार्मिक पक्षपात न था। उनका पुराना क़ौल था कि "मेरी दो आंखों में से एक शीआ है और एक सुन्नी है।" एक बार दो व्यक्तियों में धार्मिक मतभेद के कारण मारपीट हो गयी। बादशाह ने दोनों को निकाल देने का हुक्म दिया बल्कि अपने यहां उनका प्रवेश भी निषिद्ध कर दिया और फ़रमाया, "ऐसे लोगों का मेरे यहां गुज़र नहीं हो सकता।" आखिर में बादशाह की एक किताब में बाज़ ऐसे आपत्तिजनक शब्द छप गए थे जिन पर कलकत्ता के सुन्नियों में बड़ी हलचल मची मगर लोग यह नहीं जानते कि वे शब्द असल किताब में नहीं बल्कि दूसरों के इतिहास या समीक्षा में थे और बादशाह को ज्योंही पता चला, बिना किसी के कहे-सुने माफी मांगने को तैयार हो गये। बेतास्सुबी का इससे ज़्यादा सबूत क्या होगा कि इंतिज़ाम की सारी ज़िम्मेदार जगहें सुन्नियों ही के हाथ में थीं। प्रधान मंत्री मुसरिमउद्दौला बहादुर सुन्नी थे, मुंशी उस्सुल्तान जो एक ज़माने में बादशाह के सबसे ज़्यादा निकट थे और सारे जानवरखाने, कुल मुहर्रिरों और कई महकमों के बडे अफ़सर थे, सुन्नी थे। बख्शी अमानतउद्दौला बहादुर जिनके

हाथ से सारे नौकरों—यहां तक कि बेगमों और शाहज़ादों तक को—तनख्वाह मिलती थी, सुन्नी थे। इससे बढ़कर क्या होगा कि सिबैतनाबाद का इमामबाड़ा और खास इमामबाड़े 'बेतुलबक़ा' का इंतिज़ाम और मजलिसों और मज़हबी समारोहों के आयोजनों की ज़िम्मेदारी भी सुन्नियों ही के हाथ में थी। वहां कभी किसी ने इसे महसूस ही नहीं किया कि कौन सुन्नी है और कौन शीआ है।

मटिया बुर्ज के दुकानदार और महाजन तक लखनऊ के थे और लखनऊ की कोई चीज़ न थी जो वहां मौजूद न हो। जिधर गुजर जाइये एक अजीब रौनक और चहल-पहल नज़र आती और उस जगह लोग इतने लीन, मस्त और बेसुध हो रहे थे कि किसी को यह ध्यान ही न था कि इस सब का अंजाम क्या होगा। शाही इमारतों और चारागाहों वग़ैरा के अंदर जाने की लखनऊवालों बल्कि मटिया बुर्ज के निवासियों को आम आज़ादी थी। बाग़ों में टहलिये तो उससे ज़्यादा रमणीय स्थान कहीं न मिल सकता था। दरिया के किनारे खड़े हो जाइये तो अजीब सुखद दृश्य दिखायी देता था। कलकत्ता आने-जाने वाले जहाज़ सामने से होकर गुज़रते जो फ़ोर्ट विलियम की सलामी के लिए यहीं से अपनी झंडियां उतारना शुरू कर देते और लोग समझते कि बादशाह की सलामी ले रहे है। बेगमों की ड्योढ़ियों और महलसराओं के दरवाज़ों पर खड़े हो जाइये तो अजब धूमधाम में कभी-कभी ऐसी सूरतें नज़र आ जातीं और ऐसी सुदर मुहावरेदार भाषा और ऐसी प्यारी बातें सुनने में आ जातीं कि इंसान मुद्दतों बल्कि जिंदगी भर मज़े लिया करता।

आह! यह सुंदर और चित्ताकर्षक दृश्य तो मिटने योग्य न था! मगर हाय, समय के दुष्ट हाथों ने उसे मिटा ही दिया और ऐसा मिटाया मानो वह कभी था ही नहीं। 1887 ई० में सहसा बादशाह की आंखें मुंद गयीं और मालूम हुआ कि 'ख्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था।' सब बातें ख्वाब-ख़याल थीं। एक तिलिस्म था कि यकायक टूट गया और वह खूबसूरत अहाता जिसे देखने की तमन्ना योरुप के बादशाहों और हिंदुस्तान के राजाओं को रहा करती थी आज एक सुनसान जगह है जहां कुछ भी नहीं। जिसने उस अगले रंग को भी देखा था अब वहां के सन्नाटे को देखकर सिवाय इसके कि हसरत और दुख के साथ एक ठंडी सांस भर कर कहे, 'रहे नाम अल्लाह का!' और क्या कर सकता है।

इस दरबार के बादशाहों के इतिहास के बारे में अब सिर्फ इतना बताना बाक़ी है कि मिर्ज़ा बिरजीस क़द्र बहादुर लखनऊ से भागे तो नेपाल की सरहद पर दम लिया। उनके साथ लगभग एक लाख आदमी थे। उन लोगों ने इरादा किया कि हिमालय की घाटियों में शरण लें और जब मौक़ा मिले, निकलकर अंग्रेज़ों पर हमला करें। जीत जायें तो अपने घर पहुंचें और हारें तो फिर भागकर पहाड़ों में जा छिपें। मगर यह निभनेवाली सूरत न थी। नेपाल राज्य न तो इतने आदमियों को अपने वहां शरण दे सकता था और न उनके लिए अंग्रेज़ों से लड़ सकता था। उसमें इतनी ताक़त ही न थी कि अंग्रेज़ों का मुक़ा-बिला करता। लिहाजा नेपाल सरकार ने सिर्फ मिर्ज़ा बिरजीस क़द्र और उनकी मां को शरण दे दी, लेकिन उनके साथियों को हुक्म दे दिया कि फ़ौरन वापस जायें और न जायें तो मार कर निकाल दिये जायें। नेपाल राज्य फ़ौरन उनसे खाली करा लिया जाये। नतीजा यह हुआ कि सबके सब वहां से निकल-निकल कर भागे। बहुत से मारे गये, बहुत से भेस बदल-बदल कर किसी तरफ निकल गये और मिर्ज़ा बिरजीस क़द्र मय अपनी वाल्दा के ख़ास नेपाल में जाकर रहने लगे। नेपाल दरबार से उनके लिए कुछ मामूली वज़ीफ़ा मुक़र्रर हो गया और कहते हैं उनके साथ जितने जवाहिरात थे सब नेपाल के ख़ज़ाने की नज़ हो गये। आख़िरकार हज़रत महल का वहीं निधन हो गया और उनके बाद महा-रानी विक्टोरिया की जुबिली के मौक़े पर ब्रिटिश साम्राज्य ने मिर्ज़ा बिरजीस क़द्र का क़सूर माफ़ कर दिया, उन्हें वापस आने की इजाजत मिली तो बिना किसी को इत्तला दिये नेपाल से भाग कर कलकत्ता पहुंचे। यहां वाजिदअली शाह का देहांत हो चुका था और बड़े युवराज होने की हैसियत से मिर्ज़ा क़मर क़द्र सबसे ज़्यादा तनख़्वाह पा रहे थे। बिरजीस क़द्र ने दावा किया कि बाद-शाह के तमाम बेटों से ज़्यादा प्रतिष्ठित और अधिकारी मैं हूं। क़ानून के अनु-सार बादशाह की पेंशन में से एक तिहाई घटाकर बाक़ी तनख़्वाह मुझे जारी की जाये और उनके तमाम वारिसों और रिश्तेदारों की ख़बरगीरी मेरे ज़िम्मे की जाये। इसकी पैरवी में वे इंग्लिस्तान जाने की तैयारियां कर ही रहे थे कि उनके ख़ानदानवालों ही में से किसी ने दावत की। दावत से वापस आये तो

क़ै ग्रौर दस्त जारी हो गये । ग्रानन-फ़ानन हालत ख़राब हो गयी ग्रौर एक ही दिन में वे, उनकी पत्नी ग्रौर उनके बेटे सबकी ज़िंदगी का खात्मा हो गया ग्रौर दुनिया उस ख़ानदान की उन तमाम यादगारों से ख़ाली हो गयी जिन्होंने कभी तख़्त-ताज की सूरत देखी थी ।

इस सबके बावजूद मटिया बुर्ज की चहल-पहल ग्रौर उस नयी बस्ती की रौनक़ ग्रौर ग्राबादी ने ऐसी सूरत पैदा कर दी थी कि ग्रगर यह स्थान दुर्घटनाग्रों की कुदृष्टि के प्रभाव से बच जाता तो मुद्दतों याद दिलाता रहता कि उस बदनसीब बादशाह के दरबार ग्रौर उसके रिश्तेदारों की क्या शान-शोकत थी ग्रौर उनका क्या स्तर था। मगर ब्रिटिश गवर्नमेंट की न्यायप्रियता ने वाजिदग्रली शाह की जायदाद बांट दी ग्रौर उनके वारिसों के साथ ऐसा न्याय किया कि सारी जायदाद ग्रौर सारा घर बेचकर जिसका जितना हिस्सा है उसके ग्रनुसार बांट दिया जाये ग्रौर जो कुछ है नक़द रुपये में बदल दिया जाये । इसका नतीजा यही हो सकता था कि मटिया बुर्ज की ईंट से ईंट बज गयी । लाखों का सामान कौड़ियों में बिक गया ग्रौर वही ग्रहाता जो कुछ ही दिनों में बाग़े-इरम[1] (शद्दाद का स्वर्ग) बन गया था, विनाश ग्रौर पतन का नरक बन कर रह गया । ग्रब तुम वहां जाकर खाक उड़ाग्रो कुछ नज़र न ग्रायेगा । ग्रगर ग्रांखें ग्रगली रौनक़ ग्रौर चहल-पहल को ढूंढती हों तो किसी इमरो-उल-क़ैस[2] को बुलाग्रो जो ग्रांसू बहाता जाये ग्रौर तुम्हें बताता जाये कि यहां मुरस्सा मंज़िल थी, यहां नूर मंज़िल थी, यहां सुल्तानख़ाना था ग्रौर यहां ग्रसद मंज़िल थी । वहां मुशाइरे थे, वहां बड़े-बड़े विद्वानों की गोष्ठी होती थी, वहां बेतकल्लुफ़ दोस्त व्यंग्य-विनोद किया करते थे ग्रौर वहां जादू का-सा ग्रसर रखनेवाले कवि ग्रौर लेखक ग्रपना कमाल दिखाते थे । उस जगह संसार की सुंदरियों का झुरमुट था, इस जगह नाच-गाने हुग्रा करते थे, उस जगह पर परी जैसी सुंदर स्त्रियों को गाने-नाचने की शिक्षा दी जाती थी ग्रौर यहां जहांपनाह ग्रपनी सुंदर मुत्ग्राशुदा बेगमों के बीच में बैठकर जश्न

---

[1] शद्दाद नामक बादशाह ने पृथ्वी पर ही एक कृत्रिम स्वर्ग बनवाया था जिसे बाग़े-इरम भी कहते हैं । कहते हैं वह उसमें प्रवेश करते समय घोड़े से गिरकर मर गया था ।

[2] इस्लाम-पूर्व युग का एक प्रख्यात कवि जिसने ग्रपनी प्राचीन रंगशाला के विनाश का चित्रण बड़े मार्मिक शब्दों में किया था ।

मनाया करते थे। इस जगह अफ़ीमचियों के जमघट में दास्तान होती थी, इस जगह बटेरों की पालियां होती थीं। इस जगह कबूतर उड़ते थे और उस जगह कनकौवे के मैदान बदे जाते थे। इस ड्योढ़ी पर चंद्रमुखियां पर्दे से सिर निकाले झांकती नज़र आती थीं, उस ड्योढ़ी पर मामा असीलों (रसोई बनाने वाली) की आमद-रफ्त से हर वक्त एक अजीब जोश-उत्साह रहता था। इस ड्योढ़ी पर ख़ास शाइर हाज़िर रहते इसलिए कि महलसरा के मालिक को शाइरी से दिलचस्पी थी और उस ड्योढ़ी पर रोज़ रंगीन इबारत लिखनेवाले जवान लेखकों की तलाश रहती थी इसीलिए कि दूसरे-तीसरे यहां से एक नये रंग का तोदूनामा[1] जाकर बादशाह के हुज़ूर में पेश होता।

लेकिन मटिया बुर्ज के मिट जाने पर भी उस दरबार की हज़ारों यादगारें बाक़ी है। खुद लखनऊ शहर और उसकी सोसाइटी इस दरबार की याद दिला रही है और अवध का चप्पा-चप्पा उसकी महत्ता की याद दिलाता है, इसलिए कि इस पर जगह-जगह अतीत के राज्य के चिह्न बने हुए है। लखनऊ वालों की हर हरकत और अदा पिछले दरबार के सदस्यों का जीवित इतिहास है और उनकी चाल देखकर मुंह से हठात निकल जाता है, "ऐ गुल बतू खुर सनदम तू बूए कसे दारी" (ए फूल, मैं तुझ से खुश हूं, तुझ में किसकी गध है)। लिहाज़ा इन प्राचीन अवशेषों की याद ताज़ा करने की ग़रज़ से अब हम यह बताना चाहते है कि इस दरबार के क़ायम होने से लखनऊ में जो सोसाइटी पैदा हो गयी थी वह क्या थी और उसने किस-किस तरह से हिंदुस्तान की संस्कृति पर असर डाल रखा था ?

हिंदुस्तान में उन दिनों फ़ारसी दरबारी ज़बान थी और हिंदुस्तानियों की संस्कृति ईरानी सभ्यता से प्रभावित थी। सफ़विया साम्राज्य के काल मे ईरानियों का आम मज़हब शीआ इसना अशीरी हो गया था और हिंदुस्तान का मुग़ल सम्राट चुग़ताइया मजहब-उल-मिन्नत का अनुयायी था मगर सस्कृति पर चूंकि फ़ारसी असर था इसलिए धार्मिक मतभेद के बावजूद जो ईरानी यहां आते उनका बड़ा सम्मान होता था। इसी शिष्ट व्यवहार के कारण नूरजहां बेगम जहांगीर के ताज-तख़्त की मालिक बन गयी थी। इसी की बदौलत दिल्ली के अधिकतर प्रतिष्ठित अधिकारी उस युग के अंत में शीआ थे और उसी की

[1] तोदूनामा उन ख़तों को कहते थे जो बेगमें जहांपनाह को भेजतीं थीं और जो आमतौर पर प्रेम-प्रणय से संबंधित होते थे।

वजह से अमीनउद्दीन खां नैशापुरी यहां पहुंचते ही नवाब बुरहान-उल-मुल्क बन कर गंगा के सारे विशाल क्षेत्र के मालिक हो गये। बुरहान-उल-मुल्क का प्रभाव और प्रभुत्व जितना बढ़ता गया और उन्नति करता गया उतने ही वे दिल्ली के विभिन्न क्षेत्रों के दक्ष लोगों के संरक्षक बनते गये। चूंकि उनकी और नवाब सफ़दरजंग की ज़िंदगी एक नये राज्य की बुनियाद डालने मे बीती इसलिए सिवाय बहादुर सिपाहियो की क़द्रदानी के उन्हें राष्ट्रीय संस्कृति और सामाजिक विषयों की ओर ध्यान देने की बहुत ही कम मोहलत मिली क्योंकि इन बातों का संबंध युद्ध और विजय के युग की अपेक्षा शांति और समृद्धि के युग से अधिक हुआ करता है।

लेकिन जब शुजाउद्दौला ने बक्सर की लड़ाई में हिम्मत हारने के बाद अंग्रेज़ों से नया समझौता किया और मजबूर होकर फ़ैज़ाबाद में ख़ामोश बैठे तो अवध में एक नयी संस्कृति प्रारंभ हो गयी। इस लेख के शुरू में हम बता चुके हैं कि शुजाउद्दौला के ज़माने मे दिल्ली के बाकमाल लोग कितनी अधिक संख्या में वतन छोड़-छोड़ कर यहां आने लगे थे। दिल्ली से फ़ैज़ाबाद तक हर पेशे और हर वर्ग के लोगों के आने का कैसा तांता बंध गया था और सिर्फ नौ साल की मुद्दत में फ़ैज़ाबाद क्या से क्या हो गया था? शुजाउद्दौला के बाद नवाब आसफ़उद्दौला जब लखनऊ आकर रहे तो फ़ैज़ाबाद का जमा-जमाया अखाड़ा एकबारगी फ़ैजाबाद से उखड़कर लखनऊ मे आ गया और दिल्ली के उच्च परिवारों और कला-प्रवीणों का जो दल फ़ैज़ाबाद जा रहा था, लखनऊ ही रोक लिया गया जो ठीक रास्ते मे पड़ता था। और अंत में कुछ भद्रजन और शिल्पी जो फ़ैज़ाबाद में बेगमों की सरकारों में उलझे रह गये थे धीरे-धीरे वे भी लखनऊ में आ गये इसलिए कि आसफ़उद्दौला ने यहां धन-दौलत की ऐसी गंगा नहीं बहा रखी थी कि कोई सुनता और उसमें नहाने के शौक़ में एकदम न दौड़ पड़ता।

उन दिनों यों तो बहुत-सी हिंदू रियासतें मौजूद थीं मगर मुहज़्ज़ब और शिष्ट दरबार मुसलमान शासकों के ही समझे जाते थे और हिंदू राजा ख़ुद इस बात की प्रशंसा करते थे कि सभ्यता और संस्कृति में हम मुसलमान दरबारों का मुक़ाबिला नहीं कर सकते क्योंकि अपनी प्राचीन संस्कृति को फिर से जीवित करके अपने लिए नयी संस्कृति और नया साहित्य पैदा करने का खयाल अभी उस अंग्रेज़ी शिक्षा ने पैदा नहीं किया था। इसका नतीजा यह

था कि अगर कोई उच्च कोटि का विद्वान, कवि या सिपाही मुसलमान के सामंतों से निराश होकर हिंदू धनिकों के इलाक़े में पहुंच जाता तो हाथों-हाथ लिया जाता और देवताओं की तरह उसका आदर-सत्कार किया जाता था।

मुसलमान दरबार उन दिनों इने-गिने ही थे। सबसे पहले तो दिल्ली का मुग़ल दरबार था और उसके प्राचीन वैभव के कारण हर तरह के कला-प्रवीणों और प्रामाणिक भद्रजनों का केंद्र दिल्ली बनी हुई थी और उसी सरजमीन के रोड़े थे जिन्होंने दूर-दराज़ सूबों में जाकर नये-नये दरबार क़ायम किये थे जिनमें से दक्षिण में आसफ़जाह का दरबार था। वहां से आगे बढ़कर टीपू सुल्तान और नवाब अर्काट के दरबार थे। उत्तर में दिल्ली से चलिये तो पहले रुहेलखंड के बहादुर पठानों का राज्य मिलता, उसके बाद यह अवध का दरबार था। फिर उससे आगे मुर्शिदाबाद में नवाब नाजिम-ए-बंगाल का दरबार था। उपर्युक्त इस्लामी दरबारों से दक्षिण के दरबार बहुत दूर थे। उनका रास्ता एक तो जंगलों और पहाड़ों की वजह से बहुत ही दुर्गम था और इस पर भी जुर्रत करके कोई चल खड़ा होता तो ठग और डाकू, जो सारे देश में फैले हुए थे, रास्ते ही में उसकी ज़िंदगी का ख़ात्मा कर देते। टीपू सुल्तान और नवाब कर्नाटक के राज्य तक जाना तो दरकिनार, किसी को निज़ाम हैदराबाद की रियासत तक पहुंचना भी मुश्किल से नसीब होता। इसलिए जब दिल्ली बिगड़नी शुरू हुई और मुग़ल सम्राटों की हालत ख़राब होन से वहां लोगों की क़द्र कम होने लगी तो लोगों ने आम तौर से दक्षिण की ओर जाना शुरू किया। इसमें शक नहीं कि रुहेलखंड बहुत क़रीब था, यहां के पठान शासक अगर उन्हें पूछते तो उनसे ज़्यादा मौक़ा किसी को हासिल नहीं था। मगर उनमें धार्मिकता, वीरता और अन्य गुण तो थे लेकिन ज्ञान-विज्ञान और सांस्कृतिक क्रियाकलाप से उन्हें कोई दिलचस्पी न थी। उनकी हालत का सही अंदाज़ा कीजिये तो मालूम होता है कि वे लोग शुद्ध रूप से सैनिक रुचि रखते थे जिन्हें अपने देश के लोगों को इकट्ठा करने और अपने जिर्गों की तादाद बढ़ाकर अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि करने के सिवाय और किसी बात का शौक़ न था। संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से देखिये तो उनकी हालत बिल्कुल जंगली गंवारों की-सी थी। ऐसे लोग भला कवियों, साहित्यकारों और दूसरे कलाकारों के महत्व को क्या समझते? लिहाज़ा उनके राज्य में जो दाखिल हुआ, क़दम बढ़ाता हुआ आगे निकल गया और चार-पांच मंज़िलें

तै करके लखनऊ में पहुंचा तो देखा कि रईस से लेकर छोटे-से-छोटे वर्ग वाले भी उस का स्वागत कर रहे है और हर तरह की सेवा के लिए तैयार हैं। ऐसी जगह पहुंचकर फिर भला कौन वापस आ सकता है ? जो गया वहीं का हो गया। दिल्ली का हर लुटा-पिटा व्यक्ति यहां आते ही पांव तोड़ कर बैठ गया : न उसे अपना वतन ही याद रहा और न किसी और दरबार के देखने की हवस ही दिल में बाक़ी रही। चंद लोग यहां से आगे बढ़कर नवाब नाज़िम-ए-बंगाल तक भी पहुंच गये। मगर वे वही थे जिनकी लखनऊ क़द्र न कर सका। मगर ऐसे चंद गिनती ही के लोग थे वरना दिल्ली से जितने कलाकार आये सभी खपते चले गये। थोड़े-से अर्से में ही यह हालत हो गयी कि उस समय के सबसे अधिक सुसंस्कृत समाज के जितने प्रसिद्ध बुजुर्ग थे सब लखनऊ के अंदर जमा थे।

सिर्फ एक चीज़ ऐसी थी जो इस दरबार के क़ायम होने से पहले ही लखनऊ में मौजूद थी और वह अरबी का ज्ञान था। इसकी बुनियाद उस समय पड़ गयी थी जब शहंशाह औरंगज़ेब ने फ़िरंगी महल के मकान मुल्ला निज़ाम-उद्दीन सिहालवी को दे दिये थे। मुल्ला साहब और उनके परिवारवालों ने चंद ही रोज़ में फ़िरंगी महल को हिंदुस्तान की एक ऐसी ऊंचे दर्जे की यूनिवर्सिटी बना दिया कि सारे हिंदुस्तान के सारे विद्वानों का केंद्र लखनऊ का यह छोटा-सा मुहल्ला ही क़रार पाया। शेख अब्दुल हक़ देहलवी के बाद दिल्ली में भी कोई प्रसिद्ध विद्वान पैदा नहीं हो सका था। आखिर में शाह वलीउल्लाह साहब के खानदान ने अलबत्ता बहुत प्रगति की लेकिन उनकी ख्याति केवल विद्वानों तक ही सीमित थी। हदीस[1] के अलावा और जितनी शाखाएं ज्ञान की है उनका विश्वविद्यालय लखनऊ ही था। उन दिनों लखनऊ एक गुमनाम शहर था मगर एक ऐसे अज्ञात स्थान का इतना बड़ा विश्वविद्यालय बन जाना कि हिंदुस्तान दरकिनार बुखारा, ख़्वारज़्म हिरात और काबुल उसके आगे सिर झुका दें, बहुत ही आश्चर्य की बात है। सारी इस्लामी दुनिया यही की शागिर्दी पर गर्व कर रही थी और यहीं के चुने हुए पाठ्यक्रम यानी सिलसिल-ए-निजामिया को अपनाती थी। ग़रज़ फ़िरंगी महल के विद्वानों के कारण इस नये दरबार के क़ायम होने से पहले ही लखनऊ दर्शन, तर्कशास्त्र, इस्लामी धर्म शास्त्र तथा उसके सिद्धांत और ज्ञान-विज्ञान की अन्य-अनेक शाखाओं का

[1] हजरत मुहम्मद साहब की कही हुई बात।

केंद्र बन चुका था। लिहाज़ा इस एक चीज़ में तो लखनऊ इस दरबार का ऋणी नहीं है, बाक़ी और सभी प्रकार की प्रगति इस सल्तनत के क़ायम होने ही से ही हुई।

अब हम अलग-अलग यह बताना चाहते हैं कि दिल्ली से लखनऊ में कौन-कौन सी चीजें आयीं और यहां आकर उन्होंने क्या रंग अपनाया। सबसे पहली चीज़ उर्दू ज़बान है जो दिल्ली के उन भद्रजनों और फ़ौज के सरदारों की ज़बान थी जो अब बुरहान-उल-मुल्क बहादुर के साथ लखनऊ में आये थे। यह ज़बान दिल्ली में पैदा हुई और इसकी शाइरी की शुरूआत दक्षिण से हुई। 'वली' गुजराती ने दिल्ली में आकर अपना दीवान पेश किया और अपनी दिलकश शाइरी से उर्दू भाषियों को नींद से जगाया। उनके कलाम में कुछ ऐसा जादू था कि सुनते ही सबकी ज़बान पर चढ़ गया और दिल्ली में उर्दू शाइरी शुरू हो गयी।

शुरू में तो कुछ ही बुज़ुर्ग थे जिन्होंने उस्तादी की शान से दिल्ली मे शाइरी की दाद देना शुरू की। मगर उस जमाने को अगर उर्दू ज़बान का बचपन नहीं तो उर्दू शाइरी का बचपन कहना चाहिए। उर्दू जगत के उन अगले-पिछलों मे सबसे अधिक विद्वान और सबसे बढ़कर दक्ष 'खान' आरज़ू थे जिन्हें मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने दूसरे दौर की शाइरी में रखा है। बाद के काल में बड़े-बड़े धुरंधर—जिनमें 'सौदा', 'मीर', मिर्ज़ा मज़हर 'जाने जानां' और ख्वाजा मीर 'दर्द' शामिल हैं—सब उनके शागिद थे। शाइरी और भाषा पर अपूर्व अधिकार की बुनियाद लखनऊ में इन्ही पहले उस्ताद 'खान' आरज़ू ने डाली। नबाब शुजाउद्दौला के मामू सालारजंग ने बड़ी मिन्नत-समाजत से उन्हें लखनऊ बुलवाया और एक जमाने तक अवध मे रह कर शुजाउद्दौला की गद्दी नशीनी के दो बरस बाद यानी 1752 ई० म खास लखनऊ में ही उनका निधन हुआ। उर्दू शाइरी के वही पहले उस्ताद थे और उन्हीं से उर्दू काव्य के लखनऊ में आने की बुनियाद पड़ी। मगर अफ़सोस कि उनकी हड्डियां लखनऊ की सरज़मीन से छीन कर दिल्ली की मिट्टी में दफ़नायी गयीं।

इसके बाद इसी दौरान शाइरी के दूसरे नामी उस्ताद अशरफ़ अली ख़ां 'फ़ुग़ां' ने, जो एहमद शाह बादशाह के दूध शरीक भाई थे, क़द्रदानी की तलाश में लखनऊ की राह ली। शुजाउद्दौला ने उनका बड़ा आदर-सम्मान

किया, उन्हें हाथों-हाथ लिया और एक जमाने तक अपने दरबार में रखा। मगर शाइरों के खयाल चाहे नाजुक न हों उनके दिमाग़ नाजुक हुआ करते है। किसी मामूली-सी बात पर रूठ कर अज़ीमाबाद चले गये और शुजाउद्दौला के देहांत से दो बरस पहले वही उनकी मृत्यु हो गयी।

अब मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद का मुक़र्रर किया हुआ शाइरी का तीसरा दौर शुरू हुआ जबकि 'खान' आरज़ू के शागिर्दो का उर्दू शाइरी पर एकछत्र राज्य था। उस ज़माने की हालत देखने से मालूम होता है कि दिल्ली अपने कलाकारों को अपनी गोद मे संभाल नही सकती। हर तरह के कलाकार वहां से निकलते चले जाते है और जो जाता है फिर नही आता। इसके मुक़ाबिले में लखनऊ की यह हालत है कि जो भी कलाकार आता है, चाहे कहीं का हो, यही का होकर रह जाता है। मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा', मीर तक़ी 'मीर', सैयद मुहम्मद मीर 'सौज' जो इस तीसरे दौर के महाकवि है, सब दिल्ली छोड़-छोड़कर लखनऊ मे आये और यही की मिट्टी में सो गये।

इनके अलावा जो महाकवि इस ज़माने में लखनऊ आये और यही के हो गये मीरज़ा जाफ़र अली 'हसरत', मीर हैदर अली 'हैरान', ख्वाजा हसन 'हसन', मीरज़ा 'फाखर' मकी, मीर 'ज़ाहक' बक़ाउल्लाह खां 'बक़ा',मीर हसन देहलवी मीर 'जाहक' के पुत्र (जिनकी मसनवी है) और इन्ही के ऐसे बीसियों शाइर है। मीर क़मरउद्दीन मिन्नत, मीर ज़ियाउद्दीन'ज़िया', अशरफ अली खां 'फ़ुगा' दिल्ली से लखनऊ मे आकर एक मुद्दत तक रहे और यहीं चमके। मगर आखिर मे बाहर के क़द्रदानो की कोशिश से कलकत्ता और अज़ीमाबाद मे जाकर मौत की गोद मे सोये। शेख मुहम्मद क़ायम 'कायम' का निधन हालांकि उनके वतन नगीना में हुआ मगर वे भी एक मुद्दत तक इसी लखनऊ की सभा के एक ऐक्टर थे।

सिर्फ मीरज़ा मज़हर जान-जाना और ख्वाजा मीर 'दर्द' जैसे चद बुजुर्ग दिल्ली में पड़े रह गये जिन्हें इसलिए दिल्ली में क़दम ज़माने का मौक़ा मिल गया था कि उनमें फकीरों का-सा सयम और संतोष मौजूद था और सज्जा-दानशीनी[1] की वजह से अपनी दरवेशी को न छोड़ सकते थे। ग़रज़ शाइरी का यह तीसरा दौर वह ज़माना है जबकि दिल्ली की सभा वहा से उखड़कर

[1] किसी बड़े फ़क़ीर की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी का उस गद्दी पर बैठना।

लखनऊ में जम रही थी और लखनऊ में उसकी ऐसी क़द्र हो रही थी जिसकी हिंदुस्तान के इतिहास में मिसाल नहीं मिलती।

अब चौथा दौर शुरू हुआ। इसके शाइर भी अगर्चे दिल्ली और अकबराबाद वग़ैरा की ज़मीन से पैदा हुये थे मगर सबकी शाइरी लखनऊ ही में चमकी। यहीं से उनका नाम मशहूर हुआ, यहीं के मुशाइरों के वे मीरे-मजलिस थे। ये लोग आम तौर पर यहीं से निकले, यहीं रहे, यहीं उनका उत्कर्ष हुआ और यहीं मर-खप गये। इस दौर के शाइर 'जुरअत', सैयद 'इंशा', 'मुसहफ़ी', 'कतील' और 'रंगीन', वग़ैरा थे। इन लोगों का अपने युग में भाषा पर पूरा अधिकार था और उनकी कविता की लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी थी कि उनके सामने किसी उर्दू शाइर का नाम चमक ही न सका। इन सबकी हड्डियां कहां हैं? लखनऊ की ज़मीन में।

उस ज़माने में दिल्ली के साहित्यकार जिस संख्या में लखनऊ आ रहे थे उसका अंदाजा सैयद इंशा की एक कहानी से हो सकता है जिसमें उन्होंने उस युग के एक शरीफ़ बुड्ढे और नूरन नामक एक वेश्या की बातचीत चित्रित की है। वह बुज़ुर्ग और वेश्या दोनों दिल्ली के हैं मगर दोनों लखनऊ में बातें कर रहे हैं। बी नूरन कहती है, "अजी आओ मीर साहब! तुम तो ईद का चांद हो गये। दिल्ली में आते थे दो-दो पहर रात बैठते थे। लखनऊ में तुम्हें क्या हो गया कि कभी सूरत भी नहीं दिखाते? अबकी कर्बला में कितना मैंने ढूंढा, कहीं तुम्हारा असर-आसार मालूम न हुआ। ऐसा न किजो की आठों में भी न चलो। तुम्हें अली की क़सम आठों में मुकर्रर चलियो।" इसका जवाब जो मीर साहब ने दिया है वह अगर्चे बहुत ही दिलचस्प है मगर हम विस्तार से बचने के ख़याल से उसे छोड़ देते हैं। उन्होंने दिल्ली और लखनऊ के मौजूदा रंग पर एतराज़ किये हैं और समकालीन शाइरों पर नुक्ताचीनी की है जिससे हमें सरोकार नहीं। हमें सिर्फ यह बताना है कि उस ज़माने में शरीफ़ों और बाकमालों को तो छोड़िये, रंडियां तक आ-आकर लखनऊ में बसती जाती थीं। और जो लोग दिल्ली में फूलवालों की सैर के रसिया थे अब कर्बला और आठों के मेले में अपना दिल बहलाते थे।

शम्स-उल-उलमा मौलाना आज़ाद ने बाद के दिल्ली के तमाम शाइरों को उनके युग या दूसरी विशेषताओं का ख़याल किये बिना एक जगह जमा करके और ज़माने की तनावें खेंच कर पांचवां दौर बना दिया है, लेकिन यह ना-

इंसाफी है । असली पांचवां दौर सिर्फ 'नासिख' और 'आतिश' का था जिसमें भाषा ने नया रूप धारण किया और बहुत से पुराने मुहाविरे निकाल दिये गये, नयी बंदिशें पैदा हुई और उस ज़बान की बुनियाद पड़ी जो दिल्ली और लखनऊ के बाद के शाइरों में समान रूप से लोकप्रिय हुई और क़रीब-क़रीब वह भाषा बन गयी जो अब हिंदुस्तान में प्रामाणिक है और यही वह ज़माना था जब कविता के साम्राज्य में पहले-पहल लखनऊ का सिक्का जारी हुआ ।

इसके बाद छठा दौर वह था जब लखनऊ में 'वज़ीर' 'ज़िया', 'रिंद', 'गोया', 'रश्क', 'नसीम' देहलवी, 'असीर', मसनवी-लेखक नवाब मिर्ज़ा 'शौक़' और पं० दया शंकर 'नसीम' की शाइरी की धूम थी और दिल्ली में 'मोमिन', 'ज़ौक़', और 'ग़ालिब' अपना शाइराना गीत सुना रहे थे । उस दौर ने सच यह है कि ज़बान को ख़यालों की दृष्टि से सबसे ज़्यादा तरक़्क़ी दी ।

इसके बाद सातवां दौर 'अमीर', 'दाग़', 'मुनीर', 'तसलीम', 'मजरूह', 'जलाल', 'लताफ़त', 'अफ़ज़ल' और 'हकीम' वग़ैरा का था ।

इन आख़िरी दौरों पर उड़ती हुई नज़र डालने से साफ नज़र आ जाता है कि ज़बान की ख़ूबी और शाइरी ने लखनऊ में कैसी मजबूत जगह पकड़ी थी। चंद ही रोज में शेर कहना लखनऊ में एक फ़ैशन बन गया और शाइरों की यहां ऐसी भरमार हो गयी कि शायद कहीं किसी ज़बान में न हुई होगी । औरतों तक में शेरो-शाइरी का चर्चा हुआ और जाहिलों के कलाम में भी शाइराना ख़याल, उपमाओं और अलंकारों की झलक नज़र आने लगी ।

## [ 10 ]

फ़ारसी शाइरी का असल उठान मसनवी[1] से हुआ है और यह काव्य-रूप हमेशा सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण और लोकप्रिय समझा गया है । इसका प्रारंभ फ़िरदौसी' के महाकाव्य 'शाहनामा' से हुआ । फिर 'निज़ामी', 'सादी', मौलाना 'रूम', 'ख़ुसरो', 'जामी' और 'हातिफ़ी' वग़ैरा ने इसमें बड़ी ख्याति

[1] उर्दू का एक काव्य-रूप जिसमें कोई कहानी या उपदेश एक ही वृत्त में होता है और उसका हर शेर दूसरे शेर रदीफ़-क़ाफ़िए में नहीं मिलता और हर शेर की दोनों पंक्तियां सानुप्रास होती हैं ।

प्राप्त की। उर्दू में मीर तक़ी 'मीर' ने छोटी-छोटी बहुत सी मसनवियां दिल्ली और लखनऊ के प्रवास के दौरान लिखी थीं मगर वे इतनी छोटी और मामूली हैं कि मसनवियों के संबंध में उनका ज़िक्र कुछ अनुचित जान पड़ता है।

मसनवी लिखने का प्रारंभ उर्दू में मीर 'ज़ाहक' के बेटे मीर गुलाम हसन 'हसन' से हुआ जो बचपन ही में अपने पिता के साथ लखनऊ चले आये थे। यहीं के वातावरण में वे पले-बढ़े और यहीं उनकी काव्य-प्रतिभा का विकास हुआ क्योंकि जिस शिक्षा और जिस समाज ने उनकी मसनवी 'बेन-ज़ीर' और 'बद्र-ए-मुनीर' लिखवाई वह शुद्ध रूप से लखनऊ की थी। इस ज़माने में मिर्ज़ा मुहम्मद तक़ी खां 'हवस' ने 'मसनवी लैला-मजनूं' लिखी और लखनऊ में मसनवी के प्रति रुचि बढ़ने लगी। 'आतिश' और 'नासिख' के ज़माने में तो ज़रा खामोशी रही मगर फिर जो यह शौक़ उभरा तो प० दया शंकर 'नसीम' ने 'गुलज़ार-ए-नसीम' आफताबउद्दौला 'क़लक़' ने 'तिलिस्म-ए-उलफ़त' और नवाब मिर्ज़ा शौक़ ने 'बाहर-ए-इश्क़', 'ज़हर-ए-इश्क़' और "फ़रेब-ए-इश्क़" लिखी और उन्हें ऐसी ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त हुई कि हर छोटे-बड़े की ज़बान पर इन मसनवियों के शेर चढ़ गये। इससे पहले के ज़माने में किसी साहब ने 'मसनवी मीर हसन' के जवाब में 'लज्जत-ए-इश्क' नामक एक मसनवी लिखी थी। वह नवाब मिर्ज़ा शौक़ की मसनवी के साथ प्रकाशित होने की वजह से उन्हीं के नाम से संबद्ध हो गयी, लेकिस वास्तव में न वह उनकी है और न उनके ज़माने की।

इन सब मसनवियों को देखते हुए मसनवी 'गुलजार-ए-नसीम' इस बात के बावजूद कि वह बहुत लोकप्रिय हुई, उसमें सैंकड़ों ग़लतिया है। देखने से मालूम होता है कि एक नौसिखुए का नाजुक खयाल है जो हर प्रकार के काव्यात्मक गुण अपनी कविता मे पैदा करना चाहता है। मगर चूंकि उसे काव्य-कला पर पूरा अधिकार नहीं है इसलिए क़दम-क़दम पर ठोकरें खाता है और किसी जगह अपने लक्ष्य को नहीं पा सकता। इसके जवाब में आग़ा अली 'शम्स' ने जो एक अनुभवी शाइर थे इसी बहर (छंद) में एक मसनवी लिखी थी जिसमें ग़लती तो कोई थी ही नहीं, अलबत्ता उपमा, अलंकार और शब्दा-लंकारों के चमत्कार दिखाये थे। मगर अफ़सोस वह मसनवी मिट गयी और 'गुलज़ार-ए-नसीम' को जो प्रसिद्धि मिल चुकी थी उस पर वह हावी न हो सकी। दिल्ली में उन दिनों मोमिन खां ने चंद छोटी-छोटी बेमिसाल मसनवियां लिखीं जो बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुई।

मोमिन खां की शाइरी में नाजुकखयाली बढ़ी हुई थी। काल्पनिक उपमाओं और अलंकारों पर वे अपनी कविता की इमारत खड़ी करते थे। मसनवियों में वे अधिकतर काल्पनिक भावों तथा विचारों को मानवीकृत करके अपनी कविता में एक विशुद्ध रस उत्पन्न कर देते थे। मोमिन खां के एक शिष्य 'नसीम' देहलवी लखनऊ में आये और यहां के मुशाइरों में अपना रंग ऐसा जमाया कि बहुत से लोग उनके शागिर्द हो गये। 'नसीम' देहलवी ने लखनऊ में अपने उस्ताद के रंग को खूब चमकाया और उनके शागिर्द 'तसलीम' लखनवी ने उर्दू मसनवी में 'नज़ीरी' 'उर्फ़ी' और 'साइब' की उर्वर कल्पना दिखायी और उर्दू काव्य में जीते-जागते 'फैज़ी' और 'गनीमत' लाकर खड़े कर दिये। इधर आखिर-ज़माने में मौलवी मीर अली हैदर तथा तबाई 'नज्म' लखनवी ने शराब की निंदा में 'साक़ीनामा सकसक़िया' के नाम से एक ऐसी बेमिसाल नीति-विषयक कविता उर्दू पब्लिक के सामने पेश कर दी कि उसका जवाब नहीं हो सकता। ग़रज़ कि मोमिन खां की चंद संक्षिप्त मसनवियों की ओर अगर ध्यान न दिया जाये तो उर्दू मसनवी-रचना का प्रारंभ भी लखनऊ में हुआ और उसकी प्रगति भी यहीं हुई।

कुछ लोग मीर हसन की मसनवी और 'गुलज़ार-ए-नसीम' के माध्यम से दिल्ली और लखनऊ की भाषा की तुलना किया करते हैं। जिस खयाल को मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद ने और अधिक पुष्ट किया लेकिन एक तो 'गुलजार-ए-नसीम' को 'नज़ीर' अकबराबादी के 'बंजारा-नामा' की तरह अगर ख्याति मिल भी गयी तो उसे मीर हसन की मसनवी की तुलना मे रखना उर्दू कविता का घोर अपमान है। यदि तुलना ही करनी है तो मीर हसन की और मसनवी 'तिलिस्म-ए-उलफत' की हो सकती है और यदि 'गुलजार-ए-नसीम' की जबान जबरदस्ती लखनऊ की जबान मान भी ली जाये तो मीर हसन की मसनवी और 'गुलजार-ए-नसीम' की तुलना दिल्ली और लखनऊ की कविता की नहीं बल्कि खुद लखनऊ की अगली पिछली ज़बानों की तुलना है इसलिए कि मीर हसन की मसनवी पहली ज़बान का नमूना है और यह आख़िरी ज़बान का।

शाइरी का एक महत्वपूर्ण और सबसे प्राचीन रूप मर्सिया[1] है। प्राचीन अरबी शाइरी में ज़्यादातर मर्सिए और रजज़[2] ही कविता में चमत्कार दिखाने

---

[1] शोक-गीत।

[2] युद्ध में अपने कुल की शूरता का वर्णन।

के माध्यम थे। फ़ारसी में मर्सिया पढ़ने की प्रथा कमज़ोर पड़ गयी थी लेकिन सफ़विया वर्ग के शासन-काल में ईरान में शीआ संप्रदाय को प्रश्रय मिला तो हज़रत मुहम्मद साहब के रिश्तेदारों पर पड़ी मुसीबतों की याद ताज़ा करने के लिए शाइरों का ध्यान मर्सिए लिखने की ओर गया। मौलाना मोहतशिम काशफ़ी ने कुछ पदों का एक अनुपम मर्सिया लिखा था जो हर जगह लोकप्रिय हुआ। उसके बाद से रिवाज था कि शाइर कभी-कभी हुसैन के मातम में दो-एक मर्सिए भी लिख दिया करते। लेकिन काव्य जगत में मर्सियागोई का महत्व इतना कम था कि कहा जाता था, 'बिगड़ा शाइर मर्सियागो'। फिर जब मज़-हब की दृष्टि से सफ़विया साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी अवध की सल्तनत बनी तो लखनऊ में मजलिसों की वृद्धि और ताजियादारी के जोश के कारण मर्सियागोई की ऐसी क़द्र हुई कि इस कला की असाधारण प्रगति हुई और वास्तव में देखा जाये तो लखनऊ के उत्कर्ष का रहस्य भी इसी ऐतिहासिक घटना में निहित है। हिंदुस्तान में मुग़लों का राज्य था जिन्होंने फारसी भाषा को दरबारी भाषा क़रार दे दिया और फ़ारसी संस्कृति उनकी जिंदगी तथा अन्य सभी महत्वपूर्ण क्रियाकलाप की केंद्र थी। नतीजा यह हुआ कि हर ईरानी हिंदुस्तान में आते ही आंखों पर बिठाया जाता और उसकी हर हरकत और हर अदा लोकप्रिय होती। दिल्ली में बादशाहों का मजहब सुन्नी होने की वजह से ईरानी अपनी बहुत-सी बातों को छिपाते और वहां की महफ़िलों में इतने मुखर न हो पाते जितने कि वे वास्तव में थे। अवध का दरबार शीआ था और यहां का शासक परिवार ख़ास ख़ुरासान से आया था इसलिए यहां ईरानी बिल्कुल खुल गये और अपने असली रंग में प्रकट हो जाने से जितने मुखर और प्रफुल्ल हुए उतना ही ज़्यादा यहां के दरबारवालों ने धार्मिक एकता के कारण उनकी विशेषताएं अपनानी शुरू कर दीं और ईरानी संस्कृति जो दरअसल सासानी और अब्बासी शान-शौकत की गोद में पली हुई थी कुछ ही दिन के अंदर लखनऊ की संस्कृति का अंग बन गयी।

ग़रज 'सौदा' और 'मीर' के जमाने में मियां 'सिकंदर', 'गदा', 'मिस्कीन' और 'अफ़सुर्दा' मर्सियागो थे जो इमाम हुसैन की शहादत के बारे में छोटी-छोटी नज़्में लिख कर मजलिसों में सुनाया करते थे। उनके बाद मीर ख़लीक़ और मीर ज़मीर ने मर्सियागोई का विकास किया और मर्सियों का आधुनिक रूप उन्हीं के समय से उभरा। यहां तक कि समय ने मीर ज़मीर के शागिर्द

मिर्ज़ा 'दबीर' और मीर खलीक़ के सुपुत्र मीर 'अनीस' को बहुत ख्याति दिलायी और इन दोनों बुज़ुर्गों ने मर्सिया लिखने में ऐसे-ऐसे कमाल दिखाए कि वे साहित्याकाश के सूर्य और चंद्र बनकर चमके। वही मुक़ाबिला जो 'मीर' और 'सौदा' और 'आतिश' और 'नासिख़' में रहा था अब मीर 'अनीस' और मिर्ज़ा 'दबीर' में क़ायम हुआ। मिर्ज़ा 'दबीर' के यहां भाषा की गरिमा, ऊंची कल्पना और पांडित्य था तो मीर 'अनीस' में सादगी, बेतकल्लुफ़ी और मानवीय भावनाओं को प्रभावित करनेवाली भाषा की वह विशेषता थी जो ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा से ही संभव थी, सीखने से प्राप्त नहीं हो सकती। इन दोनों बुज़ुर्गों ने मर्सियागोई की कला को कविता के अन्य रूपों से आगे बढ़ा दिया और उर्दू साहित्य में वे नयी चीज़ें पैदा कीं जिन्हें अंग्रेज़ी शिक्षा से प्रभावित लोग ढूंढने लगे थे।

'अनीस' और 'दबीर' ने मर्सियागोई को उस चरम सीमा पर पहुंचा दिया था कि अब मर्सियागोई बजाये एक दोष होने के सबसे बड़ा काव्यात्मक गुण बन गयी थी। लखनऊ के सभी निवासी इन दोनों महाकवियों के ऐसे प्रशंसक और गुणग्राहक हुए कि सारा शहर दो गिरोहों में बंट गया और हर सहृदय या तो अनीसिया था या दबीरिया और इन दोनों गिरोहों में आपस में हमेशा विरोध रहता था।

मीर 'अनीस' ने मर्सियागोई के साथ मर्सियाख्वानी (वाचन) को भी एक कला का रूप दे दिया। यूनान के कुछ वक्ताओं के बारे में सुना जाता है कि उन्होंने अपने भाषणों में असर पैदा करने के लिए ख़ास-ख़ास कोशिशें की थीं और वे स्वर के उतार-चढ़ाव और हावभाव तथा मुद्रा-परिवर्तन से अपने भाषण में प्रभाव उत्पन्न करते थे। इस्लाम की इस लंबी उम्र में इस अत्यंत आवश्यक कला को मीर 'अनीस' ने ही ज़िंदा किया। समुचित शब्दों की ध्वनि में विविधता लाने और विषय के अनुकूल चेहरा बना लेने, मर्सिया पढ़ते समय अंग-प्रत्यंग के हावभाव दिखाने आदि से उसे अधिक प्रभावशाली बना देने की कला लखनऊ की और वह भी 'अनीस' के घराने की ईजाद है जिसे तरक़्क़ी देने के लिए अब भी प्रयत्न किये जा रहे हैं और हमारे वक्ता अपने भाषण में प्रभाव पैदा करने के लिए अगर इन उस्तादों से कुछ सीखें तो बहुत ही सफल वक्ता बन सकते हैं।

ड्रामा पाश्चात्य काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, इससे अरबी और

फ़ारसी साहित्य बिल्कुल ख़ाली था और चूंकि फ़ारसी पर ही उर्दू भी आश्रित थी इसलिए वहां भी उसकी ओर कभी ध्यान नहीं दिया गया। संस्कृत में बहुत उच्च कोटि के नाटक थे मगर उनसे हिंदुस्तान की पिछली सोसाइटी बिल्कुल अनभिज्ञ हो चुकी थी। रामचंद्रजी और श्रीकृष्ण के कारनामे अलबत्ता हिंदुओं में धार्मिक निष्ठा के साथ दिखाये जाते थे। मगर उर्दू शाइरी को उनसे किसी तरह का सरोकार न था। रामचंद्रजी के हालात इंग्लिस्तान के ओलंपिया की तरह खुले मैदानों में महाकाव्य-प्रदर्शन की ही भांति दिखाये जाते और श्रीकृष्णजी के हालात नाच, गाने और संगीत के माध्यम से धार्मिक मंचों पर ठीक आपेरा की तरह से प्रस्तुत किये जाते जो 'रास' कहलाते थे। वाजिद अली को रास से ख़ास दिलचस्पी पैदा हो गयी और रास के प्लाट को आधार बनाकर उन्होंने अपना एक ड्रामा तैयार किया जिसमें वे कन्हैयाजी बनते या प्रेम में असफल एक योगी बनकर धूनी रमाते और बहुत-सी स्त्रियां अप्सराएं और गोपियां बन कर उन्हें ढूंढती फिरतीं। फिर जब क़ैसर बाग के मेलों का दरवाज़ा जन-साधारण के लिए भी खुल गया तो सारे शहर के शौक़ीनों में नाटक की कला स्वयं विकसित होने लगी और कुछ ही दिन में इस कला की ऐसी प्रगति हुई कि कुछ मशहूर शाइर भी उस युग के रुचि-स्तर के अनुसार नाटक लिखने लगे। चुनांचे वाजिद अली शाह के शौक़ के साथ ही मियां अमानत ने, जो एक अनुभवी कवि थे, 'इंदर सभा' लिखी और वर्तमानकाल की कंपनियों की तरह शहर में जगह-जगह विभिन्न मंडलियां उनकी 'इंदर सभा' को स्टेज पर खेलने लगीं जिनमें कहीं औरतें और कहीं लड़के ऐक्ट करते। इस नाटक में संगीत के नियमों के अनुरूप बड़ी कर्णप्रिय और मधुर धुनें बनायी गयीं और सारा शहर 'इंदर सभा' देखने के लिए लालायित रहता। मियां अमानत की 'इंदर सभा' की सफलता देखकर और लोगों को भी शौक़ हुआ और इस प्रकार के बहुत से नाटक रचे गये और सभी का नाम 'सभा' पड़ गया। चुनांचे शहर में मदारी लाल वग़ैरा की बहुत-सी सभाएं बन गयीं जिनके प्लाट बदले हुए थे।

सभा के नये रंग ने शहर में ऐसी ज़िंदादिली पैदा कर दी कि सिवाय 'इंदर सभा' के लोग किसी और प्रकार का नाच-गाना पसंद ही न करते थे। हर तरफ सभाओं की धूम थी और इसकी बुनियाद पड़ गयी कि समाज के स्तर के अनुसार पुराने प्रेमाख्यानों का अच्छी कविताओं में समावेश किया

जाये और उन्हें सुंदर ढंग से जनता के सामने पेश किया जाय। इसमें शक नहीं कि पारसी थियेटरों ने अपने अच्छे प्रबंध और आकर्षक प्रदर्शन के द्वारा सभाओं का रंग फीका कर दिया। लेकिन यह न समझो कि ड्रामे का जो रूप लखनऊ में बनकर प्रचलित हुआ था, मिट गया। पहले तो पारसियों ने भी इस चीज़ को लखनऊ से लिया है, उनका पहला आम खेल अमानत की 'इंदर सभा' था और इसके बावजूद कि लखनऊ के तमाम राष्ट्रीय समारोहों में आज तक सपेरे, हरिश्चंद्र वग़ैरा के ऐसे बीसियों प्रदर्शन हो रहे हैं और इस प्रकार के अभिनेताओं का एक स्थानीय गिरोह पैदा हो गया है जो जनता का मनोरंजन करता है हालांकि वहां के भद्रजनों की राष्ट्रीय रुचि समाप्त हो चुकी है। कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि उर्दू ड्रामे की बुनियाद ख़ास लखनऊ ही में पड़ी और यहीं से सारे हिंदुस्तान में इसका रिवाज हुआ।

उर्दू कविता का एक रूप वासोख़्त है। ये ख़ास क़िस्म के प्रेम-प्रणय संबंधी पद होते है और इनका विषय आम तौर पर यह होता है कि कवि पहले अपना प्रेम प्रकट करता है और उसके बाद अपनी प्रेमिका का नख-शिख वर्णन करता है। फिर उसकी बेवफ़ाइयां, उससे रूठ कर उसे यह विश्वास दिलाना कि हम किसी और प्रेमिका पर मोहित हो गये, उस काल्पनिक प्रेमिका के सौंदर्य की प्रशंसा करके अपनी प्रेमिका को जलाना, छेड़ना, जली-कटी सुनाना और यों उसका दर्प तोड़कर फिर मिलाप कर लेना। उर्दू काव्य का यह रूप लखनऊ ही से शुरू हुआ। मध्य युग के आते-आते तमाम शाइरों ने वासोख़्त लिखे हैं और उनमें बड़े-बड़े चमत्कार पैदा किये हैं। दिल्ली में भी बाद के ज़माने में अनेक वासोख़्त लिखे गये विशेषतः मोमिन ख़ां ने कई बहुत अच्छे वासोख़्त लिखे मगर आरंभ लखनऊ ही से हुआ।

अमीरों की विलासप्रियता ने और भी कई काव्य-रूप पैदा किये जिनका प्रारंभ दिल्ली ही से हुआ था इनमें सबसे अधिक बेकार हज़लगोई[1] है और कुछ हद तक दिलचस्प रेख़्ती[2] है। हज़लगोई का प्रारंभ दिल्ली में जाफ़र ज़टल्ली से हुआ जो शायद मुहम्मद शाह के जमाने में थे। उनके कथ्य को मैंने शुरू से आख़िर तक देखा है, सिवाय अश्लीलता और हद से बढ़कर बेशर्मी के न कोई काव्यात्मक सौंदर्य दिखायी देता है और न भाषा का ही कोई रस

[1] अश्लील कविता।

[2] स्त्रियों की भाषा में की गयी कविता।

है। इसके बाद दिल्ली की ही सरज़मीन से बिलग्राम के एक हज़लगो कवि जिनका उपनाम 'साहब करां' था, लखनऊ आये और यहीं चमके। उनका नाम सैयद इमाम अली था और आसफ़उद्दौला के जमाने में वे लखनऊ आये थे। मालूम होता है कि लखनऊ के गिरे हुए स्तर वाले रईसज़ादों में उनको लोक-प्रियता मिली। उनका दीवान मिलता है और हालांकि उनकी कविता अश्लील और शिष्टता से कोसों दूर है मगर फिर भी उसमें एक बात है। काव्यात्मक गुणों के साथ भाषा और मुहाविरों का प्रयोग भी सुंदर है। लेकिन इस कला को लखनऊ के आखिरी दौर में मियां मुशीर ने, जो मिर्ज़ा दबीर के शगिद थे, कमाल के दर्जे तक पहुंचा दिया।

हज़लगोई के सिलसिलें में मियां 'चिरकीं' का नाम भी लेना चाहिये। लखनऊ के मध्य युग में आशूर अली खां नामक एक जिंदादिल और बहुत ही योग्य और सहृदय रईस थे। उनके यहां की गोष्ठियां तत्कालीन समाज का एक सजीव नमूना थीं। उन्हीं ने जानसाहब और 'चिरकीं' को पैदा किया और कुछ लोग कहते हैं कि उन्ही की संगति में 'साहबकरां' भी पनपे थे। 'चिरकीं' अपने हर शेर में पेशाब-पाखाने का जिक्र करते और उनके हर शेर से ऐसी बदबू आती है कि नाम सुनते ही हमारे पाठकों के दिमाग़ सड़ गये होंगे मगर चूंकि उसमें एक विशेषता थी इसलिए हमने उनका ज़िक्र कर दिया। उनकी कविता में कुछ काव्यात्मक सौंदर्य और कुछ अच्छी उपमाएं भी प्रयुक्त हुई हैं लेकिन उनके रुचि-स्तर ने इन ख़ूबियों को भी गंदा और पलीद कर दिया है।

लेकिन रेख़्ती की कला अशिष्ट होने के बावजूद दिलचस्प है और 'चिरकीं' की शाइरी की तरह त्रासदायक नहीं। मर्दों और औरतों के मुहाविरों और लहजे में थोड़ा-बहुत फ़र्क़ हर ज़बान में हुआ करता है, मगर इतना नहीं जितना हमें अपनी ज़बान में नज़र आता है। फ़ारसी-अरबी सब भाषाओं में यह अंतर मौजूद है लेकिन उर्दू में यह अंतर बहुत ज्यादा स्पष्ट है। फ़ारसी और अरबी की प्राचीन रुचि यह थी कि स्त्रियां कविता करतीं तो अपनी ही भाषा में करती थीं और पुरुष यदि कभी स्त्रियों की भाषा में कोई भाव प्रकट करते हैं तो भाषा में लालित्य पैदा करने के लिए उन्हीं की भाषा का प्रयोग करते हैं। यही हाल अंग्रेजी का है। उर्दू शाइरी हमेशा से सिर्फ मर्दों की ज़बान में ही रही, यहां तक कि उसमें औरतें कहती भी हैं तो मर्द बनकर

कहती हैं, मर्दों ही की भाषा प्रयोग करती हैं और अपने लिए सर्वनाम तक पुल्लिग के इस्तेमाल करती हैं। अगर शाइर का नाम न मालूम हो तो कोई नहीं पहचान सकता कि यह किसी मर्द का कलाम है या औरत का।

उर्दू शाइरी का तीसरा या चौथा ही दौर था कि चंचल स्वभाव नवयुवकों में खयाल पैदा हुआ कि रेख़्ते की तरह एक रेख़्ती ईजाद की जाये। मीर हसन ने अपनी मसनवी में जरूरत के मौक़ा पर इस भाषा का प्रयोग किया था। मगर वहां तक तो कोई बात नहीं थी। मियां 'रंगीन' ने जो दिल्ली के रहनेवाले थे और लखनऊ की गोष्ठियों में भाग लेते थे इस रंग को स्थायी रूप से अपना लिया। लिहाजा सभ्य और शिष्ट समाज ने इस रंग को बेशर्मी और अशिष्टता समझा। चुनांचे सैयद 'इंशा' की ज़बानी हमने लखनऊ में दिल्ली के जिन सभ्य और वयोवृद्ध व्यक्ति और वहीं के एक वेश्या नूरन की बातचीत लिखी है उसमें वह बुजुर्ग फरमाते है, "और सबसे ज्यादा एक और सुनिये कि सआदत यार तहमास्प का बेटा अनवरी रेख़्ता अपने को जानता है। 'रंगीन' तख़ल्लुस है, एक क़िस्सा कहा है और इस मसनवी का नाम 'दिलपज़ीर' रखा है। औरतों की बोली इसमें बांधी है। मीर 'हसन' पर ज़हर खाया है, हर चंद उस मरहूम को भी कुछ शऊर न था। 'बद्र-ए-मुनीर' की मसनवी नहीं कही गोया मांडे का तेल बेचते हैं। भला इसको शेर क्यूंकर कहिये? सारे लोग दिल्ली के, लखनऊ के—औरत से लेकर मर्द तक—पढ़ते हैं:

चली वहां से दामन उठाती हुई
कड़े से कड़े को बजाती हुई

सो इस बेचारे 'रंगीन' ने भी इसी तौर पर किस्सा कहा है! कोई पूछे कि भाई तेरा बाप रिसालदार मुसल्लम, लेकिन बेचारा भाले का हिलानेवाला, तेग़ का चलानेवाला था, तू ऐसा काबिल कहां से हुआ? और शोहदपन मिज़ाज में रंडी बाजी से आ गया है तो रेख़्ते के तई छोड़कर एक रेख़्ती ईजाद की है इस वास्ते कि भले आदमियों की बहू-बेटियां पढ़कर मुश्ताक़ (उत्सुक) हों और उनके साथ अपना मुह काला करे भला यह कलाम क्या है?

ज़रा घर को 'रंगी' के तहक़ीक़ कर लो
यहां से है कै पैसे डोली कहारो

मर्द होकर कहता है, कहीं ऐसा न हो कमबख्त मैं मारी जाऊं? और

एक किताब बनायी है, उसमें औरतों की बोली है जिसमें ऊपरवालियां चली, ऊपरवाला चांद, उजली धोबन वग़ैरा वग़ैरा ।"

मगर मुहज़्ज़ब बुड्ढे शिकायत करते-करते मर गये। नौजवानों की रंगीनी ने 'रंगीन' की इस रुचि को बढ़ावा दे कर ही छोड़ा और रेख़्ती उर्दू का एक काव्यांग हो गया जिसका आविष्कार यद्यपि दिल्ली ही के एक कवि ने किया था, लेकिन लखनऊ में हुआ और यहीं उसका विकास हुआ। क़िस्से के सिलसिले में इस ज़बान को मीर 'हसन' के बाद नवाब मिर्ज़ा 'शौक़' ने जिस कमाल को पहुंचा दिया उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। पन्ने-के-पन्ने पढ़ते चले जाइये यही नहीं पता चलता कि शेर कहने में शाइर ने अपनी ज़रूरत के अनुसार बोलने की भाषा में कहीं कुछ तब्दीली भी की है या नहीं। लेकिन ग़ज़ल कहने में 'रंगीन' के उत्तराधिकारी जान साहब बने जो लखनऊ के एक मामूली शख़्स थे और आशूर अली ख़ां की ख़राद पर चढ़कर तैयार हुए थे। गो कि जान साहब के बाद और रेख़्तीगो भी लखनऊ में पैदा हुए मगर जो लोकप्रियता जान साहब को मिली उस तक कोई न पहुंच सका। उन्होंने ग़ज़लें कहीं, वासोख़्ती कहीं और भी कई नज़्में कहीं।

रेख़्ती में अगर अश्लीलता और लंपटता से बचकर साफ़-सुथरे भाव व्यक्त किये जाते तो यह कला भी प्रगति करती, मगर ख़राबी यह हुई कि उसकी बुनियाद ही लंपटता की भावनाओं और अश्लीलता के विचारों पर थी। इसलिए रेख़्तीगोयों का क़दम हमेशा तहज़ीब और संयम के मार्ग से भटक गया और उससे भाषा को चाहे कुछ फ़ायदा हुआ हो, मगर नैतिकता को नुक़सान पहुंचा।

[ 11 ]

उर्दू गद्य उम्र में पद्य से कुछ छोटा है। मुद्दत तक पढ़े-लिखे लोगों का यह रवैया रहा कि अगर्चे कुछ लोग फ़ारसी में भी शेर कहते थे मगर आम रुझान उर्दू ग़ज़ल ही की तरफ़ था और हिंदुस्तान में उर्दू शाइरों की तादाद फ़ारसी शाइरों से बहुत ज़्यादा थी। मगर जहां तक गद्य का संबंध है सारे देश को फ़ारसी ही में पढ़ने का शौक़ था। ज्ञान-विज्ञान की किताबें फ़ारसी में लिखी

जातीं, मज़हब की किताबें फ़ारसी में लिखी जातीं। यहां तक कि बूढ़े से लेकर बच्चे तक सब फ़ारसी ही में पत्र-व्यवहार करते थे। बच्चों को मदरसे में फ़ारसी ही की रचनाएं पढ़ायी जाती और फ़ारसी ही में खत लिखना उन्हें सिखाया जाता। नतीजा यह था कि बोलचाल में उर्दू भाषा चाहे कैसी ही मधुर हो गयी हो लेकिन जब लिखने की नौबत आयी तो सब गूंगे हो गये।

पहले-पहल उर्दू में मीर अम्मन देहलवी ने अंग्रेज़ों के प्रोत्साहन और उन्हीं की प्रेरणा से अपनी किताब 'चार दरवेश' लिखी। इसी ज़माने में मीरज़ा अली लुत्फ़ ने अपना तज़किरा-ए-शोअरा-ए-उर्दू लिखा जो अब्दुल्ला खां साहब की, जो उस समय हैदराबाद में थे, कोशिश से छप गया है। इसी ज़माने के क़रीब मौलवी इस्माईल साहब 'शहीद' ने तौहीद (अद्वैत) और इत्तिबाअ-ए-सुन्नत (पैग़ंबर के बताये मार्ग का अनुकरण) पर अपनी पुस्तक 'तक़वियत-उल-ईमान' (धर्म-शक्ति) लिखी। ये किताबें अब चाहे जिस नजर से देखी जायें उन दिनों कोई साहित्यिक चमत्कार दिखाने के लिए नहीं लिखी गयी थी। उनकी रचना सिर्फ इस उद्देश्य से की गयी थी कि सीधी-सादी भाषा में अपनी बात कह दी जाये और जन-साधारण उससे फायदा उठा सकें। उपर्युक्त महानुभावों को अगर उर्दू साहित्य का कमाल दिखाना होता तो उस समय की लेखन-शैली के अनुसार 'ज़हूरी' और नेमत खान-ए-आली और अबुलफ़ज़ल और ताहिर वहीद का रंग अपनाते जो उस समय साहित्य-जगत पर छाया हुआ था और जिसके बिना कोई रचना देश में प्रशंसा योग्य नहीं समझी जाती थी। लेखन ही नहीं बोलचाल में भी अगर शिष्टाचार का ज्यादा खयाल रखा जाता तो वही अंदाज इख्तियार कर लिया जाता जैसा कि सैयद इंशा ने मीरज़ा मज़हर जाने-जाना के भाषण से कुछ शब्द उद्धृत करके बना दिया है।

सच पूछिए तो उर्दू का गद्य लेखन लखनऊ ही से शुरू हुआ जबकि पहले मिर्ज़ा रजब अली बेग 'सुरूर' ने 'फ़साना-ए-अजायब' और अपनी दूसरी पुस्तकें प्रकाशित कीं। इसी ज़माने में 'नौरतन' भी लखनऊ में लिखी गयी जिसके लेखक मुहम्मद बख़्श 'महजूर' जो 'जुरअत' के शिष्य थे, लखनऊ ही में पले-बढ़े थे।

रजब अली बेग 'सुरूर' ने, सच यह है कि, गद्य-लेखन का चमत्कार दिखाया है और जिस वक्त वह किताब प्रकाशित हुई है, उर्दू-जगत में उसे बड़े आश्चर्य से देखा गया। मगर दुर्भाग्य से उन्होंने भूमिका में मीर अम्मन पर हमला कर

दिया था जिसकी वजह् से उनकी सारी विशेषताओं का दिल्ली वालों की दृष्टि में कोई महत्व नहीं रहा। यहां तक कि मीर मुहम्मद हुसैन आज़ाद जैसे शिष्ट व्यक्ति भी उन्हें 'लखनऊ का शोहदा' बताते हैं और मालूम नहीं रजब अली बेग मरहूम से इस गुस्ताखी का बदला कब तक लिया जायेगा ? मीर अम्मन के गद्य का सौंदर्य अंग्रेज़ों को उन दिनों चाहे नज़र आ गया हो मगर हिंदुस्तान के उर्दू भाषियों में से किसी को नज़र न आया था और न नज़र आ सकता था। इसका कारण यह था कि अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव ने उस समय तक हिंदुस्तान के साहित्य की रुचि नहीं बदली थी और पूर्व का साहित्य खयालों और दिमागों में बसा हुआ था।

साहित्यिक शैली के बारे में मैंने कई बार लिखा है और फिर लिखता हूं कि उसका संबंध शिक्षा और रुचि विशेष के विकास से होता है। जिस तरह ग़िज़ाओं, ख़ुशबूओं और रंगों तथा अन्य तमाम चीज़ों को नगर विशेष की संस्कृति अच्छा या बुरा बनाया करती है और विभिन्न जातियों तथा देशों में इतना मतभेद रहता है कि एक की स्वादिष्टतम और अत्यंत प्रिय वस्तु दूसरे के लिए बहुत ही नीरस और गर्हणीय होती है वैसे ही साहित्य और उसकी रुचि होती है। जो शैली एक जाति में विकसित होकर लोकप्रिय हो जाती है, वही दूसरी जाति की दृष्टि में नीरस, निरर्थक और मूर्खतापूर्ण होती है और उन दोनों में कोई यह निर्णय नहीं कर सकता कि कौन-सी अच्छी है और कौन-सी बुरी।

इस्लाम-पूर्व अरब में वही शैली सुंदर और अलंकृत मानी जाती थी जिसमें अनुप्रासात्मक वाक्य लिखे जायें, इबारत में उचित और प्रचलित शब्द और उनके पर्यायों का प्रयोग हो और एक ही मतलब बार-बार दोहराकर उसे प्रभावशाली और दिलचस्प बनाया जाये। इसी शैली को क़ुरान ने, चूंकि वह उसी जाति की भाषा में था, बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से विकसित किया और फिर वही शैली अरबी साहित्य का एक आवश्यक तत्व बन गयी। आजकल के स्तर से देखा जाये तो अरबी की मानक कृतियां 'मुक़ामात-ए-हरीरी' और 'तारीख़-ए-तैमूरी' आदि में अत्यधिक अनुप्रास, अनुचित विस्तार और अनावश्यक शब्दों की भरमार के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसका मुद्दतों तक संसार भर आनंद लेता रहा है। यही शैली फ़ारसी के साहित्यकारों ने अपनायी और ज्यों-ज्यों साहित्य प्रगति करता गया यही शैली प्रौढ़ और स्थायी बन गयी और चूंकि

प्रारंभ के उर्दू साहित्यकार इसी शैली से प्रभावित थे इसलिए उन्होंने भी इसी का अनुसरण किया और सभी ने उनकी प्रशंसा की। लिहाज़ा यह सोचना कि 'चार दरवेश' जिन दिनों लिखी गयी है उन दिनों वह सिवाय इसके कि अंग्रेज़ों को पसंद थी, जो उर्दू जानते ही न थे, हिन्दुस्तान के शिक्षित जन-समुदाय में कोई साहित्यिक चमत्कार समझी गयी होगी, बिल्कुल ग़लत है।

अब अंग्रेज़ी के असर से बेशक ऐसा ज़माना आ गया है जब उर्दू को पुराने लिटरेचर ने जो ज़ेवर और लिबास पहनाया था, उतार लिया गया और नये पश्चिमी कपड़े पहनाये गये। 'चार दरवेश' और उसकी-सी दूसरी किताबें चूंकि पुराने साहित्यिक आभूषण और वेशभूषा से वंचित थीं इसलिए लोगों को पसंद आयीं, इसलिए नहीं कि उनमें कोई ख़ास ख़ूबी थी बल्कि इसलिए कि उस प्राचीन और लोकप्रिय साहित्य की विशेषताओं से रिक्त थीं जो आज के लोगों को नापसंद है।

उसी ज़माने में लखनऊ में मौलवी गुलाम इमाम 'शहीद' ने अपना मशहूर 'मौलूद शरीफ़' लिखा जो उस वक़्त की साहित्यिक रुचि के ऐसा अनुकूल था कि लोगों को बहुत पसंद आया और धार्मिक लोकप्रियता के कारण आज भी बहुत पसंद है।

लेकिन आधुनिक उर्दू गद्य वस्तुतः दिल्ली ही से निकला और हमेशा दिल्ली का ऋणी रहेगा। मिर्जा ग़ालिब ने उर्दू गद्य में सादगी और सहजता की शैली अपनायी जो आधुनिक रुचि के बहुत ही अनुरूप है। हालांकि उनके यहां भी कभी-कभी अनुप्रास की छटा दिखायी देती है लेकिन वह इतनी सहज है कि पढ़ने वाले को उसका एहसास ग़ौर करने से ही हो पाता है। आधुनिक शिक्षा ने लोगों को इस शैली को अपनाने के लिए पूरी तरह तैयार कर दिया था, लिहाज़ा हर जगह वाह-वाह होने लगी। उसके बाद सर सैयद ने इस सादगी में गंभीरता पैदा की मगर इस कोशिश के साथ कि भाषा कठिन न होने पाये और ऐसी रहे कि छोटे-बड़े सभी उसे समझ लें। मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने इसमें गंभीरता के साथ और भी सरलता पैदा कर दी जबकि लखनऊ के लोग अंग्रेज़ी के प्रभाव से दूर होने के कारण अभी तक पुरानी शैली पर ही मुग्ध थे। यहां वाजिद अली शाह की जिंदगी के आखिरी वक़्त तक रंगीन और सानुप्रास इबारत लिखी जाती थी और लोगों को इस सादगी का मज़ा नहीं मिल पाया था।

अब अलीगढ़ से 'तहज़ीब-उल-अखलाक़', आगरे से 'तेरहवीं सदी' और लखनऊ से 'अवध पंच' निकल रहे थे जिनमें से हरेक में उर्दू गद्य का एक विशिष्ट नमूना मिल जाता था। 'तहजीब-उल-अखलाक़' में गंभीरता और विद्वत्ता के साथ राष्ट्रीय सहानुभूति का भी पुट था। सुलझी हुई साफ भाषा थी और नये पाश्चात्य साहित्य और दर्शन से लिये हुए विचार और प्रभावशाली लेख तथा भाषण थे। 'तेरहवीं सदी' में उच्च लेखन योग्यता के साथ-साथ नये विचारों और नवीन बातों के माध्यम से प्राचीन साहित्यिक रुचि की भी रक्षा की जाती थी और पुराना पौर्वात्य साहित्य कुछ ऐसी नवीन सद्भावनाओं के साथ नयी शैली में प्रस्तुत किया जाता था कि नये और पुराने दोनो गिरोहों से उन्हें वाहवाही और प्रशंसा मिलती थी।

'अवध पंच' में भाषा का असल रूप दिखाया जाता था जिस में मज़ाक़ का पहलू हावी रहता। इसके विभिन्न लेखक थे और हरेक के मज़ाक़ में एक खास खूबी और खास मजा रहता था। मुंशी सज्जाद हुसैन एडिटर की शोखियां मिर्ज़ा मच्छू बेग साहब की कौसर[1] की धोयी हुई ज़बान, मुंशी एहमद अली कसमंडवी की फ़ारसीनिष्ठ साहित्यिक और काव्यात्मक रुचि प्रकट करनेवाली शैली, प० त्रिभुवन नाथ 'हिज्र' की हिंदी कविताए और उनको बड़ी दिलचस्पी के साथ ज़ाहिर करनेवाले लेख उर्दू गद्य में एक विचित्र सजीवता और प्रफुल्लता उत्पन्न करते थे।

इसी अवधि में अवध अखबार के साथ प० रतन नाथ 'सरशार' का उपन्यास 'फ़साना-ए-आज़ाद' प्रकाशित होना शुरू हुआ जिसने देश पर बड़ा असर डाला और उर्दू जगत उपन्यास कला से परिचित होकर उस पर मोहित हो गया। 'फ़साना-ए-आज़ाद' में जहां लेखक ने अपने क़लम से कोई दृश्य चित्रित किया है या किसी घटना का वर्णन किया है वहा वही 'फ़साना-ए-अजायब' की पुरानी शैली कुछ विकसित रूप में अपनायी है और जहां दूसरों की ज़बान से बातचीत करायी है वहां बहुत ही सादी और सरल भाषा रखी है। विशेषकर औरतों की भाषा बहुत ही सुंदर है गो उसमें कहीं-कहीं ग़लतियां भी हो गयी हैं मगर सच यह है कि अपनी कोशिश मे उन्हें जो सफलता मिली है वह उनसे पहले किसी को न मिल सकी थी।

यही जमाना है जब कि मौलवी नज़ीर एहमद साहब ने गवर्नमेंट की

---

[1] स्वर्ग का एक कुंड।

फ़रमाइश से ताज़ीरात-ए-हिंद का अनुवाद किया और अपनी किताबों के ज़रिये से एक ऐसी ज़बान देश के सामने पेश की जो कहीं अपनी सहजता और कहीं प्रवाह में अपना सानी नहीं रखती और कहीं अरबी के शब्दों से बोझिल होने के कारण दुर्गम और अलंकृत हो गयी है। इसी ज़माने में मौलवी मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद का साहित्य भी बहुत लोकप्रिय हो रहा था विशेषकर उन्होंने उर्दू भाषा का इतिहास और उर्दू के कवियों का तज़किरा (चर्चा) लिखकर उर्दू साहित्य में बड़ी ख्याति प्राप्त की। इसी ज़माने में 1882 ई० में 'महशर' नामक एक साप्ताहिक पत्रिका मैंने मौलवी मुहम्मद अब्दुल बासित साहब 'महशर' के नाम से निकाली जिसके ज़रिये से एडिसन की शैली उर्दू में ऐसे सुंदर शीर्षकों और समुचित शब्दों तथा विचारों के साथ प्रस्तुत की कि देश सहसा चौंक-सा पड़ा, साथ ही मेरे लेख 'अवध अख़बार' के कालमों में प्रकाशित होने शुरू हुए, जिन्होंने देश के सामने एक बिल्कुल नया साहित्य पेश किया जो इतना लोकप्रिय हुआ कि हर तरफ़ से वाहवाही होने लगी। यकायक नज़र आया कि अधिकतर लेखक इसी शैली को अपना रहे हैं और देश का आम रुझान इसी तरफ़ है। इसी दरम्यान में मैंने अपना दिलचस्प और प्रभावशाली ड्रामा 'शहीद-ए-वफ़ा' पाठकों के सामने पेश किया और हर तरफ़ से मुझे प्रोत्साहन मिलने लगा।

अंत में देशवासियों का आग्रह देखकर 1887 के प्रारंभ में मैंने अपनी पत्रिका 'दिलगुदाज़' जारी की जिसे अंग्रेज़ी जाननेवालों और पुरानी लीक को पसंद करनेवालों ने समान रूप से पसंद किया। फिर 1888 ई० से उसके साथ ऐतिहासिक उपन्यासों का सिलसिला जारी किया गया जिनमें सबसे पहला उपन्यास 'मलिकुल-अज़ीज़-वर्जिना' है। इन उपन्यासों का देश में जिस प्रकार स्वागत हुआ वह बताने की तो ज़रूरत नहीं है मगर इतना बता देना ज़रूरी है कि इन्हीं उपन्यासों की वजह से घटनाओं को जानने और पुस्तकें पढ़ने का शौक़ बढ़ने की बुनियाद पड़ी। इन्हीं उपन्यासों के माध्यम से देश में इतिहास के पढ़ने और संसार के बारे में दिलचस्पी लेने का शौक़ पैदा हुआ और इन्हीं उपन्यासों और 'दिलगुदाज़' के पन्नों से वह शैली जन्मी जिस पर वर्तमान उर्दू साहित्य की बुनियाद रखी गयी है।

बहरहाल उर्दू के गद्य का संबंध जहां तक प्राचीन साहित्यिक शैली से है उसकी बुनियाद लखनऊ में पड़ी। हां, आधुनिक शैली का प्रारंभ दिल्ली से हुआ, मगर

इस कोशिश में जहां तक संभव हुआ लखनऊ ने दिल्ली का साथ दिया। विशेष रूप से हास्य-संबंधी रुचि लखनऊ ही से पैदा हुई और यहीं उसका विकास हुआ।

## [ 12 ]

लेकिन उर्दू भाषा का जो विकास लखनऊ में हुआ वह कवियों, साहित्यकारों, गद्यकारों और लेखकों तक ही सीमित नहीं है। विभिन्न संस्थाओं और वर्गों में भाषा की प्रगति और विस्तार की नयी-नयी संभावनाएं पैदा हुई जिन्होंने सभी वर्ग वालों के लिए विशेष दिलचस्पी का सामान जुटाया।

इनमें से अधिक महत्वपूर्ण दास्तानगोई है जो दरअसल आशु कविता करने को कहते हैं। यह कला वास्तव में अरबों की है जहां इस्लाम-पूर्व युग में भी दास्तानगोई की गोष्ठियों का आयोजन हुआ करता था। लेकिन हिंदुस्तान की दास्तानगोई के बारे में हम नहीं जानते कि अरब की क़िस्साख़्वानी से इसका कोई संबंध है या नहीं। अमीर हम्ज़ा की दास्तान जो दास्तानगोयों का असली प्रेरणा-स्रोत है वास्तव में फ़ारसी में थी और कहते हैं कि शंहशाह अकबर के ज़माने में अमीर ख़ुसरो नामक एक योग्य व्यक्ति ने इसकी रचना की थी। इतिहास साक्षी है कि तुग़लक़ वंश के बादशाहों के शासनकाल में 'दास्तान-ए-अमीर हम्ज़ा' मौजूद थी।

दिल्ली के प्रसिद्ध दास्तान-लेखक लखनऊ में आना शुरू हुए। यहां अफ़ीमचियों ने उनका ऐसा आदर-सम्मान किया कि दास्तान सुनने को अपनी गोष्ठियों का एक महत्वपूर्ण अंग बना लिया। कुछ ही दिनों में लखनऊ में उसका ऐसा चलन हो गया कि कोई धनिक ऐसा न था जिसकी सरकार में कोई दास्तानगो नियुक्त न हो। सैकड़ों दास्तानगो पैदा हो गये। सच तो यह है कि हमारे आजकल के बड़े-से-बड़े वक्ताओं में से अभी तक किसी को वक्तृता में वह प्रतिष्ठा नहीं मिली जो उन दास्तानगोयों को प्राप्त थी जिनका भाषा और विषय पर पूरा अधिकार था। दिल्ली में भी दो-एक उच्च कोटि के दास्तानगो आज तक पड़े हैं मगर लखनऊ में उनकी संख्या बहुत अधिक है और उनकी वर्णन शैली का प्रभाव शहर के लोगों की भाषा पर बहुत अधिक पड़ा

है। उपन्यास-साहित्य से दिलचस्पी पैदा होने के बाद जब इस बात की कोशिश की गयी कि दास्तान को दास्तानगोयों की ही ज़बान में लिखवा लिया जाये तो लखनऊ से ही ऐसे दक्ष दास्तानगो सामने आये जिन्होंने मोटे-मोटे ग्रंथ लिखकर उर्दू पाठकों के सामने पेश कर दिये। चुनांचे 'जाह' और 'क़मर' की रचनाएं बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं।

दास्तान के चार लक्षण निश्चित किये गये है : रज़्म, बज़्म, हुस्न-ओ-इश्क़ और ऐयारी। इन चारों लक्षणों में लखनऊ के दास्तानगोयों ने ऐसे-ऐसे चमत्कार दिखाये हैं जिनका अंदाजा बिना देखे और सुने नहीं हो सकता। शब्दों से चित्र खींचना और उन चित्रों से बड़ा गहरा और स्थायी प्रभाव श्रोताओं के मन पर डाल देना उन लोगों का ख़ास कमाल है।

सामाजिक मनोरंजन, मज़ाक, हास्य और दिल्लगी के माध्यम से भी लखनऊ में भाषा की कई शैलियां पैदा हो गयीं जिनमें कोई अन्य स्थान लखनऊ का मुक़ाबिला नहीं कर सकता। इन्हीं में से एक फब्ती कहना है। इसका दरअसल काव्यगत उपमा और अलंकार से संबंध है लेकिन इसमें इतनी विशेषता है कि यह किसी को बिगाड़कर दिखाने, उसके अवगुण को स्पष्ट करने और समयानुकूल कोई अनोखी, हंसाने वाली और अवगुण प्रकट करने वाली उपमा दे देने तक सीमित है। लखनऊ के निचले वर्ग के लड़के, बाज़ारू औरतें, जाहिल दुकानदार और दस्तकार तक ऐसी फब्तिया कस जाते है कि बाहरवालों को आश्चर्य होता है। एक साहब कर्बला[1] की ज़ियारत करके वापस आये और बिल्कुल सफेद कपड़े पहनकर दोस्तों में आकर बैठे ही थे कि एक लौंडे ने कहा, "ऐ, यह फ़रात का बगला कहां से आ गया ?" एक बूढ़े दूल्हा ख़िज़ाब लगाकर दुलहन ब्याहने को आये और बड़ी धूम की बरात लाये। ज़नाने से निकल कर वह महफ़िल में आ रहे थे। जूता उतारने के लिए झुके और चंद क़दम फ़र्श पर घुटने टेक कर चले। किसी की ज़बान से निकला, "दूल्हा कहां है ?" शोख़ मिज़ाज रंडी जो खड़ी मुजरा कर रही थी, हंसकर बोली, "ऐ वो मैयों-मैयों चला तो आता है।" एक कबड़िया चौक में पौंडे बेच रहा था, आवाज़ यह थी, "अरे भई ये कनकौवे कौन-कौन लूटेगा ?" क्या इससे ज़्यादा विनोदपूर्ण कोई और अलकार हो सकता है। सूक्ष्म अलंकार वह है जिसमें अपमान की कोई

[1]इराक़ का एक प्रसिद्ध स्थान जहां हज़रत इमाम हुसैन शहीद हुए थे और जहां उनका मज़ार है।

विशेषता बताकर उक्ति में वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया जाये। इसका इससे बढ़-कर और क्या उदाहरण हो सकता है कि न पौंडे का नाम लिया, न लग्गे का जिससे कनकौवे लूटे जाते हैं। और फिर इससे ज़्यादा मुनासिब और बाजारी लोगों के स्तर की कोई उपमा नहीं हो सकती। इसी तरह की सैकड़ों-हजारों मिसालें है जो यहां की गोष्ठियों में उठते-बैठते हर समय सुनी जाती है।

दूसरा 'ज़िला'[1] है। यह दरअसल काव्यात्मक अलंकार है जिसने जनता की बातचीत और मज़ाक़ की बातचीत में आकर खास रंग पैदा कर दिया है। ज़िला मे कोशिश की जाती है कि जिस चीज का ज़िक्र हो अर्थ उससे सम्बद्ध सभी चीजें किसी-न-किसी पहलू से बातों में ले आयी जायें। आज़ाद फ़क़ीर जिनका एक खास रंग-ढंग था ज़िला बोलने मे अपना सानी नहीं रखते थे। अमानत ने अपनी शाइरी में अलंकारों के प्रयोग की ऐसी कोशिश की कि अन्य सभी काव्यगत गुणों को भुलाकर अलंकार को ही अपना ध्येय बना लिया। नतीजा यह हुआ कि उनकी कविता कविता न रहकर [illegible] रह गयी। फिर भी लखनऊ के अधिकतर लोगों ने अपनी ऐसी [illegible] निकला न होगा और, इस कला को ऐसा बढ़ावा दिया कि [illegible] पीछे पड़ गयी। सच यह है कि किसी जगह के लोग ज़िला बोलने में लखनऊ से कभी आगे नहीं बढ़ सकते। इस कला पर एक पुस्तक भी प्रकाशित हो गयी है।

तीसरी शैली तुकबंदी है, यह तुकें मिलाकर कविता करने का नाम है। बहुत से जाहिल जब इधर ध्यान देते है तो जवाब-सवाल में इस तरह बिना तैयारी के अन्त्यानुप्रासों का प्रयोग करते है कि बड़े-बड़े शाइरों को अचम्भा होता है। हमने अपने विद्यार्थी काल में एक हिंदू बुढ़िया के कानेवाला देखा है जो सुबह खोंचा लगाकर निकलता। सूरत देखते ही सैकड़ों बाजारी लौंडे उसे घेर लेते और वह रास्ते में ही खोंचा रख कर बैठ जाता। फ़ौरन लौंडों का उससे तुकबंदी का मुक़ाबिला शुरू हो जाता। सारी भीड़ एक तरफ़ होती, दोनों पक्षों के बीच गालियों की बौछारें होतीं, मगर शर्त थी कि कोई गाली तुक से बाहर न हो। हमने ऐसा बीसियों बार देखा, घंटों उससे मुक़ाबिला रहता। मगर हमने कभी नही देखा कि वह जवाब में हारा हो, कोई न कोई तुक ढूंढ कर पेश कर ही देता था।

---

[1] द्वियर्थक बात, व्यंग्योक्ति।

इसी तरह मज़ाक़ और आम बातचीत में तरह-तरह के नये विचार और कल्पनाएं सामने आती थीं और अनपढ़ लोग कभी-कभी ऐसे खयाल पेश कर दिया करते थे कि बड़े-बड़े शाइर हैरान रह जाते थे। यह ज़माना दरअसल लखनऊ का 'गोल्डन एज' था। कविता और साहित्यिक गुण लोगों के रग-रेशे में जम गये थे। हर शख्स जो मामूली पढा-लिखा होता काव्य-रचना शुरू कर देता। जाहिल लोग, निचले वर्ग के लोग और घर की बैठने वाली औरतों तक में कवियों की-सी सोच और साहित्यिक कोमलता पैदा हो गयी थी। अनगढ़ कबाडिये शाइर थे और जाहिलों की भाषा भी इतनी साफ-सुथरी, शिष्टाचार के शब्दों से युक्त और सुसंस्कृत थी कि अक्सर पढ़े-लिखे लोग उनकी बातचीत सुनकर चकित रह जाते और कोई यह कल्पना भी न कर पाता कि वे बे-पढ़े-लिखे होंगे। सौदा बेचने वालों की सदाएं ऐसी काव्यमय, अलंकृत और उक्ति-वैचित्र्य से परिपूर्ण होती थीं कि दूसरे उसे समझ भी न पाते थे।

निचले वर्ग के लोगों ने भी अपनी रुचि के अनुरूप खास साहित्यिक दिलचस्पियां पैदा कर ली थीं। मिसाल के तौर पर एक शैली खयाल की पैदा हो गयी। लोग बिना सोचे या तैयारी के शेर लिखकर दायरे पर गाते। उसका नाम खयाल इसलिए रखा गया कि हर व्यक्ति अपनी कल्पनाशक्ति से कोई नयी बात पैदा करे। इस कला के यहां अनेक मर्मज्ञ पैदा हुए जिनका हालांकि उच्च वर्ग के समाज और शिक्षित लोगों की गोष्ठियों से कोई संबंध नहीं था लेकिन वास्तव में देखा जाये तो वह वास्तविक और प्राकृतिक कविता थी और कुछ वैसी ही थी जैसी कि इस्लाम-पूर्व युग के अरब में थी।

इसी तरह एक गिरोह डंडेवालों का पैदा हो गया। इन लोगों की यह शान थी कि पिछले युग की महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध घटनाओं को बड़े चमत्कार-पूर्ण ढंग से कविताबद्ध करते। जो जैसा होता—चाहे वह कितना ही प्रभावशाली और धनवान हो—उसे वैसा ही बड़े निर्भीक ढंग से चित्रित करते और साबित करते कि देश को इससे क्या फ़ायदा हुआ या कितना बड़ा नुकसान पहुंचा। फिर अपनी इन कविताओं को शेर पढ़ने के एक खास ढंग से डंडे बजा बजाकर सुनाते।

स्त्रियों की भाषा पुरुषों की अपेक्षा हर देश और जाति में अधिक साफ और आकर्षक होती है, मगर लखनऊ में यह खास बात थी कि महलों और संभ्रांत परिवार की सम्मानित बेगमों की भाषा में स्त्रैण आकर्षणों के अतिरिक्त

साहित्यिक कोमलता पैदा हो गयी थी। बातें करतीं तो मालूम होता कि मुंह से फूल झड़ रहे हैं और ग़ौर कीजिये तो शब्दों का शुद्ध प्रयोग, सुंदर शब्द विन्यास और व्यंजनाशैली से प्रकट होता है कि भाषा का इस प्रांत में कितना विकास हो चुका है।

## [ 13 ]

इसके बावजूद कि अरबी विद्याओं के बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान लखनऊ में पैदा हुए, इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि अरबी की शिक्षा देश के बड़े-बड़े धर्मगुरुओं और नेताओं तक सीमित थी। हिंदुस्तान में दरबारी ज़बान फारसी थी। नौकरी हासिल करने के लिए और समाहृत गोष्ठियों या सभाओं में चमकने के लिए यहां फ़ारसी की शिक्षा काफी समझी जाती थी। अवध ही नहीं सारे हिंदुस्तान में साहित्यिक तथा नैतिक प्रगति का साधन केवल फ़ारसी ही मान ली गयी थी। मुसलमान तो मुसलमान ऊंचे वर्ग के हिंदुओं का आम रुझान फ़ारसी साहित्य की ओर था। यहां तक कि उच्च कोटि के लेख हिंदू लेखकों की क़लम से ही लिखे गये थे। टेकचंद 'बहार' ने 'बहार-ए-अजम' की-सी लाजवाब किताब लिखी जो फ़ारसी भाषा का एक अनुपम शब्दकोष है और जिसमें हर मुहावरे के प्रमाण में अधिकृत कवियों के शेर प्रस्तुत किये गये हैं। लखनऊ के प्रारंभिक उत्थान में मुल्ला 'फायक़' का, फिर मिर्ज़ा 'क़तील' का नाम मशहूर हुआ जो एक नव-मुस्लिम फ़ारसीविद थे। वे खुद तो मज़ाक में कहा करते कि "बू-ए कबाब मरा मुसलमान कर्द" (कबाब की गंध ने मुझे मुसलमान बना दिया) मगर सच यह है कि फ़ारसी की शिक्षा, उससे दिलचस्पी और उसमें कमाल हासिल करने की इच्छा ने उन्हें मुसलमान होने पर मजबूर कर दिया। उन्होंने सिर्फ इसी शौक़ में ईरान का सफ़र किया। बरसों शीराज़, इस्फ़हान, तेहरान और अज़रबेजान की खाक छानी और फ़ारसी साहित्य में उनकी ऐसी प्रतिष्ठा हो गयी कि खुद फ़ारसीभाषी भी ऐसे महान भाषाविद से ईर्ष्या करें तो आश्चर्य की बात नहीं है।

मिर्ज़ा गालिब ने जा-बजा मिर्ज़ा 'क़तील' पर हमले किये हैं। बेशक मिर्ज़ा गालिब का फ़ारसी ज्ञान उच्च कोटि का था। वे इस सिद्धांत पर बार-बार

जोर देते थे कि किसी ऐसे व्यक्ति के अलावा जिसकी कोई भाषा-विशेष मातृ-भाषा हो और किसी व्यक्ति का कथन प्रमाण नहीं माना जा सकता। मगर उनके समय में चूंकि अवध से बंगाल तक लोग 'क़तील' के अनुयायी थे और बात-बात पर 'क़तील' का नाम लिया जाता था इसलिए मिर्ज़ा ग़ालिब को अक्सर तैश आ गया और जब 'क़तील' के अनुयायियों ने उनको आड़े हाथों लिया तो कहने लगे :

फ़ैजे अज़ सोहबत-ए-क़तीलम नीस्त
रश्क बर शोहरत-ए-क़तीलम नीस्त
मगर आंना कि फ़ारसी दानंद
हम बरीं अहद-ओ-राए-पैमानंद
कि ज़अहल-ए-ज़ुबां न बूद क़तील
हरगिज़ अज़ इस्फ़हां न बूद क़तील
लाजरम एतिमाद रा न सज़द
गुफ्ता अश इस्तनाद रा न सज़द
कीं ज़ुबान खास अहल-ए-ईरान अस्त
मुश्किल-ए-मा-ओ-सहल-ए ईरान अस्त
सुखनस्त आश्कार-ओ-पिन्हा नीस्त
देहली-ओ-लखनऊ ज़-ईरां नीस्त

[मुझे 'क़तील' की संगति में बैठने का और उनसे लाभान्वित होने का अवसर नहीं मिला है, न ही मुझे उनकी ख्याति से कोई द्वेष है। लेकिन मुझे अगर ईर्ष्या और द्वेष किसी से होगा तो किसी ऐसे फ़ारसीविद से होगा जिसकी मातृभाषा फ़ारसी हो। 'क़तील' की मातृभाषा फ़ारसी नहीं थी, न ही वह इस्फ़हान के रहने वाले थे, लिहाज़ा उनके काव्य को प्रामाणिक या विश्वसनीय नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह भाषा ईरानियों की है जो हमारे लिए कठिन है और उनके लिए सरल। उनकी कविता में कोई ऐसी प्रकट या प्रच्छन्न बात नहीं है क्योंकि दिल्ली और लखनऊ ईरान के शहर नहीं है।]

मगर इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि 'क़तील' ने फ़ारसी ज्ञान के लिए जो प्रयत्न किये और उसमें दक्षता प्राप्त करने में ज़िंदगी गुज़ारी, वह बिल्कुल बेकार गया। इस बात के मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो

सकती कि 'क़तील' का कोई दावा, जब तक वे फ़ारसी भाषी विद्वान का प्रमाण न दें, स्वीकार नहीं किया जा सकता और न खुद क़तील के मन में कभी यह विचार आया होगा। लेकिन यह सिर्फ 'क़तील' पर ही निर्भर नही, हिंदुस्तान का कोई व्यक्ति खुद प्रमाण नहीं हो सकता। खुद मिर्ज़ा नौशा ग़ालिब भी कोई फ़ारसी का मुहाविरा किसी ईरानी के सुबूत के बिना इस्तेमाल नही कर सकते। हिंदुस्तान के फ़ारसीविदों की अगर कुछ प्रतिष्ठा बन सकती है तो सिर्फ इस आधार पर कि फ़ारसी काव्य का उनका अध्ययन गहन है और वे फ़ारसी के प्रत्येक शब्द का ठीक प्रयोग कहा-कहा हो सकता है इससे परिचित हैं। इस दृष्टि से सच पूछिये तो ग़ालिब के मुकाबिले मे 'क़तील' अधिक प्रामाणिक थे। ग़ालिब जिंदगी भर हिंदुस्तान की खाक छानते रहे और साथ ही जीविका-अर्जन के लिए प्रयत्नशील रहे। 'क़तील' का जीवन सुख-संतोष में बीता था और वे बरसों ईरान मे रह कर गांव-गाव की ठोकरें खाते फिरे थे।

कुछ भी हो, लखनऊ के फ़ारसी ज्ञान का श्रीगणश 'क़तील' से हुआ और उनसे कुछ पहले मुल्ला 'फ़ायक़'' ने, जिनका खानदान आगरा से आकर लखनऊ के आसपास बस गया था, फ़ारसी गद्य-पद्य मे उच्च कोटि के ग्रंथो की रचना की। फ़ारसी भाषी और फ़ारसीविद हिंदुस्तन मे उनसे पहले भी गुज़रे थे, मगर फ़ारसी जानने के साथ-साथ उस भाषा के नियम और उसका व्याकरण तैयार करने का शौक़ पहले-पहल लखनऊ ही मे शुरू हुआ और वह इन्ही की क़लम से जाहिर हुआ। उनकी किताबे अगर सच पूछिये तो बेमिसाल हैं।

उसके बाद फ़ारसी की शिक्षा आम हो गयी और उसका पाठ्यक्रम इतना कठिन बना दिया गया जो सच यह है कि खुद ईरान के पाठ्यक्रम से अधिक कठिन था। ईरान में, जैसा कि हर देश का नियम है, सीधी-सादी भाषा जिसमें सफाई के साथ कोई बात कही जाये, पसंद की जाती है और उसी प्रकार का पाठ्यक्रम भी है। हिंदुस्तान में 'उर्फ़ी' ज 'फ़ैजी' और नेमत खान-ए-अली जैसे नाज़ुकख़याल शाइरों का काव्य पाठ्य-पुस्तकों में शामिल हो गया। मुल्ला तुग़रा और पंजरुक्क़ा के लेखक जैसे दुरूह कवियों की कविताएं पढ़ी और पढ़ायी जाने लगीं जिससे दावा किया जा सकता है कि हिंदुस्तान का फारसी भाषा का ज्ञान ईरान से भी बढ़ गया था और यहीं के लोगों ने फ़ारसी

की तमाम पाठ्य-पुस्तकों की उच्च कोटि की टीकाएं लिख डाली थीं और उसी का यह परिणाम है कि जबकि दुनिया के तमाम भाषाओं के कवि उस भाषा-विशेष के बोलने वालों तक ही सीमित रहते हैं और अगर कुछ दूसरे भाषाभाषी उस भाषा में कविता करने भी लगते हैं तो उस भाषावाले उन्हें नहीं मानते। फ़ारसी के कवि ईरान से ज़्यादा नहीं तो ईरान के बराबर ही हिंदुस्तान में पैदा हुए, विशेषतः पिछली सदी में जबकि शिक्षा-प्रसार और सामान्य प्रगति के लिए लखनऊ हर जगह प्रसिद्ध हो रहा था और यहां का बच्चा-बच्चा फ़ारसी बोलता था। जाहिल रंडियों और बाज़ारी मज़दूरों की भाषा पर फ़ारसी की ग़जलें चढ़ी हुई थीं और भांड तक फ़ारसी की नक़लें करते थे। अवध के क़स्बों के सभी शरीफ़ आदमियों की जीविका का साधन फ़ारसी पढ़ाना था और ऐसे देहाती विद्वान फ़ारसी अध्यापक लखनऊ की गलियों में मारे-मारे फिरते थे कि उनके फ़ारसी ज्ञान पर ख़ुद ईरान वाले भी चकित होते। उनका लबो-लहजा ईरानियों का-सा न हो, मगर फ़ारसी के मुहाविरों, शब्द-विन्यास और शब्दों के प्रयोग में वे ऐसे दक्ष थे कि मामूली ईरानी फ़ारसीविदों को भी कुछ न समझते थे।

लखनऊ में फ़ारसी के प्रति रुचि कितनी बढ़ी हुई थी इसका अंदाज़ा लखनऊ की उर्दू भाषा से हो सकता है। जाहिलों और औरतों तक की ज़बान पर फ़ारसी की संधियां, शब्द-विन्यास और कारक मौजूद हैं और लखनऊ की भाषा पर हमला करनेवालों को अगर कोई एतराज़ की बात इतने दिनों में मिल सकी है तो वह सिर्फ यह है कि उसमें फ़ारसी का दख़ल जरूरत से ज़्यादा बढ़ गया है। लेकिन इस दौर में हुई प्रगति के स्तर को देखते हुए यही चीज़ लखनऊ की भाषा की ख़ूबी और उसके समाज के उन्नत हो जाने का कारण थी। ख़ुद दिल्ली में उर्दू भाषा की उन्नति के जितने दौर क़ायम किये जायें उनमें भी अगले-पिछले दौर का फ़र्क़ सिर्फ यही हो सकता है कि पहले की अपेक्षा बाद वाले में फ़ारसी का असर अधिक है।

मुसलमानों की तरह हिंदू भी फारसी में ख्याति प्राप्त कर रहे थे। उनकी यह रुचि मुग़ल सल्तनत के आरंभिक काल से ही प्रकट होने लगी थी। उस समय भी जितने प्रसिद्ध और प्रामाणिक फ़ारसीविद हिंदू लखनऊ के आसपास मौजूद थे और कहीं नहीं थे। कायस्थों और कश्मीरी पंडितों ने फ़ारसी की शिक्षा को अपने लिए अनिवार्य बना लिया था और यहां तक तरक़्क़ी की थी

कि कश्मीरी पंडितों की तो मातृभाषा ही उर्दू हो गयी और उनके और मुसलमानों के फ़ारसी ज्ञान में बहुत कम फ़र्क़ रह गया था। कायस्थ चूंकि यहीं के निवासी थे इसलिए उनकी ज़बान 'भाषा' (खड़ी बोली) रही। मगर फ़ारसी की शिक्षा भी कायस्थों में इतनी जड़ें जमा चुकी थी कि वे फारसी मुहाविरों का इस्तेमाल हद से ज़्यादा करने लगे थे। यह बात और कहीं के हिंदुओं में न थी। उन दिनों लोग कायस्थों की भाषा का मज़ाक उड़ाया करते थे, मगर सच यह है कि बजाये मज़ाक उड़ाने के उनकी क़द्र करनी चाहिए थी, इसलिए कि उनकी भाषा उनकी शैक्षिक प्रगति की द्योतक थी जिस तरह आजकल अंग्रेजी के शब्दों के उचित-अनुचित प्रयोग को अंग्रेजी जाननेवाले अपनी उन्नति का प्रमाण मानते हैं और बहुत बदतमीजी से अंग्रेज़ी शब्द अपनी भाषा में भरते चले जाते हैं।

लखनऊ में उन दिनों फ़ारसी के सैकड़ों गद्यकार और कवि मौजूद थे और उर्दू की तरह फारसी मुशायरों का भी सिलसिला जारी रहा था। फारसी शरीफ़ों की ही नहीं आम जनता की भाषा बन गयी थी और अब इसके बावजूद कि फ़ारसी दरबारी ज़बान नहीं रही और राजगद्दी पर उर्दू भाषा का क़ब्ज़ा हो गया है मगर सभ्य समाज पर आज तक फ़ारसी का सिक्का जमा हुआ है और आम खयाल यही है कि फ़ारसी मदरसों से निकल गयी और जीविकोपार्जन के लिए उसकी ज़रूरत बाक़ी नहीं रही। मगर इंसान फ़ारसी पढ़े बिना सभ्य समाज में बैठने के योग्य नहीं हो सकता और न सही माने में पूरा इंसान बन सकता है।

इंग्लिस्तान में कभी फ्रांसीसी ही दरबारी ज़बान थी। अब अगर्चे मुद्दत हुई कि वह दरबार से निकाल दी गयी मगर सांस्कृतिक और नैतिक प्रगति आज भी फ्रांसीसी भाषा सीखे बिना नहीं प्राप्त की जा सकती। खाने-पीने, उठने-बैठने, पहनने-ओढ़ने और हंसने-बोलने ज़िंदगी के सभी तौर-तरीक़ों पर फ्रांसीसी का साम्राज्य अब तक वैसा ही बना हुआ है और लड़कियां फ्रेंच भाषा सीखे बिना शिष्ट महिलाएं नहीं बन सकतीं। यही हाल लखनऊ का है कि फ़ारसी दरबार से गयी, पत्र-व्यवहार से गयी मगर समाज के सभी क्षेत्रों पर अब तक उसका आधिपत्य है और बिना फ़ारसी की शिक्षा प्राप्त किये न हमारी रुचि परिष्कृत हो सकती है और न हमें बात करने का ढंग आ सकता है।

मटिया बुर्ज में अंतिम और अभागे अवध नरेश के साथ जो कुछ लोग वहां

जाकर बस गये थे उनमें कोई पढ़ा-लिखा ऐसा न था जो फ़ारसी न जानता हो। दफ्तर की भाषा फ़ारसी थी और हिंदू-मुसलमानों में सैकड़ों फ़ारसी के शाइर थे। औरतें तक फ़ारसी मे शेर कहती थीं और बच्चा-बच्चा फ़ारसी में अपना मतलब बयान कर लेता था।

आजकल लखनऊ में फारसी की शिक्षा बहुत कम हो गयी है और हिंदुओं ने तो इसे ऐसा छोड़ दिया कि वह कायस्थों की भाषा गायब हो गयी जिसका भाषा-संबंधी गोष्ठियों में उपहास किया जाता था और भांड तक उस फ़ारसी-निष्ठ भाषा की नक़लें करते थे। मगर फिर भी पुराने बुज़ुर्गों और ख़ास तौर से मुसलमानों में बहुत कुछ फ़ारसी-प्रेम मौजूद है, इसलिए कि उनकी उर्दूदानी ही एक हद तक उनके लिए फ़ारसीदानी का साधन बन जाती है। मुसलमानों में अब तक ख्वाजा अज़ीज़उद्दीन साहब जैसा फ़ारसी अनुसंधाता अतीत की साहित्य गोष्ठियों की याद दिलाने के लिए ज़िंदा है जो अपनी विद्वता के लिए सार भारत में प्रसिद्ध है। बूढ़े हिंदुओं में भी फारसी के अनेक स्कालर मिलेंगे जिसका एक नमूना संदेला के राजा दुर्गा प्रसाद हैं जिनका सबसे बड़ा कमाल यह है कि जमाना बदल गया, जमीन आसमान बदल गये, आबोहवा बदल गयी मगर वे आज तक वही हैं। फ़ारसीदानी की दाद देने और लेने को मौजूद हैं और पिछले इतिहास के एक कीड़ा लगे पन्ने की तरह चूमने-चाटने और आंखों से लगाने के योग्य है।

[ 14 ]

विद्याओं में ही खुशनवीसी (सुलेख) और लिखावट की कला है। मुसलमानों की पुरानी लिपि अरबी थी जिसे 'नस्ख' कहते हैं। बग़दाद की ख़िलाफ़त से लेकर मध्य युग तक सारी इस्लामी दुनिया में पूर्व से पश्चिम तक यही लिपि थी। हीरा[1] की पुरानी लिपि से कूफ़ी लिपि और कूफ़ी लिपि से नस्ख़ लिपि बन गयी थी। ताहिरिया वंश के जमाने से वे सभी विद्याएं और कलाएं जो बग़-दाद में विकसित हो रही थीं, ईरान और ख़ुरासान की तरफ आने लगीं और वेलमियों तथा सलजूक़ियों[2] के जमाने में बग़दाद की अधिकतर कलाएं ईरान

[1] दक्षिणी अरब का एक ज़िला।

[2] दो शाही खानदान जिन्होंने ईरान पर राज्य किया था।

में एकत्र हो गयीं विशेषकर वेलमियों के विद्या-प्रेम और आमोद-प्रमोद से ईरान का पश्चिमी प्रांत अज़रबैजान जो स्वाभाविक रूप से ईरानी इराक़ और अरब इराक़ के बीच में स्थित था, हर तरह की अच्छाइयों और तरक्कियों का केंद्र बन गया।

इसी इलाके में पहले-पहल लिपि ने भी नया रूप धारण करना शुरू किया। ख़ुशनवीसी सुलेख की परिधि से निकलकर नक्काशी के क्षेत्र में आ गयी और उसमें चित्रकला की-सी बारीकियां पैदा की जाने लगी। ईरानी नजाकतपसंदों को अरब की लिपि की पुरानी सादगी मे भद्दापन नजर आया और पुरानी लीक, ख़ुदबख़ुद छूटने लगी। नस्ख मे क़लम हर अक्षर और शब्द की बनावट में शुरू से आख़िर तक एक जैसा रहा करता था। अक्षरो मे असमान घुमाव और अनुचित असमानता होती थी। दायरे गोल न थे बल्कि नीचे और चपटे होते और इधर-उधर उनमें कोने पैदा हो जाते। अब नक़्क़ाशी को ख़ुशनवीसी में मिलाकर लिखावट में नोक-पलक पैदा की जाने लगी। दायरे ख़ूबसूरत और गोल लिखे जाने लगे। उस आधुनिक स्तर को सामने रखकर सबसे पहले मीर अली तब्रेज़ी ने जो ख़ास वेलम का रहने वाला था इस नयी लिखावट को नियमित रूप प्रदान करके पूर्व के शहरों मे प्रचलित किया और उसका नाम नस्तालीक क़रार दिया जो असल में नस्ख-तालीक़ यानी 'नस्ख' का परिशिष्ट था।

यह नहीं मालूम कि मीर अली तब्रेज़ी किस जमाने में थे। मुंशी शम्स-उद्दीन साहब जो आज लखनऊ के मशहूर और माने हुए ख़ुशनवीस हैं उनका जमाना तैमूर से पहले बताते हैं लेकिन 'नस्तालीक़' की किताबे इतनी पुरानी मिलती हैं कि तैमूर दरकिनार हम समझते हैं कि इस लिपि का आविष्कार महमूद ग़जनवी से भी पहले हो चुका था। इसमे शक नहीं कि महमूद के हमलों के साथ ही साथ हिंदुस्तान में फारसी ख़ुशनवीसों की भी आमद शुरू हो गयी होगी जिनके असर से यहां इस लिपि का रिवाज़ शुरू हुआ और हिंदु-स्तान के हर प्रांत और हर जिले में नस्तालीक़ के ख़ुशनवीस बहुत बड़ी तादाद में पैदा हो गये। लिहाज़ा या तो मीर अली तब्रेज़ी का युग बहुत प्राचीन है और या वह इस लिपि के असली आविष्कारक नहीं हैं। लेकिन इसमें शक नहीं कि दिल्ली और लखनऊ बल्कि सारे हिंदुस्तान की वर्तमान ख़ुशनवीसी अपना आदि गुरु मीर अली तब्रेज़ी को बताती है। उनके बहुत मुद्दत के बाद ईरान

में नस्तालीक़ के गुरु मीर इमादुल हसनी मशहूर हुए जो एक नामवर खुश-नवीस और इस कला के गुरु माने जाते हैं। उनके भानजे आग़ा अब्दुर्रशीद देली नादिरशाह के आक्रमण के समय हिंदुस्तान आये और लाहौर मे आकर ठहर गये। लाहौर में उनके सैकड़ों शागिर्द पैदा हुए जिन्होंने सारे हिंदुस्तान में फैलकर उन्हें यहां की खुशनवीसी का आदम नहीं तो नूह जरूर साबित कर दिया।

उन्हीं के दो शिष्य, जो विलायती थे, लखनऊ आये। इन दोनों बुज़ुर्गों में से एक हाफ़िज नूरुल्ला और दूसरे क़ाजी नेमतुल्ला थे। कहा जाता है कि अब्दुल्ला बेग नामक आग़ा अब्दुर्रशीद के एक तीसरे शागिर्द भी लखनऊ में आये थे। इन लोगों के आने का ज़माना शायद नवाब आसफ़उद्दौला बहादुर का जमाना था जब यहां कोई कलाकार या शिल्पी आकर वापस न जाने पाता था। क़ाजी नेमतुल्ला आते ही इस काम पर तैनात हो गये कि शाहजादों का लेख सुधारा करें और हाफ़िज नूरुलला का भी अवध के दरबार से संबंध हो गया और उन दोनों ने यहां ठहर कर लोगों को खुशनवीसी सिखाना शुरू की।

इन बुज़ुर्गों के अलावा यहां और पुराने खुशनवीस भी थे जिनमें से एक नामवर बुज़ुर्ग मुशी मुहम्मद अली बताये जाते हैं। मगर आग़ा अब्दुर्रशीद के शागिर्दों ने अपना ऐसा सिक्का जमा लिया कि खुशनवीसी के सारे शौक़ीन बल्कि सारा शहर उनकी ओर आकृष्ट हो गया। जिसे भी खुशनवीसी का शौक़ हुआ, उन्हीं का शागिर्द हो गया और पुरानी तमाम लिखावटों के नाम मिट गये, गुमनामी के अथाह सागर में डूब गये और सच यह है कि ये बुज़ुर्ग अपने कमाल की वजह से इसके हक़दार भी थे।

हाफ़िज़ नूरुल्ला की लखनऊ में जो क़द्र हुई उसका अंदाजा इसी से नहीं हो सकता कि वे यहां सरकार में नौकर हो गये थे, बल्कि लखनऊ की क़द्र-दानी का सही अंदाजा इससे होता है कि लोग उनके हाथ के लिखे हुए क़ित्अों (पुर्जों) को मोतियों के दामों मोल लेते, यहां तक कि उनकी मामूली लिखा-वट भी बाजार में सिर्फ एक रुपया अक्षर के हिसाब से हाथों-हाथ बिक जाती थी।

उन दिनों अमीर और शौक़ीन लोग अपने मकानों को बजाये तस्वीरों के क़ित्अों से सजाया करते थे जिसकी वजह से उन पत्रों की बहुत अधिक मांग

थी। जहां किसी अच्छे ख़ुशनवीस के हाथ का क़ित्आ मिल जाता उस पर लोग परवानों की तरह गिरते और उसे आंखों से लगाते। इससे समाज को तो यह लाभ पहुंचता कि अनेक नैतिक सिद्धांत और उपदेशात्मक वाक्य या शेर हमेशा सामने रहते और हर समय घर में नीति-पाठ मिलता रहता और ख़ुशनवीसी को यह फ़ायदा पहुंचता कि ख़ुशनवीसों ने अपने कमाल को क़ित्आ लिखने तक ही सीमित कर दिया था जो आबदार और उम्दा वसलियों को लिखकर तैयार करते और उसी में वे घर बैठे धनवान हो जाते। मगर अफ़-सोस अब हिंदुस्तान से क़ित्ओं और कत्बों (शिलालेख) का रिवाज उठता जाता है और उनकी जगह तस्वीरों ने ले ली है जिसकी वजह से साज-सज्जा की पिछली सभ्य और सुसंस्कृत रुचि के मिटने के साथ ही ख़ुशनवीसी की कला भी यहां से उठ गयी। अब कातिब तो हैं ख़ुशनवीस नहीं हैं और जो दो-एक ख़ुशनवीस मशहूर हैं भी वे मजबूर हैं कि कापीनवीसी और किताबत[1] से अपना पेट पालें जो चीज़ कि असल में ख़ुशनवीसी की दुश्मन है। इसके विप-रीत उन दिनों एक गिरोह क़ायम हो गया था जिसका काम सिर्फ यह था कि ख़ुशनवीसी के नियमों का पालम करे और उसका समय-समय पर समुचित विकास करता रहे। यही वजह थी कि पिछले ख़ुशनवीस किताबत को अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते थे और समझते थे कि जो शख़्स पूरी-पूरी किताबें लिखेगा उसके लिए यह नामुमकिन है कि वह शुरू से आख़िर तक ख़ुशनवीसी के नियमों का पूरी तरह पालन कर सके। और सच यह है कि जितनी मेहनत वे लोग एक-एक वसली की दुरुस्ती में करते थे, कातिब पूरी किताब के लिखने में उसका लेशमात्र भी नहीं कर सकते।

उनकी मेहनत का अंदाज़ा इससे हो सकता है कि हाफ़िज़ नूरुल्ला से एक बार नवाब सआदत अली खां ने फ़रमाइश की कि "मुझे 'गुलिस्तां'[2] का एक नुस्ख़ा (प्रति) लिख दीजिए।" नवाब सआदत अली खां सादी की 'गुलिस्तां' के बहुत शौक़ीन थे और कहते हैं कि 'गुलिस्तां' हर समय उनके सरहाने मौजूद रहा करती थी। और कोई ऐसी फ़रमाइश करता तो हाफिज नूरुल्ला अपनी तौहीन समझकर उसका मुंह ही नोच लेते। मगर शासक का कहना था इस-लिए मंज़ूर कर लिया और अर्ज़ किया, "तो मुझे अस्सी गड्डी क़ाग़ज़ (उन

[1] लीथो प्रेस के लिए लिखाई का काम।

[2] फ़ारसी कवि शेख़ सादी का कथा-संग्रह।

दिनों रिम को गड्डी कहते थे), एक सौ क़लमतराश चाक़ू और खुदा जाने कितने हजार क़लमों के नरकट मंगवा दीजिये।" सम्रादत अली खां ने आश्चर्य से पूछा, "फ़क़त अकेली एक गुलिस्तां के लिए इतना सामान दरकार होगा ?" कहा, "जी हां, मैं इतना ही सामान खर्च किया करता हूं।" नवाब के लिए उस सामान का जुटाना कुछ मुश्किल तो था नहीं, मंगवा दिया। अब हाफिज साहब ने गुलिस्तां लिखना शुरू की, मगर पूरी नहीं होने पायी थी, सात अध्याय ही लिख पाये थे और आठवां अध्याय बाक़ी था कि उनका देहांत हो गया। उनके बाद जब उनके बेटे हाफिज इब्राहीम दरबार में पेश हुए और उन्हें सम्वेदना-स्वरूप काला खिलअत दिया गया तो सम्रादत अली खां ने कहा, "भई, मैंने हाफिज साहब से गुलिस्तां लिखवायी थी। खुदा जाने उसका क्या हाल हुआ ?" हाफ़िज़ इब्राहीम ने अर्ज़ किया, "उनके लिखे हुए सात अध्याय तैयार हैं, आठवां बाक़ी है उसे यह अकिंचन लिख देगा और उसे उतना ही शानदार बना देगा कि हुज़ूर फ़र्क़ न कर पायेंगे। लेकिन हां, अगर किसी मिस्री खुशनवीस ने देखा तो वह बेशक पहचान लेगा।" नवाब ने इजाज़त दी और उस गुलिस्तां को हाफिज इब्राहीम ने पूरा किया।

हाफिज नूरुल्ला के शागिर्दों में अधिक प्रतिष्ठित सबसे पहले तो उनके बेटे हाफ़िज़ मुहम्मद इब्राहीम थे। दूसरे मुंशी सरब सिंह नामक एक हिंदू बुज़ुर्ग थे जिनको कोई कायस्थ बताता है और कोई कश्मीरी पंडित। और तीसरे मुहम्मद अब्बास नामक लखनऊ के एक खुशनवीस थे। हाफ़िज़ इब्राहीम ने भी बहुत नाम पैदा किया और सैकड़ों आदमियों को खुशनवीस बना दिया और इस कला में एक नवीनता पैदा करके अपने पिता से भिन्न गरिमा प्रदान की। हाफ़िज़ नूरुल्ला के दायरे बिल्कुल गोल होते थे, हाफ़िज़ इब्राहीम ने उन्हें कुछ मामूली-सा अंडाकार बना दिया। मुंशी सरब सिंह के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अपने उस्ताद की शान ऐसी उड़ा ली थी कि सैंकड़ों वसलियां हाफ़िज़ नूरुल्ला के नाम से फैला दीं और बड़े-बड़े खुशनवीस बिल्कुल तमीज़ नहीं कर सकते थे और यह उन दिनों खुशनवीसी का बहुत बड़ा कमाल था।

हाफ़िज़ इब्राहीम के खास शागिर्दों में पहले तो उनके साहबज़ादे हाफ़िज़ सईदउद्दीन थे। उनके अलावा मुंशी नज़ीर हमीद, मुंशी अब्दुल मजीद जो सरकार के शाही हुक्म और अन्य पत्र-व्यवहार (अंग्रेज़ी साम्राज्य और अवध के राज्य के बीच) लिखने पर तैनात थे। मगर हाफ़िज़ इब्राहीम के दो शिष्यों

ने बहुत ख्याति प्राप्त की । जो अपने समय के लखनऊ के उस्ताद माने गये थे : एक तो मुंशी मंसा राम कश्मीरी पंडित जो इस कला के बहुत बड़े पंडित थे और दूसरे मुंशी मुहम्मदहादी अली जो नस्तालीक़ के अलावा नस्ख और तुग़रानवीसी[1] में भी लखनऊ म अपना सानी नहीं रखते थे ।

उधर क़ाज़ी नेमतउल्ला के शागिर्द एक तो उनके बेटे मौलवी मुहम्मद अशरफ़ थे और दूसरे मौलवी क़ुल एहमद ।

ग़रज़ नस्तालीक़ के यही लोग उस्ताद थे जिनसे लखनऊ में खुशनवीसी कमाल को पहुंची । फिर प्रेस चालू होने के बाद किताबत और कापीनवीसी ने प्रगति की और दरअसल यह इसी खानदान की बरकत है कि लखनऊ में हजारों मुसलमान, हजारों कायस्थ जिनसे नौबस्ता और अशरफ़ाबाद के मुहल्ले भरे हुए हैं और सैकड़ों कश्मीरी पंडित खुशनवीस हो गये । मगर अफ़सोस कश्मीरी पंडितों ने अंग्रेज़ी शिक्षा के शौक़ में और खुशनवीसी का महत्व घटते देखकर इस कला को बिल्कुल छोड़ दिया और अब जितने अच्छे लिखने वाले है सब मुसलमान हैं या कायस्थ ।

आखिर ज़माने में संदेला के एक मुंशी अब्दुल हई भी बड़े कमाल के खुशनवीस थे जिनके शागिर्द मुंशी अमीर उल्ला 'तस्लीम' उनके बड़े भाई मुंशी मुहम्मद अब्दुल लतीफ़ और मुंशी अशरफ़ अली वग़ैरा थे । फ़िलहाल नस्तालीक़ में मुंशी शम्सउद्दीन साहब और नस्ख में मुंशी हामिद अली साहब मशहूर हैं और ये दोनों मुंशी हादी अली साहब के शागिर्द हैं ।

हिंदुस्तान में नस्ख लिखावट के संबंध में जिन लोगों के नाम लिये जाते हैं उनमें सबसे पहले शख्श याक़ूत मुस्तासी के उपमान से मशहूर हैं जो याक़ूत अव्वल कहलाते हैं । हमें इस नाम का कोई बाकमाल कातिब मुअतसिम बिल्ला के ज़माने में नज़र नहीं आता । क्या अजब कि इस नाम से अभिप्राय इमाद कातिब हो जिसकी किताब 'खरीदा' मशहूर है और जो पहले शाम (सीरिया) में सुल्तान अताबक नूरुद्दीन जंगी का और उसके बाद मिस्र में सुल्तान सलाहउद्दीन अय्यूबी, बेतुलमुक़द्दस-विजेता, का कातिब था, इसलिए कि नस्ख का सबसे बड़ा आखिरी खुशनवीस वही माना जाता है । उसके बाद सुलतान औरंगज़ेब आलमगीर के शासन काल में मुहम्मद

[1] एक प्रकार की लिखावट जिसमें कोई आकृति बना देते हैं, बादशाहों के फ़रमानों पर शाही संबोधन-अभिवादन लिखने की लिखावट ।

ग्रारिफ़ नामक नस्ख़ लिखावट के एक बड़े माहिर पैदा हुए जिनको 'याक़ूत-रक़म-ए-सानी' का ख़िताब दिया गया। ग्रामतौर से कहा जाता है कि उन्होंने नस्ख़ की नयी शान ईजाद की ग्रौर पहले के मुक़ाबिले उसे ज़्यादा सुंदर बना दिया। यहां तक कि नस्ख़ के लखनऊ के उस्ताद दावा करते हैं कि उनके कमाल को सारी इस्लामी दुनिया ने माना है। मैं इसे मानने के लिए तैयार नहीं हूं। याक़ूत-रक़म-ए-सानी को हिंदुस्तान में चाहे जैसी महत्ता मिल गयी हो मगर उन देशों में जहां की राष्ट्रीय लिखावट नस्ख़ ग्रौर राष्ट्रभाषा ग्ररबी है, लोग याक़ूत रक़म का नाम भी नहीं जानते ग्रौर न ही उनके ग्रनुयायी है।

मुहम्मद ग्रारिफ़ याक़ूत रक़म के जमाने मे ग्रब्दुल बाक़ी नाम के एक शख़्श थे जिनका पेशा लुहारी था। उन्हें याक़ूत रक़म की लोकप्रियता देखकर शौक़ हुग्रा कि ख़ुद भी इस कला में नाम पैदा करें। संयोगवश ग्रब्दुल्ला तब्बाह नामक नस्ख़ के एक ग्रौर ख़ुशनवीस उन दिनों मशहूर थे, हद्दाद जाकर उनके शिष्य बन गये ग्रौर ऐसी मेहनत की कि पूरे उस्ताद मशहूर हो गये। जब उन दोनों का ज़माना गुज़र गया तो याक़ूत रक़म की जगह उनके भतीजे क़ाज़ी ग्रस्मतउल्ला ने ली ग्रौर हद्दाद की यादगार उनके दो बेटे ग्रली ग्रकबर ग्रौर ग्रली ग्रसग़र माने गये।

उसके बाद हिंदुस्तान मे बड़े-बड़े ख़ुशनवीस पैदा हुए ग्रौर नस्ख़ की किताबत हिंदुस्तान में बराबर तरक्क़ी करती रही। ग्राख़िर में शाह ग़ुलाम ग्रली साहब की ख्याति फैली जो नस्ख़ के बाकमाल ख़ुशनवीस थे। उसके बाद लखनऊ में एक तरफ़ मौलवी हादी ग्रली साहब की शोहरत हुई जिनका ख़ानदान दिल्ली से ग्राया था ग्रौर कालपी के एक ख़ुशनवीस मीर ग्रकबर ग्रली के यह शागिर्द थे। मौलवी हादी ग्रली साहब को तुग़रानिगारी में बड़ा कमाल हासिल था।

मुंशी हादी ग्रली के समकालीन नस्ख़ के एक मशहूर ख़ुशनवीस मीर बंदा ग्रली 'मुर्तइश' थे। उनके उस्ताद नवाब एहमद ग्रली नामक एक पुराने वक़्त के रईस ग्रौर नस्ख़ के बाकमाल उस्ताद थे। मीर बंदा ग्रली के हाथ में राशा था, मगर क़लम जैसे ही काग़ज पर लगता मालूम होता कि लोहे का हाथ है, क्या मजाल कि क़ाबू से बाहर हो। उनकी नजर लिखावट के पहचानने में ऐसा कमाल रखती थी कि बड़े-बड़े लोग लोहा मान गये।

मुंशी हामिद ग्रली साहब फ़रमाते हैं कि एक मौक़े पर मुंशी हादी ग्रली, मुंशी मुहम्मद याहिया (यह भी नस्ख़ के बड़े उस्ताद थे जिन्होंने छपने के लिए

लखनऊ में पहला क़ुरान शरीफ लिखा), मुंशी अब्दुल हई संदेलवी और मीर बंदा अली 'मुर्तइश' एक गोष्ठी में एकत्र थे। यह नस्ख के सभी उस्तादों की गोष्ठी थी। किसी ने नस्ख में लिखा हुआ एक क़ित्आ बिक्री के लिए लाकर पेश किया। गो उसमें कातिब का नाम नहीं लिखा था मगर उन उस्तादों ने एकमत होकर पहचान लिया कि ख़ास याक़ूत के हाथ का है और सबको शौक़ हुआ कि उसे अपने क़ब्ज़े में करें। मगर मुंशी हादी अली साहब ने कहा, "यह एक दिन मेरे पास रहे तो मुझे ग़ौर करने के बाद इत्मीनान होगा कि दरअसल यह याक़ूत के हाथ का है या नहीं।" मालिक ने दे दिया और वह उसे घर लाये। दूसरे दिन लेजाकर पेश किया और कहा, "वास्तव में यह याक़ूत ही के हाथ का है। इसी के साथ का याक़ूत का एक क़िताआ मेरे पास भी पड़ा हुआ था, मैंने इसे लेजाकर उससे मिलाया तो बिल्कुल वैसा ही पाया और मुझे यक़ीन आ गया कि वाक़ई याक़ूत का है।" और दोनों क़िताए सबके सामने रख दिये। सबने निस्संकोच यह मान लिया कि दोनों याक़ूत के ही हाथ के लिखे हुए हैं। मगर मीर बंदा अली ने मुंशी हादी अली वाले क़िताए को ग़ौर से देखा फिर मुस्कराये और उसके नीचे लिख दिया, "ईं कारअज़ तू आयद—ओ—मर्दां चुनीं कुनंद[1]।" यह लिखा देखकर मुंशी अब्दुल हई साहब बिगड़े और कहा, "क्या आपको इसमें कुछ शक है?" मीर बंदा अली ने कहा, "यह कित्आ तो याकूत के हाथ का नहीं हो सकता।" मुंशी अब्दुल हई और दूसरों ने दावा किया कि यह खास याक़ूत के हाथ का है। मीर बंदा अली ने उसमें 'वाव' का सिरा दिखाया और कहा, "यह याक़ूत का नहीं हो सकता।" अब तो सब लोग असमंजस में पड़ गये कि इतने में ही मुंशी हादी अली ने उस वसली का एक कोना फाड़कर काग़ज़ की तह के अंदर से निकाल कर अपना नाम दिखा दिया और सबको यक़ीन हो गया कि यह कारस्तानी मुंशी हादी अली साहब की थी। सभी ने उनकी बेहद तारीफ़ की और उन्होंने कहा, "मगर मैं तो मीर बंदा अली साहब की नजर का क़ायल हो गया।"

ख़ुशनवीसों की आम रुचि के अनुसार मीर बंदा अली साहब से भी क़िताआ-नवीसी के सिवाय किताबत नामुमकिन थी। जिंदगी भर कभी कोई छोटी किताब भी न लिखी गयी। हाजी हरमैन शरीफ़ैन ने जब प्रेस लगाया तो मीर बंदा अली की बड़ी मिन्नत-समाजत करके उन्हें इसके लिए राजी किया कि

[1] यह काम तूने किया और मर्द ऐसा ही किया करते हैं।

एक पंजसूरा[2] लिख दें। मीर बंदा अली ने बड़ी मेहनत से और खुदा जाने कितने दिनों में लिखा और ले गये। मगर हाजी साहब के सामने जब उस पर आख़िरी नज़र डाली तो कुछ ऐसा नापसंद हुआ कि बजाये हाजी साहब के हवाले करने के फाड़ डाला और कहा, "भई, मुझसे नहीं हो सकता।"

इन बुज़ुर्गों की चर्चा से मेरा यह उद्देश्य नहीं है कि खुशनवीसी में लखनऊ की कोई ऐसी प्रतिष्ठा स्थापित हो गयी थी जिसका हिंदुस्तान में सानी ही नहीं था। बल्कि इसके विपरीत मेरा विचार है कि नस्ख़ के जैसे-जैसे बाकमाल मुग़ल सल्तनत से पहले हिंदुस्तान में गुज़र चुके हैं उनका लेशमात्र भी इन लोगों में नहीं था, बल्कि नस्ख़ का कमाल उन दिनों मिट चुका था। अलबत्ता नस्तालीक़ के बारे में इतना कहा जा सकता है कि हाफ़िज़ नूरुल्ला और हाफिज इब्राहीम के हाथ के क़ितए हिंदुस्तान में जितने लोकप्रिय हुए अन्य किसी खुशनवीस के शायद न हो सके होंगे। लेकिन इस पर भी इस कला में लखनऊ का स्थान लगभग वही था जो दूसरे सुसंस्कृत नगरों का हो सकता है।

मगर लखनऊ की खुशनवीसी ने प्रेस की तरक्की में जो काम किया शायद कहीं की खुशनवीसी न कर सकी होगी। मुझे यह जानकारी नहीं है कि हिंदुस्तान में सबसे पहले छपाई का काम कहां शुरू हुआ। कलकत्ता में उर्दू लिटरेचर की तरक्की और सामान्य पूर्वी विद्याओं को प्रोत्साहन देने के लिए बहुत कुछ किया गया, मगर वहां टाइप के सिवा पत्थर के छापे की पुरानी किताबें मैंने नहीं देखी।

लखनऊ में ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के शासनकाल में (1814—1827 ई०) अर्सल नामक एक योरुपियन ने आकर लोगों को प्रेस का खयाल दिलाया और जब पढ़े-लिखे लोग उस ओर आकृष्ट हुए तो उसने पहला प्रेस लखनऊ में खोला। उसने प्रेस और तमाम सामान यहीं तैयार करा के छापना शुरू किया और 'ज़ाद-उल-मआद', 'हफ़्त कुलज़ुम' और 'ताज-उल-लुग़ात' (जो कई खंडों में थी) छापकर पब्लिक के सामने पेश की। उससे सीख कर और लोगों ने भी प्रेस खोलने शुरू किये जिनमें सबसे पहला प्रेस शायद हाजी हरमैन शरीफ़ैन का था। उन्ही दिनों शीशे के सामान के एक धनवान व्यापारी मुस्तफ़ा ख़ां कुछ छापने के लिए हाजी हरमैन के पास ले गये और हाजी साहब की ज़बान से कोई ऐसी सख़्त बात निकल गयी कि मुस्तफ़ा ख़ां ने घर आकर खुद अपना

[2] कुरान की पांच बहुत छोटी सूरतें जो फ़ातिहा में पढ़ी जाती है।

मुस्तफ़ाई प्रेस जारी कर दिया जिसने असाधारण प्रगति की। थोड़े दिनों बाद अली बख़्श खां ने अलवी प्रेस जारी किया और लखनऊ में बहुत ज़्यादा छापे-खाने खुलने लगे।

शुरू में छपाई का काम यहां व्यापारिक सिद्धांतों पर नहीं बल्कि शौक़ की वजह से जारी हुआ। बढ़िया से बढ़िया कागज़ लगाया जाता जो पत्थर के छापे के लिए बहुत ही मुनासिब था। बड़े-बड़े ख़ुशनवीसों को मजबूर करके और बड़ी-बड़ी तनख़्वाहें देकर उनसे किताबत का काम लिया जाता था। न तो उसके साथ काम की कोई शर्त होती, न यह देखा जाता कि वे दिन भर में कितना लिखते हैं, या लिखते भी हैं या नहीं। उल्टे उनकी बड़ी ख़ातिर की जाती। इसी तरह प्रेसमैनों से भी न पूछा जाता कि दिन भर में कितने कागज़ छापे। स्याही के लिए कड़वे तेल के हज़ारों चिराग़ जलाकर बढ़िया काजल तैयार किया जाता, खटाई की जगह कागज़ी नीबू खर्च होते और कपड़े की जगह असली स्पज काम में लाया जाता। ग़रज़ हर चीज़ उच्च कोटि की काम में लायी जाती। इसका नतीजा यह हुआ कि नवाबी शासन के समय फ़ारसी और अरबी की पाठ्य-पुस्तकें और धर्म ग्रंथ जैसे लखनऊ में छपकर तैयार हुए और शायद कहीं न छप सके होंगे। उस समय की छपी हुई किताबें जिस किसी के पास मौजूद हैं वे एक तरह की संपत्ति हैं और लोग ढूंढते हैं और नहीं पाते।

मेरे वालिद के सगे चाचा मौलवी एहमद साहब को यात्रा और व्यापार का बड़ा शौक़ था और उस ज़माने में जबकि लोग घर से बाहर क़दम निका-लते डरते थे उन्होंने हाजी हरमैन शरीफ़ैन के एजेंट की हैसियत से रथों और बैलगाड़ियों पर सवार होकर और हज़ारों किताबें साथ लेकर लखनऊ से रावलपिंडी तक सफ़र किया था। उनका कहना था कि किताबें उन दिनों दुर्लभ थीं। यहां की छपी हुई किताबों को देखकर लोगों की आंखें खुल जाती थीं और वे उन पर परवानों की तरह गिरते थे। लोगों के शौक़ का यह आलम था कि हम जिस शहर या गांव में पहुंचते हम से पहले हमारी ख़बर जाती और हमारा दाख़िला अजब शान-शौकत से होता। इधर हम किसी बस्ती में पहुंचे, उधर जनसमूह ने घेर लिया। भीड़ लग जाती थी और हम जिस किताब को जिस क़ीमत पर देते लोग निस्संकोच ले लेते और आंखों से

लगाते थे। हम 'करीमा', 'मामक़ीमां'[1] वगैरा को छह या ग्राठ ग्राने फ़ी कापी के हिसाब से ग्रौर 'गुलिस्तां', 'बोस्तां' को फी जिल्द तीन रुपये या चार रुपये के हिसाब से बेचते थे। ग्रौर उस पर यह हाल था कि मांग को पूरा न कर सकते। एक शहर से दूसरे शहर तक पहुंचते-पहुंचते किताबों का भंडार खत्म हो जाता ग्रौर नये माल के इंतिजार में महीनों ठहरना पड़ता क्योंकि उन दिनों माल का पहुंचना कठिन था। मगर हमने ऐसा इंतिजाम कर लिया था कि माल लखनऊ से बराबर ग्राता रहता।

शाही के ग्राखिरी दौर में मुस्तफ़ाई प्रेस ग्रपनी छपाई के लिहाज़ से दुनिया में जवाब न रखता था। सल्तनत खत्म होने के बाद मुंशी नवलकिशोर ने ग्रपना प्रेस जारी किया। गो वह छपाई की ख़ूबी में मुक़ाबिला न कर सका, मगर व्यापारिक सिद्धांत पर चलकर उसने फ़ारसी ग्रौर ग्ररबी की ऐसी बडी-बड़ी ग्रौर मोटी किताबें छाप दीं कि ग्राज किसी प्रेस को उनके छापने का साहस नहीं हो सकता। सच यह है कि लखनऊ में उस ज़माने की शौक़ीनी ने ऐसा सामान जमा कर रखा था कि उससे फ़ायदा उठाने के लिए मुंशी नवल-किशोर जैसे साहसी मुद्रक की ग्रावश्यकता थी। ग्राखिर नवलकिशोर प्रेस ने यहां तक प्रगति की कि पूर्व के साहित्य को उसने जिंदा कर दिया ग्रौर विश्व-सनीयता तथा सुंदर छपाई के लिए जो ख्याति लखनऊ की हुई ग्रौर किसी शहर को नहीं मिल सकती। ग्रौर इसी की बरकत थी कि मध्य एशिया में काशग़र ग्रौर बुखारा तक ग्रौर ग्रफ़ग़ानिस्तान ग्रौर ईरान की सारी मांग लखनऊ ही पूरी कर रहा था चुनांचे ग्राज तक नवलकिशोर प्रेस ज्ञान-विज्ञान के व्यापार की कुंजी है जिससे काम लिये बिना कोई व्यक्ति ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में क़दम नहीं रख सकता।

मगर ग्रफ़सोस ग्रब लखनऊ में प्रेसों की इतनी बडी संख्या के बावजूद छपाई की स्थिति इतनी ख़राब हो रही है ग्रौर रोज-बरोज़ ऐसी बदतर होती जाती है कि दूसरे शहर उससे बाज़ी ले गये हैं ग्रौर हमारी नज़र में प्रेसमैनों की नैतिक ग्रवस्था बिगड़ जाने की वजह से ग्रब लखतऊ में दूसरे शहरों की ग्रपेक्षा ख़राब छपाई होती है। बस हमारे संतोष के लिए इतना काफी है कि कानपुर में मुंशी रहमतउल्ला साहब की वजह से छापे की हालत ग्रच्छी है ग्रौर कानपुर दरग्रसल लखनऊ की प्रगति का ही एक छोटा रूप है।

[1]फ़ारसी भाषा की दो प्रायमरों के नाम।

प्रेस के साथ ही लखनऊ में पत्थर की छपाई की दुरुस्ती की कला की भी शुरूआत हुई। पत्थर पर जो कापी जमायी जाये उसे किसी हद तक छीलकर और क़लम लगाकर दुरुस्त करना संभवतः योरुप ही से शुरू हुआ होगा और वहां अब भी क्या अजब कि संशोधन की यह प्रक्रिया जारी हो। मगर नस्ख़ और नस्तालीक़ के अक्षरों को इस ढंग से सुधारना कि ख़ुशनवीस की अपनी शैली बाक़ी रहे और किसी को महसूस न हो सके कि उसमें किसी दूसरे का भी कलम लगा है, खास लखनऊ की ही विशेषता है जहां शुरू-शुरू मे यह कला सिर्फ इस हद तक सीमित थी कि अक्षर और अन्य बेल-बूटे चाहे कितने ही उड़ गये या कुचलकर फैल गये हों, उन्हें ठीक कर दिया जाये। मगर कुछ दिन बाद यहां की नवीनता की प्रवृत्ति इस सीमा को भी लांघ गयी और ऐसे दक्ष संग-साज़ (पत्थर-संशोधक) पैदा होने लगे जो पत्थर पर पूरी-पूरी किताबें उल्टी लिख देते हैं और लिखावट अपनी जगह ऐसी जमी रहती है कि मजाल क्या जो कोई पहचान सके कि यह पत्थर पर उल्टा लिखा गया है। शुरू में इसके आविष्कारक एक पुराने बुज़ुर्ग थे जो मुस्तफ़ाई प्रेस की ख्याति के कारण प्रसिद्ध हुए। उनके ज़माने ही में उनके शिष्यों की अधिकता ने यहां के प्रेसों को लाभ पहुंचाया। बहुत से लोगों ने प्रगति की और यहां से संगसाज़ दूसरी जगह भेजे जाने लगे। जब यह काम आम हो गया तो मुंशी जाफ़र हुसैन नामक एक मशहूर संगसाज को उनकी दक्षता ने इस बात के लिए तैयार किया कि छापाखाने को कापीनवीसी के झंझटों से मुक्त कर दें। उन्होंने पत्थर पर उल्टा लिखना शुरू किया। यह काम प्रारंभ में छोटे-छोटे बाज़ारी प्रेसों से शुरू हुआ और बाद में चलकर सभी छोटे-बड़े प्रेसों में इसे अपना लिया गया। अब मुंशी सैयद अली हुसैन साहब ने इस हद तक तरक़्क़ी की कि उनकी उल्टी लिखावट का बहुत से मशहूर ख़ुशनवीस भी मुक़ाबिला न कर सके। चुनांचे उनकी उल्टी किताबत का एक मामूली नमूना हमारा 'दिलगुदाज़' भी है जिसकी कापियां नहीं लिखी जातीं बल्कि मुंशी अली हुसैन साहब लेखों को पत्थर पर उल्टा लिख दिया करते हैं। 'दिलगुदाज़' के पाठक इसे पढ़कर और इसकी लिखावट पर ग़ौर करके अंदाज़ा कर सकते हैं कि संगसाज़ी की कला का लखनऊ में कितना विकास हो चुका है। गो कि हिंदुस्तान के अधिकतर शहरों में संगसाज लखनऊ के ही हैं, लेकिन इस वक़्त तक किसी और शहर के प्रेस को यह बात नसीब नहीं हुई कि कापियां जमाने के बदले इबारत पत्थरों पर उल्टी लिखवाकर

छापें। यह कला अभी तक लखनऊ तक ही सीमित है। मगर अफ़सोस प्रेसमैनों की हालत खराब हो जाने के कारण लखनऊ संगसाज़ों की इस कला से इतना फ़ायदा नहीं उठा सकता जितना कि होना चाहिये।

## [ 15 ]

अभी हमें लखनऊ की बहुत सी विशेषताएं बतानी हैं जिनका अधिकांश संबंध नैतिक बातों और सांस्कृतिक क्रियाकलाप से है। मगर यह भी उचित जान पड़ता है कि संक्षेप में कुछ इतिहास युद्ध-कौशल का भी दे दिया जाये।

सच यह है कि पूर्व का अंतिम दरबार उस समय क़ायम हुआ जब मुसलमानों और आम हिंदुस्तानियों की सैनिक-शक्ति कमजोर पड़ चुकी थी, बल्कि इससे भी ज्यादा सही यह कहना होगा कि पुराने युद्ध-कौशल इतने नहीं मिटे थे जितने कि युद्ध के पुराने हथियार नये युद्ध-कौशल और नये हथियारों के सामने बेकार हो गये थे। जिसका नतीजा यह हुआ कि पुराने युद्ध-कौशल बजाये इससे कि मुसलमानों या हिंदुस्तानियों से निकलकर किसी नयी प्रगतिशील और शूरवीर जाति में प्रगति करते, दुनिया ही से मिट गये और ऐसे मिटे कि मौजूदा नस्ल अपने पुरखों की बहादुरी के कारनामों और उनके युद्ध-कौशल से बिल्कुल अपरिचित है। आज इन कलाओं की चर्चा के लिए हमने क़लम उठाया है तो कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं मिलता जिससे कुछ हालात मालूम हों। हम शाहज़ादा मिर्ज़ा मसूद क़द्र बहादुर बी० ए० और लखनऊ के एक बहुत पुराने बुज़ुर्ग सुलेमान ख़ां साहब (जो हाफ़िज़ रहमत ख़ां, बरेली-नरेश की नस्ल से हैं) के आभारी हैं कि इन पुरानी युद्ध-कलाओं के बारे में जो कुछ लिख रहे हैं उन्हीं की मदद से लिख रहे हैं।

युद्ध की जिन कलाओं का विकास दिल्ली में और दिल्ली के बाद लखनऊ में हुआ वे वास्तव में तीन विभिन्न जातियों से संबद्ध थीं और तीनों जातियों के परस्पर मिलने से उन कलाओं का समुचित विकास हुआ था और आश्चर्य इस बात पर है कि मेलजोल के बावजूद आखिर तक उनकी विशेषता बाक़ी रही। कुछ कलाएं तो आर्य जाति के योद्धाओं ने दी थीं, कुछ तुर्क और तातारी बहादुर अपने साथ लाये थे और कुछ ऐसी कलाएं थीं जो अरबों की देन थीं

जो ईरान से होती हुई यहां आयी थीं। लखनऊ में जिन कलाओं का प्रचलन था और जिनके उस्ताद यहां मौजूद थे, वे नीचे दी जाती हैं :

(1) लकड़ी, (2) पटा हिलाना, (3) बांक, (4) बिन्नौट, (5) कुश्ती, (6) बर्छा, (7) बाना, (8) तीरंदाज़ी, (9) कटार, और (10) जलबांक।

### 1—लकड़ी

यह कला मूलतः आर्यों की थी जिसे फिकैती कहते हैं। यह हिंदुस्तान और ईरान दोनों देशों के आर्यों में प्रचलित थी। अरबों की विजय के बाद ईरान की फिकैती पर अरबी योद्धाओं का असर पड़ गया और वहां की फिकैती हिंदुस्तान की अपेक्षा अधिक प्रगति कर गयी। हिंदुस्तान में आखिर तक वे दोनों कलाएं अपनी-अपनी विशेषता के साथ बाक़ी रहीं और लखनऊ में दोनों स्कूल क़ायम थे। ईरान की अरबी मिश्रित फिकैती यहां 'अली मद' के नाम से मशहूर थी और शुद्ध हिंदुस्तानी फिकैती 'रुस्तमखानी' के नाम से याद की जाती। अली मद में फिकैत का बायां क़दम एक जगह जमा रहता और सिर्फ दाहिने पांव को आगे-पीछे हटाकर पैंतरे बदले जाते। इसके खिलाफ़ रुस्तमखानी में फिकैत पैंतरे बदलते वक्त दाहिने-बायें और आगे-पीछे जितना चाहता या जगह पाता हटता-बढ़ता और एकदम प्रतिद्वंद्वी पर आ पड़ता। एक यह फर्क भी था कि अली मद की कला खास रईसों और शरीफ़ों के साथ जुड़ी थी। इसके उस्ताद कभी किसी छोटी कौम या निचले वर्ग के आदमी को अपना शागिर्द न बनाते और न अपनी कला से परिचित होने देते। लेकिन उधर रुस्तमखानी की कला छोटे वर्ग के लोगों में आम थी।

अली मद के एक ज़बरदस्त उस्ताद फ़ैज़ाबाद में शुजाउद्दौला बहादुर और उनके बाद उनकी बेवा बहू बेगम साहिबा की सरकार से संबद्ध थे। उनका ज़िक्र फ़ैज़ाबाद के इतिहास में है और मालूम होता है कि इस कला के सबसे पहले उस्ताद वही थे जो फ़ैज़ाबाद में रहे और फिर लखनऊ आ गये। इस कला के दूसरे उस्ताद मुहम्मद अली खां थे जो खास हमारे मुहल्ले कटरा बिज़्ज़न खां में रहते थे और अली मद के आविष्कारक माने जाते थे। तीसरे उस्ताद मीर नज़मउद्दीन थे जो दिल्ली के शाहज़ादों के साथ पहले बनारस गये और फिर वहां से लखनऊ आये। उनका नियम था कि सिर्फ़ शरीफ़ों को शागिर्द करते और शागिर्द करते वक़्त शाहज़ादों से दौलत और शरीफ़ों से सिर्फ मिठाई लेते और उसे बजाये इसके कि अपने काम में लायें खुद ले जाकर सैयदों को

भेंट दे देते। यह नवाब आसफ़उद्दौला के ज़माने में थे। एक बहुत बड़े उस्ताद मीर अता हुसैन थे जो हकीम मेहदी के खास साथियों में थे। एक बहुत बड़े उस्ताद पटेबाज़ खां थे जो अपने कमाल के कारण गाज़ीउद्दीन हैदर के ज़माने में अली मद के आविष्कारक और संस्थापक मशहूर हो गये। उनके बारे में कहा जाता है कि वह नव मुस्लिम थे मगर क़ायदा उनका भी यही था कि सिवा शरीफ़ों के अपनी कला किसी निचले वर्ग के आदमी को नहीं बताते थे। उन्होंने लखनऊ में अपनी यादगार के रूप में एक मस्जिद छोड़ी है जो घनिया मेहरी के पुल से आगे आलमनगर के पास आज भी मौजूद है।

रुस्तमखानी का रिवाज जनता में रहा और इसी वजह से हिंदू या मुसलमानों में उसको कोई प्रमुख स्थान न मिला, बल्कि इसके सैकड़ों उस्ताद अवध के तमाम गांवों और क़स्बों में फैले हुए थे। फिर भी लखनऊ में याहिया खां बिन मुहम्मद सिद्दीक़ खां ने जो कमाल और नामवरी रुस्तमखानी में हासिल की, किसी को नसीब न हो सकी। नवाब फ़तेहयाब खां का अगर्चे ऊंचे रईसों में शुमार था लेकिन इसके बावजूद एक बड़े खुशनवीस भी थे और उन्होंने रुस्तमखानी में भी कमाल हासिल किया था। इसी तरह लखनऊ के एक मशहूर बांके पहलवान मीर लंगर बाज़ भी रुस्तमखानी के उस्ताद थे और अब तक थोड़ा-बहुत रिवाज बाक़ी है तो निचले वर्ग के लोगों में। अली मद की कला शरीफ़ों में प्रचलित थी और शरीफ़ों को युद्ध-कला से कोई वास्ता नहीं रहा लिहाज़ा वह कला भी नष्ट हो गयी। रुस्तमखानी का नीचे लोगों में रिवाज़ था और वे लोग आज भी लड़ते-भिड़ने रहते हैं, लिहाज़ा उनमें रुस्तमखानी का रिवाज आज तक मौजूद है।

अली मद के दो-एक उस्ताद मैंने मटिया बुर्ज में देखे थे और सबके आखिर में मीर फज़ले अली थे जो मुहल्ला महमूद नगर में रहते थे।

## 2–पटा हिलाना

इस कला का मूल उद्देश्य यह था कि अगर इंसान दुश्मनों के घेरे में आ जाये तो लकड़ी के हाथ चारों तरफ फेंकता हुआ सबको हटाकर, सबसे बचकर और सबको मारता हुआ निकल जाये। पटे को टेक कर उड़ना इस कला की विशेषता थी और सबसे बड़ी तारीफ़ इस बात की थी कि इंसान पर एक साथ दस तीर भी आकर पड़ें तो उनको काट दे। यह कला दिल्ली में नहीं थी, लखनऊ में योरुप से आयी और जुलाहों में इसका अधिक प्रचलन रहा। अगर्चे

ग्राखिर में बहुत से शरीफ़ों ने भी, खासकर क़स्बों के शेखज़ादों ने इसे अपना लिया। ग़ुलाम रसूल ख़ां का बेटा गौरी पटेबाज़ लखनऊ में इस कला का सबसे बड़ा माहिर माना जाता था जिसकी सैकड़ों घटनाएं जनता में प्रसिद्ध हैं, मगर अफ़सोस अब ये क़िस्से भी वर्तमान पीढ़ी भुलाए जा रही है।

मीर रुस्तम अली के सैफ़े[1] में दोनों तरफ धार होती और उसे हिलाते हुए सैकड़ों प्रतिद्वंद्वियों को चीरकर निकल जाते। असेवन के एक शेखजादे शेख मुहम्मद हुसैन दोनों हाथों से पटा हिलाते। चुनांचे ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के ज़माने में एक दिन साहब रेज़िडेंट बहादुर और कुछ योरुपियन मेहमानों ने इस कला के किसी उस्ताद का कमाल देखना चाहा। शेख मुहम्मद हुसैन आ मौजूद हुए। चूंकि पटा उनके पास न था, शाही अस्त्रागार से एक सजा-धजा, टोपीदार पटा दिया गया जिसे लेकर उन्होंने ऐसे-ऐसे कमाल दिखाये कि हर तरफ से वाहवाही हुई और वह उसी वाहवाही और जयजयकार के जोश में पटा हिलाते हुए भीड़ से निकल कर चले गये और अपने घर पहुंचे। कलाकारों में मशहूर था कि जो शख्स पटा हिलाना जानता है वह दस तलवारवालों को भी पास न पहुंचने देगा।

इसी कला में प्रवीण एक साहब लखनऊ में मीर विलायत अली डंडा तोड़ थे। उनके बारे में मशहूर था कि प्रतिद्वंदी के हाथ में कितना ही ज़बरदस्त डंडा हो उसे तोड़ डालते थे।

### 3—बांक

युद्ध-कौशल में इसका बड़ा महत्व था और सिद्धांततः दूसरी युद्धकलाओं से इसे प्राथमिकता दी जाती थी। शरीफ़ों के लड़के ख़ास कोशिश और ख़ास शौक़ से इस कला को सीखते। इसका मूल उद्देश्य छुरियों से प्रतिद्वंद्वी का सामना करना है। यह कला प्राचीन काल में हिंदुओं में भी थी और अरबों में भी, मगर छुरियां दोनों की अलग-अलग क़िस्म की थीं। हिंदुओं की छुरी सीधी होती जिसके दोनों ओर धार होती और अरबों की छुरी मुड़ी हुई और खंजर जैसी होती जिस पर एक ही तरफ धार होती। मगर अरबों की आख़िरी छुरी जंबिया है जिसकी नोक से कुछ दूर तक चारों तरफ चार धारें होती हैं और उससे ऐसा चौफांका घाव पड़ता है कि कहते हैं कि उसमें टांका लगाना मुश्किल होता है। ग़रज़ इस हथियार से लड़ने की कला का नाम बांक है।

[1] जिल्दसाज़ों का काग़ज़ काटने का औज़ार।

इसकी शिक्षा यों दी जाती है कि उस्ताद और शागिर्द दोनों आमने-सामने घुटनों के बल बैठते हैं। मगर हिंदुओं वाली सीधी छुरी की शिक्षा में यह नियम था कि दोनों प्रतिद्वंद्वी घुटनों के बल बैठने के साथ एक घुटना खड़ा रखते और अरबोंवाली छुरी की शिक्षा में बिल्कुल घुटने टेककर बैठते थे और चोटों के साथ बड़े जबरदस्त पेच होते जिनके आगे कुश्ती के पेचों का कोई महत्व न था। यह फ़र्क़ भी बताया जाता है कि अरबों के कौशल में असली सात चोटें थीं और हिंदुओं के कौशल में नौ। अरबों की बाक में पेच पूरा बंध जाता तो प्रतिद्वंद्वी को ज़िंदा छोड़ना बांधने वाले के क़ाबू से बाहर हो जाता और हिंदुस्तानवालों की कला में आखिर तक क़ाबू में रहता कि जब चाहें पेच खोलकर प्रतिद्वंद्वी को बचा दें।

इस कला में सिर्फ़ चोटें ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े ज़बरदस्त पेच हैं जिनमें दोनों प्रतिद्वंद्वी घंटों गुथते और निरंतर पेच करके एक-दूसरे को बांधकर ज़ख़्मी कर देने की कोशिश करते हैं। इस कला के पेच ऐसे सच्चे और अचूक और नियमबद्ध थे कि कहा जाता है कि कुश्ती और लकड़ी के तमाम पेच बांक ही से निकले हैं। बांक के उस्तादों में मशहूर था कि बांक लेटकर पूरी होती है, बैठ कर आधी रहती और खड़े होकर सिर्फ चौथाई रह जाती है। यह न समझना चाहिए कि बकैत का काम सिर्फ यह है कि प्रतिद्वंद्वी को छुरी से घायल कर दे, नहीं उसका असली काम यह है कि प्रतिद्वंद्वी को ज़िंदा बांध ले और बेबस करके गिरफ़्तार कर लाये।

एक यह ख़ास बात भी थी कि बांक वाला अपने कौशल को यथासंभव गुप्त रखता, उसका रंग-ढंग और तौर-तरीक़ा किसी बात से न पहचाना जाता कि वह योद्धा है। बकैत आम शिष्ट और सभ्य जनों का-सा तौर-तरीक़ा अपनाते, जूतियां पहनते, कोई हथियार न बांधते यहां तक कि उनमें लोहे के क़लमतराश या सूई तक पास रखने की क़सम थी। सिर्फ़ एक रुमाल रखते और उसके एक कोने में एक लोहे का छल्ला बंधा रहता। बस यही अस्त्र ज़रूरत के वक़्त उन्हें काम दे जाता या उससे भी ज़्यादा तहज़ीब बरतते तो हाथ में तस्बीह रखते और उसमें लोहे का भद्दा-सा क़िब्लानुमा (दिग्दर्शक यंत्र) लगा होता। बस यही हथियार उनके लिए काफ़ी था।

हिंदुओं में प्राचीन काल से यह कला ख़ास ब्राह्मणों में प्रचलित थी। राजपूत नहीं जानते थे, न ब्राह्मण उन्हें सिखाते थे और न वे उसे अपनी शान

के ख़िलाफ़ समझकर उसे सीखने की कोशिश करते थे। इसका कारण शायद यह था कि बंकैत होने के लिए समाज में श्रेष्ठता का होना आवश्यक था और राजपूत खुले सिपाही थे। ब्राह्मण बंकैत दिग्दर्शक यंत्र या लोहे के चने के बजाये एक कुंजी रखते जो जनेऊ में बंधी रहती थी और उससे काम लेकर बड़ी शिष्टता और गंभीरता के साथ दुश्मन का काम तमाम कर देते थे। शहज़ादा मिर्ज़ा हुमायूं क़द्र बहादुर फ़रमाते हैं कि लखनऊ में यह कला शाह आलम के शासन-काल में उस समय आयी जब मिर्ज़ा खुर्रम बख़्त बहादुर बनारस आये और इस कला के दो-एक उस्ताद अपने साथ लाये। लेकिन हमें विश्वस्त सूत्र से और फ़ैज़ाबाद के इतिहास के पढ़ने से मालूम हुआ कि इस कला के माहिर मंसूर अली खां बंकैत शुजाउद्दौला ही के ज़माने में फ़ैज़ाबाद मे आ गये थे।

नवाब आसफ़उद्दौला के शासन-काल में बांक के उस्ताद लखनऊ में शेख़ नज्मउद्दीन थे। उसी के आसपास के ज़माने में बांक के एक दूसरे उस्ताद लखनऊ में मौजूद थे जो मीर बहादुर अली के नाम से मशहूर थे। उनका दावा था कि पलंग के नीचे जंगली कबूतर छोड़ दीजिये और तमाशा देखिये—किसी तरफ से निकल कर उड़ जाये तो जानिये कि मैं बंकैत नहीं। यह बात इन्हीं तक सीमित नहीं, बांक की यही विशेषता है और हर उस्ताद इसका दावा कर सकता था। लखनऊ में एक तीसरे उस्ताद वली मुहम्मद खां थे। नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में शेख़ नज्मउद्दीन के शागिर्द के शागिर्द अब्बास का नाम मशहूर था और उनके चार शागिर्द नामवर हुए जिनमें से एक तो डाकू था, बाक़ी तीन सभ्य लोग थे। इस कला के आख़िरी उस्ताद मीर जाफ़र अली थे जो लखनऊ की तबाही के बाद वाजिद अली शाह के साथ मटिया बुर्ज में पहुंचे। उन्हें मैंने देखा था और बचपन में खुद उनका शागिर्द हुआ था, मगर दो-एक महीने सीख कर छोड़ दिया और जो कुछ सीखा था ख़्वाब-ख़्याल-सा रह गया। अब नहीं जानता कि कोई जाननेवाला बाक़ी है या नहीं।

### 4—बिन्नौट

इस कला का मूल उद्देश्य यह था कि प्रतिद्वंद्वी के हाथ से तलवार, लठ या कोई हथियार हो गिरा दे और एक रूमाल से जिसमें पैसा बंधा हुआ करता है या अपने हाथ ही से प्रतिद्वंद्वी को ऐसा धक्का पहुंचाये कि उसका काम तमाम हो जाये। इस कला के बारे में लखनऊ में शुरू ही से मशहूर था कि

इसके बड़े-बड़े ज़बरदस्त उस्ताद हैदराबाद दक्खन में हैं। वहां जाने और मालूम करने से पता चला कि वास्तव में अब तक यह कला जीवित है। जानकार लोगों का कहना है कि खड़े होकर मुक़ाबिला करनेवाला कलाकार अगर निहत्था है तो कुश्ती है, उसके हाथ में छुरी है तो बांक है और अगर कोई दो गज़ का लंबा सोंटा या रूमाल उसके हाथ में है तो बिन्नौट है। बिन्नौट वाले भी अपनी कला को छिपाकर रखते है और आपस में यह तय है कि सिर्फ़ शरीफ़ को सिखायेंगे और उससे वचन ले लेते हैं कि कभी ज़बरदस्त या निरीह व्यक्ति पर इसका इस्तेमाल न करेंगे। बिन्नौटवालों के पैंतरे, जिन्हें वे पावले कहते हैं, बहुत ही उच्च कोटि का फुर्तीलापन और सफ़ाई चाहते हैं जो ज़्यादा उम्रवालों को हासिल नहीं हो सकते। इसके अलावा बिन्नौटवालों को मानव शरीर के सारे रग-पट्ठों की पूरी जानकारी होती है और वे भली भांति जानते हैं कि किस जगह सिर्फ़ उंगली से दबा देना से या एक मामूली चोट इंसान को बेदम कर देगी। हालांकि इस कला के लिए हैदराबाद मशहूर था मगर लखनऊ में इसके उस्ताद मौजूद थे। कहा जाता है कि यहां सबसे पहले मुहम्मद इब्राहीम खां इसे रामपुर से लाये थे। तालिब शेर खां यहां एक बड़े ज़बरदस्त बांके थे और तलवार के धनी। उन्होंने जो इब्राहीम खां का दावा सुना तो तलवार की लड़ाई के लिए तैयार हो गये। मुहम्मद इब्राहीम खां ने भी यह चुनौती स्वीकार कर ली। तालिब शेर खां ने जैसे ही तलवार मारी, मुहम्मद इब्राहीम खां ने अपना रूमाल, जिसके कोने में पैसा बंधा हुआ था, कुछ ऐसी ख़ूबी से मारा कि तालिब शेर खां के हाथ से तलवार छूटकर भन्न से दूर जा गिरी। वह मुंह देखकर रह गये और सबने मुहम्मद इब्राहीम खां का उस्तादी का लोहा मान लिया।

उसके बाद लखनऊ में अंत तक इस कला का रिवाज़ रहा। यहां तक कि मटिया बुर्ज में भी मुहम्मद मेहदी नाम के एक शख़्स, जो नवाब माशूक़ महल के यहां दरोग़ा थे, बिन्नौट के ज़बरदस्त उस्ताद माने जाते थे।

### 5—कुश्ती

यह कला मुख्य रूप से आर्यों की थी—हिंदुस्तान में भी और ईरान में भी। अरब और तुर्क इससे बिल्कुल अपरिचित थे। हिंदुस्तान के पुराने बाशिंदों में भी, जो आर्य लोगों से पहले थे, इस कला का कोई पता नहीं चलता। लखनऊ में पेंचों और प्रतिद्वंद्वी को परास्त करने के तरीकों का बड़ा विकास हुआ

मगर कुश्ती का असली दारोमदार शारीरिक शक्ति पर है और जहां तक शक्ति का संबंध है लखनऊ की आबोहवा को क़ुदरत ने यह गुण ही नहीं दिया कि उसमें ग़ुलाम वग़ैरा जैसे भीमकाय पहलवान हों। इसलिए लखनऊ की कुश्ती की कला केवल दाव-पेंच दिखाना मात्र था जिसमें ज़्यादा से ज़्यादा अपने से दुगुने पर क़ाबू किया जा सकता था। मगर उससे अधिक ताकतवाले को गिराना नामुमकिन था। लखनऊ के अखाड़े और पहले के पहलवानों के क़िस्से बहुत मशहूर हैं मगर सब हैं दाव-पेंच ही के कारण, ताकत के कारण नहीं। एक बार मैंने यहां के एक मशहूर पहलवान सैयद की लड़ाई एक दूने क़द के पंजाबी पहलवान से देखी। इसमें शक नहीं कि सैयद की लड़ाई शुरू से ही बहुत अच्छी थी। उसकी चलत-फिरत और उसकी फुर्ती क़ाबिले-तारीफ़ थी। लेकिन नतीजा यह हुआ कि घंटा भर में सैयद पसीने में डूबा हुआ था, ताकत जवाब दे चुकी थी और दम फूल गया था और पंजाबी पहलवान पर, जो उसे खिला रहा था, कुछ असर न हुआ था। आखिर सैयद खुद ही मैदान छोड़ कर भाग गया और बिना लड़े हार मान ली।

### 6—बर्छा

युद्ध की यह एक पुरानी कला है जो आर्यों, तुर्कों और अरबों में थी। अरबों का बर्छा लंबा होता और उसका फल नुकीला। तुर्कों का बर्छा छोटा होता और फल नोकदार यानी शंकु के आकार का। और हिंदुस्तान के आर्यों का बर्छा लंबा होता, मगर उसका फल पतला और पान जैसा धारदार। मगर ताज्जुब यह है कि तीनों तरह के भाले लखनऊ में मौजूद थे। बड़े बर्छे पांच गज़ के लंबे होते और छोटे बर्छे तीन गज़ लंबे। बड़े बर्छे की शर्त यह थी कि उसमें लचक नाम की भी न हो और उसी लिहाज से दोनों के चलाने के तरीके भी भिन्न थे। लखनऊ के मशहूर और असली बर्छैत मीर कल्लू थे जिनका नाम बुरहान-उल-मुल्क के ही ज़माने से चमक गया था। उनके बाद मीर अकबर अली बर्छैत मशहूर हुए। फिर बरेली और रामपुर से काफी बर्छैत आने शुरू हो गये। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के ज़माने में बादशाह को हाथियों के शिकार का शौक़ हुआ तो बर्छे की कला जानने वालों की बड़ी क़द्र हुई और लड़ाइयों में यही हथियार ज़्यादा काम देने लगा। अफ़सोस, यह पुराना हथियार जिससे बड़ी-बड़ी प्राचीन जातियों ने नामवरी पैदा की थी, लखनऊ में असली या नक़ली तौर पर आज भी बाक़ी है लेकिन सिर्फ़ बरातों के जुलूस का काम देता है।

## 7—बाना

यह कला भी निचले वर्ग के लोगों में प्रचलित थी और किसी हद तक आज भी बाक़ी है। लट्ठ की लड़ाई के हाथ और ज़र्दें इसी से निकली हैं। बाने का उद्देश्य भी यह है कि बाना या लट्ठ चलाता हुआ इंसान दुश्मनों के घेरे में से निकल जाये। बाना एक लंबी लकड़ी का नाम था जिसके एक तरफ लट्टू होता था और कुछ लोग दोनों तरफ लट्टू रखते थे और इस तरह हिलाते कि कोई क़रीब न आ सकता। बाज़ लोग लट्टुओं में कपड़ा बांधकर और तेल में डुबोकर उन्हें जलाते और इस तरह हिलाते कि अपने ऊपर आग का ज़रा असर न हो और दुश्मन आग की वजह से दूर ही दूर रहे।

## 8—तीरंदाज़ी

यह संसार की सभी लड़ाकू जातियों का पुराना हथियार और प्राचीन काल की बंदूक है। इसमें बड़े-बड़े कमाल दिखाये जाते और उच्च या निम्न वर्ग के सभी लोग इसे सीखना ज़रूरी समझते थे। यही वह हथियार है जिससे राजा रामचंद्रजी और उनके भाई लक्ष्मणजी ने रावण और उसके जैसे भीम-काय शत्रुओं को मारकर गिरा दिया। अगर्चे बंदूक के आविष्कार ने इसका ज़ोर कम कर दिया था, मगर फिर भी युद्ध-कौशल की दृष्टि से इसका महत्व बहुत था। कमानें इतनी कड़ी रखी जातीं कि उनका चिल्ला खेंचना हरेक के लिए आसान न था। बल्कि जिसकी कमान जितना ज़्यादा कड़ी होती उसका तीर उतना ही ज़्यादा दूर जाता और पैना होता। अरबों ने अपनी विजयों के समय तीरंदाज़ी के ऐसे-ऐसे कमाल दिखाये हैं जो विस्मयकारी हैं। उम्मेलब्बान नामक दस-पांच रोज़ ही की ब्याही हुई एक अरब दुलहन ने दमिश्क की विजय के अवसर पर अपने शहीद दुलहे का बदला लेने के लिए ऐसे ज़बरदस्त तीर बरसाये कि पहले ने दुश्मन के ध्वजा वाहक को मार गिराया और दूसरा दुश्मनों के बहादुर सरदार टामस की आंख में ऐसा जाकर लगा कि किसी के निकाले न निकल सका और अंत में गांसी काटकर आंख ही में छोड़ दी गयी।

अवध के पांसी और भर इस कला को पहले से ख़ूब जानते थे। फिर नये-नये उस्ताद दिल्ली से आये और आसफ़उद्दौला के शासन-काल में उस्ताद फ़ैज़ बख़्श ने बादशाह के इशारे से मिर्ज़ा हैदर के वालिद को, जो हाथी पर सवार आ रहे थे, ऐसी फुर्ती से तीर मारा कि न किसी ने उन्हें

निशानेबाज़ी करते देखा और न उन्हें खबर हुई। हालांकि तीर पटके को तोड़-कर निकल गया था लेकिन वह आखिर तक बेखबर रहे। घर पहुंचकर पटका खोला तो वह खून से लथपथ था और साथ ही घाव से खून का फव्वारा छूटा और दम भर में मर गये।

इस कला के सिखाने का ढंग भी कठिन था। मगर अब इस कला का रिवाज़ दुनिया की सारी सभ्य जातियों से उठ गया है इसलिए कि आधुनिक आग बरसानेवाले हथियारों ने इसे बिल्कुल बेकार बना दिया है। लेकिन फिर भी हिंदुस्तान की असभ्य जातियों में यह शेष है जो शिकार आदि और कभी-कभी आपसी लड़ाइयों में भी तीर-कमान से काम लेती हैं।

## 9–कटार

यह पुराना हथियार ख़ासकर आर्य जाति का था और बाद में इससे ज़्यादातर चोर और डाकू काम लेते थे। इससे प्रतिद्वंद्वी पर टोककर हमला नहीं किया जाता था बल्कि उसे बेखबर रख कर उस पर आक्रमण किया जाता था। इसी वजह से शायद दिल्ली में भी और खास तौर से लखनऊ में शरीफ़ लोगों ने इससे काम लेना बिल्कुल छोड़ दिया था। कटार सब बांधते मगर उससे लड़ना और हमला करना कोई न जानता था। इससे हमला करने की परिभाषा यह थी कि जब चाहें तो हमला करें मगर दुश्मन के जिस्म में क़हीं खराश भी न आये और जब चाहें तो क़ब्ज़े तक पार हो जाये। इससे चोर अक्सर रातों को सोते हुए प्रतिद्वंद्वी पर हमला करते और छिपकर उसका काम तमाम कर आते।

## 10–जलबांक

यह वही बांक की कला थी जिसका हम ऊपर वर्णन कर आये हैं और जिसे बाद में तैराकी से मिला दिया गया था। इसका उद्देश्य यह था कि गहरे पानी में दुश्मन पर क़ाबू हासिल करें और उसे बांध लायें या पानी में ही उसका काम तमाम कर दें। इतिहास में और कहीं इसका उल्लेख नहीं, मगर लखनऊ में तैरने के एक उस्ताद मीरक जान ने इसे ईजाद किया और सैकड़ों शागिर्दों को सिखाया। वैसे देखने में तो इसका आविष्कार लखनऊ ही में हुआ और आज भी तैराकी के कुछ करतब यहीं के उस्ताद जानते हैं, और कहीं इस कला का नाम-निशान तक नहीं।

पैराइयों में लखनऊ ने जो तरक्की की उसका जिक्र हम आगे करेंगे।

उर्दू में एक कहावत मशहूर है कि "बुढ़ापे में इंसान की कामवासना जीभ में आ जाया करती है।" वैसे भी बहादुरों और शूरवीरों की शूरता के बारे में अक्सर यह तजुर्बा हुआ है कि जब कमज़ोरी आती है, या हाथ पैरों की ताक़त जवाब दे देती है तो सारी बहादुरी और सूरमाई हाथों से निकल कर ज़बान और आंखों में जमा हो जाती है। अब वे अपनी वीरता और नामवरी के क़िस्से सुनाते और बहादुरी के कारनामे अपने आप नहीं दिखाते बल्कि उनका तमाशा लड़नेवाले जानवरों के माध्यम से देखते और दूसरों को दिखा-दिखा कर वाहवाही प्राप्त करते हैं।

यही हाल लखनऊ का हुआ। जब लोगों को युद्ध से फ़ुर्सत मिली और रणभूमि में खड़े होने का साहस उनमें न रहा तो उनकी युद्ध भावना ने जानवरों को लड़ा-लड़ाकर बहादुरी और खून बहाने का तमाशा देखने का शौक़ पैदा किया। यह शौक़ वैसे तो थोड़ा-बहुत सब जगह है, मगर इसमें जितनी अधिक दिलचस्पी लखनऊवालों ने ली और उन बेकार और क्रूरता-पूर्ण रुचियों को उन लोगों ने जितनी तरक़्क़ी दी वह दूसरे स्थान के लोगों ने सपने में भी न देखा होगा। और अगर ग़ौर से देखिये तो यह मानना पड़ेगा कि इस शौक़ के जैसे करिश्में और दिलकश तमाशे लखनऊ के इर्द-गिर्द देखे गये, वे दिल्ली या हिंदुस्तान के दरबार तो क्या शायद सारी दुनिया के किसी शहर में भी न देखे गये होंगे।

लखनऊ में दूसरे की वीरता से अपने दिल की भड़ास निकालने का यह शौक़ तीन तरीक़ों से पूरा किया गया : (क) दरिंदों और चौपायों को लड़ाकर, (ख) पक्षियों को लड़ाकर, और (ग) तुक्कलें और कनकौवे लड़ाकर यानी पतंगबाज़ी के जरिये। इन तीनों तरीकों को हम अपनी जानकारी के अनुसार अलग-अलग विवरण के साथ बताना चाहते हैं।

पहली क़िस्म यानी दरिंदों और चौपायों की लड़ाई का तमाशा यहां नीचे लिखे जानवरों को लड़ाकर देखा गया : (1) शेर, (2) चीते, (3) तेंदुए, (4) हाथी, (5) ऊंट, (6) गैंडे, (7) बारहसिंघे, और (8) मेंढे। पशुओं के लड़ाने का शौक़ प्राचीन भारत में कहीं या कभी नहीं सुना गया था। यह

रुचि वास्तव में रोमियों की थी जहां इंसान और जानवर कभी आपस में और कभी एक दूसरे से लड़ाये जाते थे। मसीही धर्म की उन्नति के साथ ही वहां भी यह शौक़ ख़त्म हो गया था। मगर अब तक स्पेन में और यूरोप के कुछ दूसरे देशों में वहशी सांड आपस में और कभी-कभी इंसानों से लड़ाये जाते हैं। लखनऊ में ग़ाज़ीउद्दीन हैदर बादशाह को संभवत: उनके योरुपियन दोस्तों ने दरिंदों की लड़ाई देखने का शौक़ दिलाया। बादशाह फौरन तैयार हो गये और कुछ ही दिन में शाही दिलचस्पी उन ख़ौफ़नाक और बर्बर लड़ाइयों में ऐसी बढ़ी कि कोई कसर नहीं उठा रखी गयी। मोती महल में ठीक दरिया के किनारे दो नयी कोठियां मुबारक मंज़िल और शाह मंज़िल बनवायी गयीं। उनके सामने दरिया पार कोसों तक एक रमणीय उद्यान चला गया था जिसमें लोहे के कटहरे से घेरकर एक विशाल चरागाह बनायी गयी थी। इसमें भांति-भांति के हज़ारों-जानवर लाकर छोड़े गये थे और दरिंदे कटहरों में बंद करके रखे गये थे। इसी चरागाह के साथ दरिया किनारे ही जंगली जानवरों के लड़ाने के लिए बड़े-बड़े मैदान बांस के ठाठरों या लोहे के अहाते से सुरक्षित बनाये जाते जो शाह मंजिल के ठीक सामने दरिया के उस पार होते। दरिया का पाट वहां बहुत कम है। बादशाह और उनके मेहमान और मुसाहिब शाह मंजिल के ऊपरी आंगन पर गंगा-जमनी शामियानों के साये में बैठकर इत्मीनान और आराम से सैर देखते और पार के घिरे हुए मैदान में दरिंदों की भयंकर लड़ाई का रोमांचकारी दृश्य उपस्थित होता। दरिंदों और मस्त हाथियों का लड़ाना तो आसान है मगर उसकी संभाल बहुत ही मुश्किल। एक मस्त हाथी या शेर कटहरे से छूट जाता है तो शहरों में भगदड़ पड़ जाती है और बहुत-सी जानें नष्ट हो जाती हैं। मगर यहां लोग इस भयानक काम में इतने होशियार हो गये थे कि उस समय जो योरुपियन पर्यटक दरबार में मौजूद थे, खुद अपनी किताबों में यह स्वीकार करते हैं कि जंगली जानवरों के पालने, साधने और उनकी देखभाल करनेवाले आदमी लखनऊ से बेहतर दुनिया भर में कहीं नहीं हैं। यही लोग हाथियों और दरिंदों को लाकर छोड़ते, उनको अपने बस में रखते, उनके हारते वक़्त विजेता और पराजित दोनों पशुओं को अपने क़ाबू में करते थे। इस काम के लिए सैकड़ों सांटेमार और बल्लमधारी नियुक्त थे जो उन्हें मारते और अपने आपको उनके हमलों से बचाते। लोहे की दहकती हुई सलाखों और

आतिशबाज़ियों से उनको जिधर चाहते मोड़ते और जहां चाहते हंका ले जाते। शेरों और तेंदुओं को कटहरों में बंद करते। ग़रज़ उन लोगों की फ़ुर्ती, चालाकी और चलत-फिरत और होशियारी खुद जानवरों की लड़ाई से ज़्यादा दिलचस्प और अचरज भरी थी। इन बातों को देखकर दम भर में नज़र आ जाता कि उन बड़े-बड़े भीमकाय पशुओं और भयंकर हिंस्र जंतुओं पर मानव ने किन ज़रियों से वश किया है। अब इन जानवरों में से हरेक की लड़ाई का अलग-अलग हाल सुनिये जो दिलचस्पी से खाली नहीं होगा।

## 1—शेर

बादशाह ने बहुत से शेर जमा कर रखे थे जो नेपाल की तराई से पकड़-पकड़ कर लाये जाते। इनमे से कुछ बहुत बड़े थे। कुछ विभिन्न लड़ाइयों में जीतकर बादशाह के प्रेम-पात्र हो गये थे। लड़ाई के लिए उनके कटहरे मैदान के पास लाकर खोल दिये जाते। दोनों प्रतिद्वंद्वी छूटते ही गुर्राकर एक-दूसरे पर हमला करते और दांतों और पंजों से एक-दूसरे को घायल करते हुए आपस में गुंथ जाते। कभी यह उसको गिराकर ऊपर चढ़ बैठता, कभी वह इसको दबा लेता। देर तक एक भयानक लड़ाई होती रहती जिसमें कभी तो एक प्रतिद्वंद्वी मारा जाता और कभी सख्त ज़ख्मी होकर हिम्मत हार बैठता। बहुत अधिक खून बह जाने के कारण कमज़ोर होकर भागता और प्रतिद्वंद्वी गुस्से से उसका पीछा करता। उस समय उन दोनों के संभालने और क़ाबू में लाने के लिए लड़ाने वालों का कमाल और उनकी दौड़-धूप और कारस्तानियां देखने योग्य होतीं।

शेर अक्सर तेंदुओं से लड़ाये जाते। मगर यहां ऐसे-ऐसे ज़बरदस्त तेंदुए थे जिनसे शेर बहुत कम ही जीत पाता। उनकी लड़ाई की शान भी वही होती जो शेरों के आपस में लड़ाने की है। कभी-कभी शेर और हाथी भी लड़ा दिये जाते। मगर उनकी लड़ाई जोड़ की न होती और उसके नतीजे भी आशा के विपरीत अलग-अलग प्रकार के होते। अगर हाथी खूब जियाला हुआ तो शेर उससे बहुत कम मुक़ाबिला कर सकता था। सबसे अधिक दिलचस्प लड़ाई शेर और गैंडे की होती। गैंडे का सिवाय पेट के सारा निचला शरीर फ़ौलादी होता है। इस पर न शेर के दांत असर करते है न पंजे। इसी स्वाभाविक शक्ति के घमंड में वह किसी ज़बरदस्त से ज़बरदस्त प्रतिद्वंद्वी की परवाह नहीं करता और खुद जब सर झुकाकर प्रतिद्वंद्वी के पेट

के नीचे घुसता है तो अपने बांसे के ऊपर वाला भयानक सींग पेट में इस तरह गाड़ देता है कि आंतें बाहर निकल पड़ती हैं और प्रतिद्वंद्वी का काम तमाम हो जाता है। शायद ही कभी ऐसा हुआ कि शेर ने गैंडे को चित गिराकर अपने नाखुनों और दांतों से उसका पेट फाड़ डाला हो, वर्ना अक्सर यही होता कि गैंडा अपना सींग भोंककर शेर को मार डालता।

मगर सबसे ज़्यादा आश्चर्यजनक यह बात है कि बादशाह नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में एक बार एक घोड़े के मुक़ाबिले में शेरों को बहुत नुक़सान उठाना पड़ा। यह एक अजीब घोड़ा था जो इंसानों को त्रास देने में दरिंदों से भी बढ़ गया था। मजाल न थी कि कोई आदमी उसके पास जाये। दाना दूर से उसकी तरफ बढ़ा दिया जाता और जब छूट जाता, बहुत से आदमियों को मार डालता, जो सामने आता उसे मार कर हड्डियां-पसलियां चबा डालता और लाश ऐसी बिगाड़ देता कि पहचानी न जाती। मजबूरन यह सुभाव रखा गया कि उस पर शेर छोड़ दिये जायें। चुनांचे भूरिया नामक शेर, जो बादशाह को बहुत प्रिय था और अक्सर बाज़ियां मार चुका था, उस पर छोड़ा गया। घोड़ा बजाये इसके कि शेर से डरता उससे लड़ने को तैयार हो गया और जैसे ही शेर छलांग लगाकर उस पर आया, घोड़े ने इस तरह अगला जिस्म झुकाया कि शेर पीछे को गिरा और शेर ने उसके पुट्ठों में नाखुनों के खंजर गड़ा दिये। साथ ही घोड़े ने इस ज़ोर से दुलत्ती मारी कि शेर कलाबाज़ियां खाता हुआ दूर जा गिरा। मगर वह फिर संभला और चंद मिनट इधर-उधर लगाकर फिर छलांग मारकर घोड़े पर जा रहा। घोड़े ने फिर वही हरकत की कि अगला जिस्म झुका दिया। शेर पुठ्ठों पर जा पड़ा और इरादा किया कि उसे पंजों से गिराकर मार डाले। मगर घोड़े ने अब की इस जोर से दुलत्ती झाड़ी की शेर के जबड़े टूट गये और चारों खाने चित दूर जा गिरा। लेकिन इस चोट से शेर ने ऐसी हिम्मत हार दी थी कि घोड़े की तरफ पीठ फेर कर भागने लगा और तमाशाई हैरान रह गये। तब दूसरा उससे बड़ा शेर छोड़ा गया। उसने सामना ही न किया। मजबूरन वह शेर भी हटा लिया गया और तीन अरने भैंसे छोड़े गये। वे भी घोड़े से न बोले और घोड़े ने बढ़कर बिना छेड़े ही एक भैंसे पर इस जोर से दुलत्ती झाड़ी कि वह भैंसा तिवरा गया और उसके दोनों साथी इस तरह सिर हिलाने लगे मानो उसकी प्रशंसा कर रहे हों कि हां! यह हुई! आखिरकार घोड़े को

छोड़ दिया गया और नसीरउद्दीन हैदर ने कहा, "मैं इसके लिए एक लोहे का कटहरा बनवा दूंगा और उसके पालन-पोषण का भी सामान कर दूंगा। अब्बाजान के सर की क़सम, यह बड़ा बहादुर है।"

### 2—चीता

सभी दरिंदे लड़ाई के लिए दो-एक दिन पहले से भूखे रखे जाते हैं, मगर चीते के बारे में इसका खास ख्याल रखना पड़ता है इसलिए कि चीता जितना ज़्यादा ज़ालिम और खूंख्वार है उतना ही कभी-कभी डरपोक भी साबित होता है। बिगड़े अमीरज़ादों की तरह वह खुशामदपसंद माना जाता है। चुनांचे मैदान में जब उसका जी चाहे लड़ता है और जब न जी चाहे लाख जतन करो नहीं लड़ता। लड़ाई में वह कतराता और कनियाता हुआ प्रतिद्वंद्वी पर हमला करता है। पहले छलांग मारकर एक दूसरे को ज़ख्मी करना चाहता है। ऐसी दो-एक छलांगों के बाद दोनों पिछले पैरों पर खड़े होकर पंजों से लड़ने लगते हैं। यह एक बड़ी खूंरेज लड़ाई होती है जिसमें दोनों गुर्राते जाते हैं और प्रतिद्वंद्वी पर पंजे मारते जाते है। अंत में ज़बरदस्त कमज़ोर को गिरा कर चपतें मार-मारकर दुश्मन का काम तमाम कर देता है। मगर खुद भी सर से पांव तक ज़ख्मी हो जाता है।

### 3—तेंदुआ

तेंदुआ छोटे आकार का शेर होता है, मगर कहा जाता है कि लखनऊ में शेरों से अक्सर लड़ने वाले तेंदुए थे जो भयानक लड़ाई लड़ते और अक्सर शेरों को हरा देते। तेंदुए की लड़ाई बिल्कुल शेरों की सी होती है। लड़ते-लड़ते दोनों प्रतिद्वंद्वी सख्त घायल हो जाते हैं और पराजित प्रतिद्वंद्वी कभी तो वहीं मैदान में गिर कर मर जाता है और कभी दुश्मन से हारकर भाग खड़ा होता है।

### 4—हाथी

लखनऊ में हाथियों की लड़ाई बहुत पसंद की जाती थी और बहुत ही दिलचस्प समझी जाती थी। यह शौक़ इतना बढ़ा हुआ था कि बादशाह नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में डेढ़ सौ लड़ाई के हाथी थे जिनका सवारी के लिए उपयोग नहीं होता था। हाथियों की लड़ाई के लिए शर्त यह है कि वे मस्त हो गये हों इसलिए कि हाथी जब तक मस्त न हों, नहीं लड़ते और लड़े भी तो उनमें जीतने और अपने दुश्मन को हराने का

सच्चा और जोशगुस्सा नहीं होता ।

लड़ाई के वक़्त उनकी गर्दन से दुम तक एक रस्सा बंधा होता है। प्रतिद्वंद्वी का सामना होते ही दोनों अपनी-अपनी सूंडें और पूछें उठाकर ज़ोर से चिंघाड़ते हुए एक-दूसरे पर झपट पड़ते हैं और बड़ी ज़बरदस्त टक्कर होती है। उसके बाद बराबर टक्करों पर टक्करें होती रहती हैं जिनकी आवाज़ बड़ी दूर तक जाती है। फिर दोनों एक-दूसरे से मुंह मिलाकर और दांतों को अड़ा कर एक-दूसरे को रेलना और ढकेलना शुरू करते हैं जिसमें उनके शरीर के चक्कर खाने से अंदाज़ा होता है कि कैसा ज़ोर लगा रहे हैं। फीलवान अंकुश मार-मारकर ज़ोर लगाने पर उन्हें और ज़्यादा उभारते रहते हैं। आखिर दोनों में से एक हाथी कमज़ोर पड़ता है और रेले की चोट सहन न करके ज़मीन पर गिरता है। विजयी हाथी उस समय दांत से उसका पेट फाड़ डालता है और उसका काम तमाम कर देता है। लेकिन अक्सर हाथियों का स्वभाव है कि कमज़ोर पड़ते ही दांत छुड़ा कर भागते हैं और जीतनेवाला पीछा करता है। पा गया तो टक्करें मार कर गिराता और अक्सर दांतों से पेट फाड़ कर मार डालता है और अगर वह निकल गया तो जान बच जाती है।

लखनऊ में हाथियों से अक्सर गैंडे भी लड़ाये जाते थे लेकिन मुश्किल यह थी कि दोनों जानवर आपस में लड़ते ही न थे और अगर कभी लड़ गये तो बेशक सख़्त लड़ाई होती। अगर कभी हाथी ने गैंडे को ढकेल कर उलट दिया तो उसके दांत पेट में गड़कर उसका काम तमाम कर देते। और अगर गैंडे ने मौक़ा पाकर अपना ऊपरी सींग हाथी के पेट में उतार दिया तो खाल दूर तक फट जाती। मगर हाथी सूंड की मदद से गैंडे के सींग को अपने शरीर में ज़्यादा दूर तक न घुसने देता और भारी ज़ख़्म से बच जाता था।

## 5—ऊंट

यों तो दुनिया में हर प्राणी लड़ सकता है, लेकिन लड़ाई के लिए ऊंट से ज़्यादा नामुनासिब जानवर कोई दूसरा नहीं हो सकता। मगर लखनऊ में ऊंट भी मस्त और जोशीले बनाकर लड़ाये जाते। ऊंट की पकड़ मशहूर है और उसका एकदम गिरना उसके लिए बहुत ही भयानक है। ऊंटों का जोश कफ़ निकालने और झाग उड़ाने से ज़ाहिर होता है। वे कफ़ उड़ाते हुए दौड़ते हैं और गालियां देने, एक दूसरे के मुंह पर थूकने यानी बलबलाने और

झाग उड़ाने से लड़ाई शुरू होती है। जिसे मौक़ा मिल गया प्रतिद्वंद्वी का लटकता हुआ होंठ दांतों से पकड़ लेता है और खेंचना शुरू कर देता है। जिस ऊंट का होंठ दुश्मन के दांतों में आ गया वह अक्सर गिर पड़ता है और हार जाता है और इसी पर लड़ाई खत्म हो जाती है।

### 6—गेंडा

गेंडे से ज़्यादा मजबूत जानवर कोई नहीं पैदा किया गया। वह क़द में शेर और हाथी से छोटा है मगर ऐसा फ़ौलादी बदन है कि न उस पर हाथी के दांत कारगर होते हैं, न शेर के पंजे और नाखून। सिर्फ पेट की खाल नर्म होती है। अगर कोई जानवर उस पर हमला कर सका तो मार लेता है, वर्ना हर जानवर अपनी ताकत लगाते-लगाते थक जाता है और अंत में गेंडा अपना बांसे पर का ज़बरदस्त सींग उसके पेट में भोंक-भोंक कर मार डालता है।

लखनऊ में गेंडे, हाथियों से, शेरों से, तेंदुओं से और खुद गेंडों से लड़ाये जाते थे। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर बादशाह के ज़माने में लड़ाने के अलावा कुछ गेंडे इस खूबी से सधाये गये थे कि गाड़ी में जोते जाते और हाथी की तरह उनकी पीठ पर हौदा कसकर सवारी ली जाती। गेंडा स्वभाव से लड़ने वाला जानवर नहीं है बल्कि जहां तक मुमकिन होता है लड़ाई से बचता है। लेकिन हां, अगर उसे छेड़ा जाये तो मुक़ाबिले के लिए तैयार होकर बहुत ही घातक बन जाता है। नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में लड़ाई के पंद्रह-बीस गेंडे मौजूद थे जो चांदगंज में रहा करते। जब सवार उन्हें रगेद कर एक-दूसरे के सामने कर देते तो वे सिर झुका कर एक-दूसरे की ओर दौड़ते और टक्करें होने लगतीं। दोनों की यह कोशिश होती कि प्रतिद्वंद्वी के पेट को अपने सींग से फाड़ डालें और इसी कोशिश में वे देर तक एक-दूसरे को रेलते-पेलते और ढकेलते रहते, बड़े ज़ोर-ज़ोर से गुर्राते, सींग को सींग से टकराते और आखिर में लड़ते-लड़ते सिर जोड़कर गुंथ जाते और प्रतिद्वंद्वी को ढकेलते रहते। यहां तक कि जो प्रतिद्वंद्वी कमज़ोर पड़ता वह आहिस्ता-आहिस्ता हटने और जगह छोड़ने लगता है और इस पर भी जान नहीं छूटती तो भागता है। मगर जो जीत रहा होता है वह रगेद-रगेद कर मारता है। आखिरकार कमज़ोर अपना सींग अलग करके मुक़ाबिले से मुंह मोड़ता और बड़े ज़ोर से भागता है। अगर मैदान घिरा हुआ है तो विजेता प्रतिद्वंद्वी भागते मे उस पर हमला कर-कर के उसे

गिराता और पेट में सींग भोंक कर काम तमाम कर देता है और अगर मैदान विशाल और खुला हुआ है और हारा हुआ गैंडा भाग सका तो भाग कर अपनी जान बचा लेता है। उस समय सवार रगेद-रगेदकर और और गर्म सलाखों से मार-मार कर विजेता को पराजित के पीछा करने से रोकते और हटा ले जाते हैं। गैंडों की लड़ाई का सारा दारोमदार इस पर है कि वह सिर झुकाए और अपने पेट को बचाए रहें। अगर धोखे में भी किसी का सिर उठ गया तो दूसरा प्रतिद्वंद्वी अपना काम कर गुजरता है। चुनांचे एक गैंडा विजयी हुआ और उसका प्रतिद्वंद्वी भागने लगा। उसे भागते देखकर विजेता ने सिर ऊंचा कर दिया और साथ ही उसी पराजित गैंडे ने बिजली की तरह दौड़कर उसके पेट में सिर डाल दिया और पेट फाड़ डाला।

## 7—बारहसिंघा

यह एक छोटा, नाजुक और ख़ूबसूरत जानवर है और शायद लखनऊ के सिवा और किसी जगह यह मनोरंजन के लिए लड़ाया न गया होगा। मगर इसकी लड़ाई बड़ी ख़ूबसूरत होती है। हिरन से शाइर अपनी प्रेमिका से उपमा देते हैं इसलिए इसकी लड़ाई में भी माशूक़ों की-सी अदाएं ज़ाहिर होती हैं। मुक़ाबिले के वक्त पहले बड़ी ख़ूबसूरती के साथ दोनों प्रतिद्वंद्वी पैंतरे बदलते रहते हैं और आखिर टक्करें होने लगती है जिनमें सींगों से वे तलवार का भी काम लेते हैं और ढाल का भी। अंत में देर तक की टक्करों के बाद दोनों के सींग आपस में इस तरह उलझ जाते है कि मालूम होता है कि तिफली पड़ गयी। अब एक-दूसरे को रेलते और ढकेलते रहते हैं। इसी रेला-पेली में एक कमज़ोर पड़ जाता है और उस पर हार का ऐसा आतंक छा जाता है कि उसके नाज़ुक पांव थरथराने लगते हैं और सारे तन-बदन में कंपकंपी आ जाती है। मगर प्रतिद्वंद्वी उस पर तरस खाने के बजाये ज़ोर से आकर और ढकेलता है और ढकेलता हुआ मैदान के आख़िर में यानी ठाठर तक पहुंचा देता है। अब पराजित निराश हो जाता जाता है, आंखों से मोटे-मोटे आंसू और सींगों से ख़ून की बूंदें टपकने लगती हैं और वह सींग छुड़ाकर लड़ाई से मुंह फेर लेता है। उस समय प्रतिद्वंद्वी सींगों से उसके जिस्म को ज़ख्मी करना शुरू करता है और पराजित बारहसिंघा जोर से भागता है। जिस फुर्ती से वह भागता है उसी तेज़ी से विजेता प्रतिद्वंद्वी उसका पीछा करता है। यह दौड़ देखने योग्य होती है। दोनों हवा से बातें करने लगते हैं और उन पर निगाह

नहीं ठहरती है। मगर निर्दयी शत्रु पराजित बारहसिंघे का पीछा करना नहीं छोड़ता, जहां पाता है ज़ख्मी करता है। आखिर ज़ख्मों से चूर करते-करते मार डालता है और मरने के बाद उसकी लाश को सींगों से झंझोड़ कर हटता और अपनी जीत पर गर्व करता है।

## 8—मेंढा

यह बहुत ही गरीब और निरीह पशु है, मगर इसकी टक्कर बड़ी ज़बरदस्त होती है। मालूम होता है कि जैसे दो पहाड़ लड़ गये। चुनांचे इन्हीं टक्करों का तमाशा देखने के लिए लोग इन्हें लड़ाते हैं और आज ही नहीं पुराने ज़माने से इनकी लड़ाई देखी जाती रही है। इनके लड़ाने का प्रारंभ हिंदुस्तान में बलूची लोगों से हुआ और उन्हीं से दूसरे स्थानों में शौक़ पैदा हुआ। मगर लड़ाई के लिए उनके पालने और तैयार करने का काम अक्सर कसाइयों और निचले वर्ग के लोगों के सुपुर्द रहा। अमीर और सामंत उन्हें सामने बुलवाकर लड़ाई का तमाशा देख लिया करते थे। सुना जाता है कि नवाब आसफ़उद्दौला और सआदत अली खां को मेंढों की लड़ाई देखने का बड़ा शौक़ था। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर और नसीरउद्दीन हैदर के सामने भी अक्सर मेंढे लड़ाये गये। वाजिद अली शाह को कलकत्ते के प्रवास में भी किसी हद तक शौक़ था। मुंशी-उस्सुलतान बहादुर उनकी दिलचस्पी के लिए अक्सर कसाइयों के तत्वावधान में बहुत-सी जोड़ें तैयार रखते थे और मैंने कई बार देखा कि किसी ज़बरदस्त मेंढे की ऐसी टक्कर पड़ी कि दूसरे प्रतिद्वंद्वी का सिर फट गया। मेंढा जब हारता है और अपने प्रतिद्वंद्वी की टक्कर सहन नहीं कर सकता तो उसकी टक्कर खाली देकर भाग खड़ा होता है। मुझे याद है कि एक बार बादशाह की चरागाह देखने के लिए नियत सालाना तारीख को कलकत्ता के सैकड़ों अंग्रेज़ जमा थे। बादशाह सलामत अपनी शान के खिलाफ़ बूचे पर सवार निकल आये और उन मेहमानों को खुश करने के लिए हुक्म दिया कि मेढे लाकर लड़ाए जायें। चुनांचे उनकी टक्करों का हंगामा शुरू हुआ और उससे ज़्यादा शोर योरुपियन लोगों ने हुर्रे और खुशी के नारे बुलंद करके मचाया। उस समय दर्शकों मे एक अजीब उत्साह नज़र आता था। लखनऊ में नवाबी शासन के पतन के बाद भी नवाब मोहसिनउद्दौला बहादुर को मेंढों की लड़ाई देखने का बड़ा शौक़ था। अब शरीफ़ों और अमीरों ने यह शुग़ल छोड़ दिया है और निचले वर्ग के लोगों में किसी हद तक बाक़ी है।

दरिंदों की लड़ाई लखनऊ में सिर्फ सल्तनत और अमीरों के दरबार तक सीमित थी, इसलिए कि उनकी देखभाल, तैयारी, लड़ाई के वक्त उन्हें संभालना और तानाशाहियों को उनके आघात से बचाना ऐसी चीज़ें हैं जो ग़रीबों को तो छोड़िये बड़े-बड़े अमीरों के बस से भी बाहर हैं। इसीलिए दरिंदों की लड़ाई लखनऊ के आसपास के इलाके में उसी समय देखी गयी जब तक कि पिछला दरबार क़ायम था। इधर वह दरबार बरखास्त हुआ और उधर वे भयानक दंगल भी उजड़ गये।

लेकिन परिंदों की लड़ाई ऐसी न थी। उसका शौक़ हर अमीर-ग़रीब कर सकता था और हर शौक़ीन मेहनत करके लड़ाई के योग्य मुर्ग़ या बटेर तैयार कर सकता था। जो पक्षी लखनऊ में शौक़ और दिलचस्पी के साथ लड़ाये गये वे ये हैं: (1) मुर्ग़, (2) बटेर, (3) तीतर, (4) लवे,[1] (5) बुलबुल, (6) लाल, (7) कबूतर, और (8) तोते। इनमें से हरेक खेल के अलग-अलग बयान करने की ज़रूरत है। लखनऊ की कबूतरबाज़ी और बटेरबाज़ी आमतौर पर मशहूर है जिस पर आजकल के पढ़े-लिखे और आधुनिक संस्कृति के समर्थक अक्सर हंसा करते हैं। वे यह बिल्कुल नहीं जानते कि इन शौक़ों और खेलों में हरेक को उन लोगों ने किस कमाल तक पहुंचाकर एक स्थायी कला का रूप दे दिया था। लेकिन जब वे योरुप में जाकर भी वहां इस प्रकार के बेहूदा शौक़ देखेंगे तो कम-से-कम उन्हें अपने उन शब्दों पर शर्मिंदगी ज़रूर होगी जो अपने देश के इन शौक़ीनों के बारे में अक्सर निस्संकोच कह बैठते हैं।

### 1—मुर्ग़बाज़ी

अगर्चे हर क़िस्म और हर जाति के मुर्ग़ ही लड़ते हैं मगर लड़ाई के लिए खास मुर्ग़ असील मुर्ग़ है और सच यह है कि दुनिया में असील मुर्ग़ से ज़्यादा बहादुर कोई जानवर नहीं है। मुर्ग़ की-सी बहादुरी दरअसल शेर में भी नहीं है। वह मर जाता है, मगर लड़ाई से मुंह नहीं मोड़ता। असील मुर्ग़ के बारे में यहां के अनुसंधाताओं का विचार है कि उनकी नस्ल अरब से लायी गयी है और यह संभव भी प्रतीत होता है इसलिए कि आजकल असील की जितनी

[1] बटेर की जाति का एक छोटा पक्षी जो अक्सर झाड़ियों में रहता है।

ज़्यादा और ऊंची नस्लें हैदराबाद दक्खिन में मौजूद हैं, कहीं नहीं हैं। और हिंदुस्तान में वही एक शहर है जहां अरब वाले सब जगहों से ज़्यादा आबाद हैं। उत्तर भारत में मुर्ग़ों की नस्लें ईरान होती हुई आयी। लखनऊ के नामी मुर्ग़बाज़ों में से एक साहब का बयान था कि बाज़ी में उनका मुर्ग़ इत्तिफ़ाक़ से हार गया था। दुखी और हतोत्साह होकर वह इराक चले गये। नजफ़-ए-अशरफ़ में कई महीने तक इबादत करते रहे और दिन-रात दुआ मांगते कि ए खुदाबंद ! अपने मासूम इमामों के सदक़े में मुझे ऐसा मुर्ग़ दिलवा जो लड़ाई में किसी से न हारे। एक रात को ख़्वाब में यह ख़ुशख़बरी मिली कि "जंगल में जाओ।" सुबह आंख खुलते ही उन्होंने जंगल का रास्ता लिया और एक मुर्ग़ी साथ लेते गये। यकायक पहाड़ के एक दर्रे से कुकड़ूं-कूं की आवाज़ आयी। उन्होंने फ़ौरन करीब जाकर मुर्ग़ी छोड़ी जिसकी आवाज़ सुनते ही मुर्ग़ निकल आया और यह किसी तरकीब से उसे फौरन पकड़ लाये। उसकी नस्ल ऐसी थी कि फिर कभी पाली में उन्हें शर्मिंदा न होना पड़ा।

मुर्ग़ों की लड़ाई का शौक़ यहां नबाब शुजाउद्दौला के शासन-काल से आख़िर तक बराबर रहा। नवाब आसफ़उद्दौला को इसका बहुत ज़्यादा शौक़ था। नवाब सआदत अली खां इसके बावजूद कि बड़े सूझबूझ के मालिक थे मुर्ग़बाज़ी के बेहद शौकीन थे। उनके शौक़ ने सोसाइटी पर ऐसा असर डाला कि लखनऊ के अमीर और दरबारी तो दूर उस ज़माने में जो योरुपियन यहां मौजूद थे उन्हें भी यही शौक़ हो गया था। चुनांचे जनरल मार्टिन जिनकी कोठी लखनक की एक दर्शनीय इमारत और योरुपियन बच्चों की पाठशाला है, बड़े उच्च कोटि के मुर्ग़बाज़ थे और नवाब सआदत अली खां उनसे बाज़ी बदकर मुर्ग़ लड़ाया करते थे।

लखनऊ में मुर्ग़ों की लड़ाई का यह तरीक़ा था कि मुर्ग़े के कांटे बांध दिये जाते ताकि उनसे नुक़सान न पहुंच सके। चोंच चाकू से छीलकर तेज और नुकीली की जाती और जोड़ के दोनों मुर्ग़ पाली में छोड़ दिये जाते। मुर्ग़बाज़ उनके पीछे-पीछे रहते। मुर्ग को दूसरे मुर्ग़ के मुकाबिले में छोड़ना भी एक कला थी जिसमें यह कोशिश रहती कि हमारा ही मुर्ग पहले चोट करने का मौक़ा पाये। अब दोनों मुर्ग़ चोंचों और लातों से लड़ना शुरू करते। मुर्ग़बाज़ अपने-अपने मुर्ग को उभारते और उत्तेजित करते और चिल्ला-ल्चलाकर कहते, "हां, बेटा शाबाश है ! हां, बेटा काट। फिर यही पर !"

मुर्ग़ उनकी ललकारों और बढ़ावों पर इस तरह बढ़-बढ़कर लातें और चोंचें मारते कि मालूम होता जैसे समझते और उनके कहने पर अमल करते हैं। जब लड़ते-लड़ते घायल और चूर हो जाते तो दोनों पक्षों की सहमति से थोड़ी देर के लिए उठा लिये जाते। यह उठा लेना मुर्गबाज़ी की शब्दावली में 'पानी' कहलाता है। उस वक़्त मुर्गबाज उनके ज़ख़्मी सिरों को पोंछते, उन पर पानी की फुहारें देते, ज़ख़्मों को अपने मुंह से चूसते और ऐसी-ऐसी तद्बीरें करते कि चंद मिनट के अंदर मुर्गों में फिर नया जोश पैदा हो जाता और ताज़ादम होकर दुबारा पाली में छोड़े जाते। इसी तरह बराबर 'पानी' होते रहते और लड़ाई का ख़ात्मा चार-पांच रोज बाद और कभी आठ-नौ रोज़ बाद होता। जब एक मुर्ग़ अंधा हो जाता या ऐसी चोट खा जाता कि उठने के क़ाबिल न रहता या और किसी वजह से लड़ने के क़ाबिल न रहता तो समझा जाता कि वह हार गया। अक्सर यह होता कि मुर्ग की चोंच टूट जाती। इस सूरत में भी जहां तक बनता मुर्ग़बाज़ चोंच बांधकर लड़ाते।

हैदराबाद का खेल यहां के ख़िलाफ़ बहुत सख़्त है। वहां कांटे नहीं बांधे जाते बल्कि बांधने के बजाये चाकू से छीलकर बरछी की अनी बना दिये जाते हैं और नतीजा यह होता है कि लडाई का फ़ैसला घंटे डेढ़ घंटे ही में हो जाता है। लखनऊ में कांटों के बांधने का तरीक़ा शायद इसलिए इख़्तियार किया गया था कि लड़ाई लंबी हो जाये और ज़्यादा देर तक आनंद उठाया जा सके।

लड़ाई के मुर्गों की तैयारी में मुर्गबाज़ का कमाल मुर्ग़ की ख़ुराक और देखभाल के अलावा उसके शरीर की मालिश, फ़ुई यानी पानी की फुहार देने, चोंच और कांटे बनाने या कांटे के बांधने और कोफ़्त के मिटाने में नज़र आता है। इस अंदेशे से कि जमीन पर दाना चुगने में चोंच को नुक़्सान न पहुंच जाये, अक्सर दाना उन्हें हाथ पर खिलाया जाता है।

यह शौक़ बाजिद अली शाह के जमाने तक ज़ोरों पर था। मटिया बुर्ज में नबाब अली खां की कोठी में मुर्गों की पाली होती थी और कलकत्ता से कुछ अंग्रेज़ अपने मुर्ग लड़ाने को लाया करते थे। बादशाहों के अलावा और बहुत से रईसों को भी मुर्गबाजी का शौक था। मिर्जा हैदर बहू बेगम साहिबा के भाई नवाब सालार जंग हैदर बेग खां, मेजर स्वारिस जो नसीरउद्दीन हैदर के जमाने में थे और ख़ुद बादशाह के मुर्ग़ से मुर्ग़ लड़ाते थे। आग़ा

बुरहानउद्दीन हैदर भी मुर्ग़बाज़ी के शौक़ीन थे। उनके यहां आख़िर ज़माने तक दो-ढ़ाई सौ मुर्ग़ रहते। वे बहुत सफाई और सुथरे ढंग से रखे जाते। दस-बारह आदमी उनकी देखभाल पर तैनात थे। मियां दाराब अली खां को बड़ा शौक़ था। नवाब घसीटा ने भी इस शौक़ को आख़िर तक निबाहा। मलीहाबाद के प्रतिष्ठित पठानों को भी बहुत शौक़ था और उनके पास असील मुर्ग़ों की बहुत अच्छी नस्लें सुरक्षित थीं। यहां मशहूर मुर्ग़बाज़ जो अपनी कला में पारंगत माने जाते थे, बहुत से थे। मीर इमदाद अली, शेख़ घसीटा, मुनव्वर अली जिन्हें यह कमाल हासिल था कि मुर्ग़ की आवाज़ सुन-कर बता देते कि यह बाज़ी ले जायेगा। सफ़दर अली और एक प्रथम कोटि के वसीक़ादार सैयद मीरन साहब भी मशहूर थे। इस आख़िरी ज़माने में नीचे लिखे लोगों का नाम, मशहूर हुआ : फज्ले अली जमादार, कादिर जीवन ख़ां, हुसैन अली, नौरोज़ अली, नवाब मुहम्मद तक़ी खां जो यहां के एक बड़े रईस थे, मियां जान, दिल, छंगा, हुसैन अली बेग, एहमद हुसैन। इनमें से अब कोई ज़िंदा नहीं है।

यही लोग हैं जिन्होंने मुर्गबाज़ी की कला को उसकी चरमसीमा तक पहुंचा-कर दिखा दिया। मगर मेरा खयाल है कि फ़िलहाल मुर्गबाजी का शौक हैदरा-बाद दक्खिन में बढ़ा हुआ है। वहां के बहुत से अमीरों, जागीरदारों और मंसब-दारों को शौक है और उनके पास मुर्ग़ों की नस्लें भी बेमिसाल है जिनकी वे बहुत हिफाजत करते है।

## 2–बटेरबाज़ी

बटेरबाज़ी का शौक़ लखनऊ में पंजाब से आया। पंजाब के कुछ कंचन लोग जिनकी औरतें वेश्यावृत्ति करती हैं, नवाब सआदत अली खां के शासन-काल में लखनऊ आये और घाघस बटेर अपने साथ लाये जिनको वे लड़ाते थे। आजकल की बाज़ नामवर रंडियां उन्ही लोगों की नस्ल से हैं। बटेरों की दो क़िस्में होती हैं : एक घाघस, दूसरी चनंग। पंजाब में सिर्फ घाघस बटेर होता है। वह चनंग से ज़्यादा ज़बरदस्त और ताक़तवर होता है। लखनऊ में घाघस और चनंग दोनों होते हैं। चनंग घाघस से क़द मे छोटा और नाज़ुक होता है मगर लड़ने में ज़्यादा मज़बूत और जियाला हुआ करता है और उसकी लड़ाई ज़्यादा शानदार और ख़ूबसूरत होती है। बहरहाल इस बात का पता लखनऊ ही में लगा कि लडाने के लिए चनंग बटेर ज़्यादा मुनासिब है।

बटेर की लड़ाई के लिए न किसी बड़े मैदान की ज़रूरत थी, न घर से बाहर निकलकर सहन तक भी आने की, बल्कि कमरे के अंदर ही साफ-सुथरे फ़र्श पर तहज़ीब के साथ बैठकर उसकी लड़ाई की सैर देखी जा सकती है। इसलिए लखनऊ की सोसाइटी ने उसी को बहुत पसंद किया। बहुत ही नफ़ीस और ख़ूबसूरत काबुकें बटेरों के लिए बनायी गयी थीं जो हाथीदांत की नन्हीं-नन्हीं मग़ज़ियों से सजाई जातीं और उनमें बटेर रखे जाते।

इसका खेल यों है कि पहले मूठ यानी पानी में भिगो-भिगोकर घंटों हाथों में दबाये रहने से उसकी घबराहट दूर हो जाती है, यहां तक कि वह बोलने और चोंचें मारने लगता है। इसके बाद भूख देकर और दस्तावर चीज़ें, जिनमें मिस्री खास है, देकर उसका जिस्म दुरुस्त किया जाता है। फिर रात गये या आधी रात को उनके कान मे चिल्लाकर 'कू' कहा जाता है जिसे 'कूकना' कहते हैं। ग़रज इन तदबीरों से चर्बी छट जाती है, भद्दापन दूर हो जाता है और जिस्म बहुत ही फुर्तीला और ताक़तवर हो जाता है। यही बटेर की तैयारी है और इन बातों में जितना पूरा हो उतना ही समझिये कि लड़ाई के लिए ज़्यादा मुनासिब है।

लड़ाई के वक़्त फ़र्श पर चारों तरफ हल्का-हल्का दाना छिटका दिया जाता है और बटेर काबुक से निकाले जाते हैं। पहले दोनों बटेरों की चोंचें चाकू से बनाकर ख़ूब तेज़ कर दी जाती हैं, उसके बाद मुक़ाबिले के लिए छोड़ दिये जाते हैं। बटेर की लड़ाई मुर्ग़ से मिलती-जुलती है। चोंच से काटता और पंजों से लात मारता है। चोंच से प्रतिद्वंद्वी के मुंह को ज़ख़्मी और उत्तू कर देता है और पंजों से बाज़ वक़्त प्रतिद्वंद्वी का पोटा तक फाड़ देता है। लड़ाई पंद्रह-बीस मिनट या कभी इससे ज़्यादा देर तक रहती है और अंत में हारा हुआ प्रतिद्वंद्वी भाग खड़ा होता है और भागने के बाद फिर वह किसी बटेर के सामने लड़ाई में नहीं ठहरता।

बटेर की तरक़्क़ी के तीन दर्जे हैं और उसकी नामवरी के तीन दौर समझे जाते हैं। पहला तो 'नया' जो पकड़कर और पहले पहल सधाकर लड़ाया जाता है। अगर वह बहुत-सी लड़ाइयों में जीता और न भागा तो लड़ाई की अवधि समाप्त होते ही मामूली पिंजरों में छोड़ दिया जाता है। यह वह ज़माना होता है जब वह पुराने पर झाड़कर नये निकाल लाता है। उसे 'कुरीज़ बिठाना' कहते हैं। यह ज़माना ख़त्म होते ही दूसरे साल उसकी तरक़्क़ी का दूसरा दर्जा

ग्रौर दौर होता है ग्रौर उसे 'नोकार' कहते हैं। फिर उसके बाद दुबारा 'कुरीज़' बैठकर जब तीसरे साल वह लड़ाई के लिए तैयार किया जाता है तो 'कुरीज़' कहलाता है ग्रौर यह उसकी तरक्क़ी का तीसरा ग्रौर सबसे ऊंचा दौर होता है।

ग्रामतौर पर यह मान लिया गया है कि लड़ाई में 'नोकार' नये से ग्रौर 'कुरीज़' 'नोकार' से ज़बरदस्त होता है। नया बटेर 'कुरीज़' से दो चोंचें भी मुश्किल से लड़ सकता है। ऊंचे दर्जे के बटेरबाज़ ग्रौर शौक़ीन रईस सिर्फ 'कुरीज़ों' को लड़ाते हैं ग्रौर नये बटेरों का लड़ाना बिल्कुल मामूली खेल है। लड़ाई में तरह-तरह के जाल-फंदे भी किये जाते हैं। कुछ लोग ग्रपने बटेर के मुंह पर कभी कोई ऐसी कड़वी ग्रौर ज़हरीली चीज या इत्र लगा देते हैं कि दूसरा बटेर दो-एक चोंचें मारते ही पीछे हटने ग्रौर लड़ाई से मुंह मोड़ने लगता है। ग्रौर ग्रगर इस पर भी लड़ता रहा तो लड़ाई के बाद मर जाता है। कुछ लोग नशे का खेल खेलते हैं, यानी लड़ाई से एक घंटा पहले ग्रपने बटेर को कोई ऐसी तेज़ नशेवाली चीज़ खिला देते हैं कि वह लड़ाई में बेसुध होकर भागना भूल जाता है ग्रौर जब तक प्रतिद्वंद्वी को पाली से न भगा दे पागलों की तरह लड़ता रहता है।

लखनऊ में बटेरबाज़ी के शौक़ ने ऐसे-ऐसे बाकमाल बटेरबाज़ पैदा कर दिये जिनकी कहीं मिसाल नहीं मिलती। कुछ लोगों ने यह कमाल पैदा किया था कि किसी के ग्रच्छे नामी बटेर को एक नज़र देखा ग्रौर किसी मामूली बटेर की वैसी ही सूरत बना दी ग्रौर किसी मौक़े पर बातों-बातों में बदल लिया। ख़ैर यह तो एक बेहूदा चोरी थी मगर कुछ उस्तादों ने यह कमाल हासिल किया कि भगे बटेरों को तैयार करके ग्रच्छे-ग्रच्छे 'कुरीज़ों' से लड़ा देते ग्रौर बाज़ी ले जाते। नशे के खेलवाले उस्तादों में एक साहब निहायत ऊंचे दर्जे की गोलियां तैयार करते जो सौ रुपये की दस गोलियां बिकतीं ग्रौर लोग शौक़ से ले जाते।

इन लोगों की सबसे बड़ी उस्तादी बटेरों के इलाज में नज़र ग्राती है ग्रौर ऐसे-ऐसे बीमार, गये-गुज़रे बटेरों को ठीक कर लेते हैं ग्रौर इस ख़ूबी से उनकी बीमारी का निदान करते ग्रौर मुनासिब चीज़ें इस्तेमाल कराते हैं कि हकीम ग्रौर डाक्टर ग्रचरज में पड़ जाते है। इसकी बहुत कोशिश की गयी कि बटेरों को पालकर ग्रंडे से बच्चे दिलवाए जायें मगर इसमें कामयाबी न हुई।

बटेरों के नाम भी बड़े-बड़े शानदार रखे गये जैसे, रुस्तम, सोहराब, शोहरा-ए-आफ़ाक़ (जगत प्रसिद्ध)। पालियों में बड़ी बाज़ियां बदी जाती हैं और एक हज़ार रुपये तक की बाज़ी मैंने खुद देखी है। इसका शौक़ भी बाज़ बादशाहों को रहा। नसीरउद्दीन हैदर अपने सामने मेज़ पर बटेरों की लड़ाई देखकर खुश होते थे।

पुराने बटेरबाज़ों में मीर बच्चू, मीर अमदू, ख्वाजा हसन, मीर फ़िदा अली, छंगा, मीर, आबिद और सैयद मीरन के नाम यादगार हैं। आज से चालीस साल पहले मटिया बुर्ज में मैंने दरोगा गुलाम अब्बास, छोटे खां और गुलाम मुहम्मद खां खालिसपुरी को, जो बुज़ुर्ग लोग थे, इस कला में पारंगत पाया था। ग़ालिब अली बेग, मिर्जा असद अली बेग, नवाब मिर्ज़ा, मियां जान, शेख मोमिन अली और ग़ाज़ीउद्दीन खां ने भी आखिरी जमाने में बहुत नामवरी हासिल की थी।

बटेरों का शिकार भी लखनऊवालों के लिए बड़ी दिलचस्पी की चीज है। पहले इसमें सिर्फ शौक़ीनी थी जिसकी बदौलत बहुत से बोदे और कमज़ोर आदमी जिन्होंने कभी शहर से बाहर का इलाका भी न देखा था, खेतों और जंगलों की हवा खा आते थे। मगर अब इसी पर बहुतों की रोटियां चलती है।

कहते हैं कि बटेर पहाड़ों से रात को निकलते और ऊपर के वायुमंडल में उड़ते हुए जाते हैं। शिकार के शौक़ीन बड़ी आवाज़ से बोलनेवाले बटेरों को तैयार करते हैं जो बराबर रात भर बोलते रहते हैं। ऐसे बटेरों को 'फंदैत' कहते हैं। किसी अरहर के खेत के आसपास अक्सर जाल फैला दिया जाता है। फंदैतों की आवाज़ सुनकर बटेर ऊपर से उतरना और गिरना शुरू होते हैं और रात भर में बहुत से जमा हो जाते हैं। सुबह होते ही वे सब तरफ से हंकाकर जाल की तरफ भगाये जाते हैं जिसमें फंसते ही पकड़-पकड़ कर फटकियों में बंद कर लिये जाते हैं।

### 3—तीतरों की लड़ाई

यह भी दिलचस्प है। तीतर दूसरे पक्षियों की अपेक्षा उचक-उचक कर लड़ता है मगर इसका शौक़ सिवाय देहातियों और निचले वर्ग के लोगों के अमीरों और शरीफ़ों को कभी नहीं रहा। तीतर दौड़ा-दौड़ाकर तैयार किये जाते हैं। उनमें जोश और गुस्सा पैदा करने के लिए उनको दीमक खिलायी जाती है। मगर यह कोई बड़ा खेल नहीं है और न सभ्य समाज में इसे

मान्यता मिली, हां लखनऊ के निचले वर्ग के लोगों में यह बहुत ग्राम रहा ग्रौर है।

## 4–लवों की लड़ाई

लवा छोटे क़िस्म का तीतर है जो बटेर से छोटा है। वह बजाये दाने के सदाया यानी मादा पर लड़ा करता है। उसे लड़ाना होता है तो मादा का पिंजरा लाकर सामने रख दिया जाता है। उसका शौक़ रियासत रीवां वग़ैरा में लोगों को ज़्यादा था। लखनऊ में भी पसंद किया गया ग्रौर एक हद तक ग्रपनाया भी गया। लवे की लड़ाई सच यह है कि बटेर से ज़्यादा ख़ूबसूरत होती है। वह कुंदे खोलकर लड़ता ग्रौर गुंथ जाता है ग्रौर फूल की तरह खिल-खिलकर उठता ग्रौर गिरता है। लखनऊ के चंद ग्रमीरों को इसका शौक हो गया था। मटिया बुर्ज में वाजिद ग्रली शाह की सरकार में एक बड़े उस्ताद लवे लड़ाने वाले थे जिन्होंने बहुत ग्रच्छी-ग्रच्छी जोड़ें तैयार की थीं ग्रौर जब उन्हें सामने लाकर लड़ाते तो बड़ा लुत्फ़ ग्राता। लवों की तैयारी भी ज़्यादातर लोट ग्रौर भूख से होती है ग्रौर इसकी लड़ाई का रिवाज बटेर से पहले से ही था। मगर ग्राख़िर में बटेरबाज़ी का इतना रिवाज हुग्रा कि लवे का शौक़ फीका पड़ गया। इसका शिकार भी ग्रजब तरीके से होता है। यह भी बटेर की तरह ऊपर के वायुमंडल में उड़ता हुग्रा जाता है। लोग बटेर के फदैतों की-सी छर पर एक घड़ा बांध देते हैं। उसके मुंहगड़ पर झिल्ली मढ़कर सींक में डोरा बांधकर उस सींक की झिल्ली से एक बेतुकी भों-भों की ग्रावाज़ निकलना शुरू होती है जो लवों को ऐसी पसंद है कि उड़ते-उड़ते नीचे उतर पड़ते हैं ग्रौर सुबह को जाल में फंसकर बटेरों ही की तरह पकड़ लिये जाते हैं।

## 5–गुलदुम लड़ाना

गुलदुम को ग्राम लोग बुलबुल कहते हैं। मगर यह ग़लती है। बुलबुल बदख़्शां ग्रौर ईरान का एक गायक पक्षी है ग्रौर इस चिड़िया की दुम के नीचे एक सुर्ख़ फूल होता है जिसकी वजह से इसका नाम गुलदुम रखा गया है। इसकी लड़ाई भी देहातियों ग्रौर बाजारी लोगों में ज़्यादा है। सभ्य समाज ने इसे कभी दिलचस्पी की नज़र से नहीं देखा मगर इसकी लड़ाई होती मज़ेदार है। दाने पर लड़ते हैं ग्रौर लडाई में दोनों प्रतिद्वंद्वी लड़ते हुए ऊपर उड़ते ग्रौर गुंथकर गिरते है।

## 6—लाल लड़ाना

लाल सिर्फ़ पिंजरों में रखकर पालने के लिए हैं, लड़ाई के लिए ठीक नहीं। मगर स्वार्थी मानव ने इन्हें भी लड़ाकर दो घड़ी दिल बहला लिया। लालों का पहले तो इतना हिलना मुश्किल होता है कि पिंजरे के बाहर निकाल कर छोड़े जायें और उड़ न जायें। दूसरे इन्हें इतना मस्त भी होना चाहिए कि दूसरे लाल से लड़ने को तैयार हो जायें। चुनांचे उनका लड़ जाना ही दुश्वार होता है, मगर जब लड़ गये तो खूब गुंथ-गुंथकर और उड़-उड़कर लड़ते हैं और बड़ी देर तक लड़ते रहते हैं। लालों की लड़ाई दूसरे छोटे परिंदों की लड़ाई की अपेक्षा देर तक रहती है। लालों की लड़ाई का शौक़ लखनऊ वालों में बहुत कम रहा सिर्फ़ दो ही एक उस्ताद पैदा हुए जिन्होंने लड़या वर्ना आम रुझान इसके खिलाफ़ था और इसके शौक़ीन भी आम जनता और बाज़ारी लोग ही थे।

## 7—कबूतरबाज़ी

कबूतर उन पालतू जानवरों में है जिनका शौक़ लोगों को प्राचीन काल से लेकर आज तक हर देश और हर धरती पर किसी न किसी हद तक ज़रूर रहा। कबूतरों की बहुत-सी किस्में हैं जिनमें उड़ने वाले गिरहबाज़ और गोले होते हैं और जो महज़ खूबसूरती और खुशरंगी के लिहाज़ से पाले जाते हैं। इनमें शीराज़ी, गुली, नसावरी, गुलवे, लक़े, लोटन और चूया चंदन वग़ैरा ज़्यादा मशहूर हैं। याहू कबूतर रात-दिन गूंजते और 'याहू' का दम भरने की वजह से इबादत करने वालों को ज़्यादा पसंदा थे और अक्सर फ़क़ीरों और शेखों को इनका शौक़ था।

सुनते हैं कि गिरहबाज़ पहले-पहल काबुल से लाये गये। पहले आमतौर पर वही उड़ाये जाते थे। गोले बाद को आये जिनकी नस्ल अरब और ईरान और तुर्किस्तान से आयी। गिरहबाज़ की यह शान है कि सुबह को उड़े तो घंटों मकान के ठीक सामने आसमान पर चक्कर लगाते रहे इस तरह कि सहन के अंदर लगन में पानी भरकर रख दीजिये तो उसमें हमेशा नज़र आते रहेंगे। बाज़ दिन-दिन भर उड़ते हैं और शाम को उतरते हैं। अपने मकान को पहचानते और बड़े वफ़ादार होते हैं। गिरहबाज़ इतना कमाल रखते हैं कि खुद मेरे यहां का एक कबूतर किसी के यहां फंस गया था जिसने पर काट दिये। तीन साल के बाद जब उसे मौक़ा मिला और पर निकल

आये तो वापस आया और अपने खाने में घुसकर उस कबूतर से लड़ने लगा जो अब उसमें रह रहा था।

लेकिन गिरहबाज़ की दस-बारह से ज़्यादा की टुकड़ी नहीं उड़ती। लोगों को सौ-सौ, दो-दो सौ कबूतरों की टुकड़ियां उड़ाने का शौक़ हुआ तो गोले इख़्तियार किये गये। कबूतरबाज़ी की कला दिल्ली ही में इतनी तरक़्क़ी कर गयी थी कि कहते हैं आख़िरी मुग़ल सम्राट बहादुरशाह की सवारी निकलती तो दो सौ कबूतरों की टुकड़ी ऊपर हवा में सवारी के साथ उड़ती हुई जाती और जहांपनाह पर साया किये रहती।

कबूतर को अपने घर से बहुत ज़्यादा लगाव होता है। काबुक को ठेले पर रखकर ले जाते और जहां कहा जाये रोक कर उड़ाते और फिर काबुक पर बुला लेने का कमाल भी दिल्ली ही में पहले नज़र आ चुका था।

लखनऊ में कबूतरबाज़ी शंहशाह खानदान के प्रारंभिक काल से ही शुरू हो गयी थी। चुनांचे नवाब शुजाउद्दौला को कबूतरों का बड़ा शौक़ था। सैयद यार अली नामक एक शख़्स ने, जो बरेली का रहनेवाला था, अपने आपको एक दक्ष कबूतरबाज़ की हैसियत से दरबार में पेश किया और उसकी बड़ी क़द्र की गयी। नवाब आसफ़उद्दौला और सआदत अली खां को भी शौक़ था और ग़ाज़ीउद्दीन हैदर और नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में तो कबूतरबाज़ी यहां बहुत ऊंचे दर्जे पर पहुंच गयी थी। मीर अब्बास नामक यहां के एक नामी कबूतरबाज़ ने यह कमाल दिखाया कि जो कोई पांच रुपये नज़्र करके उनकी दावत करना चाहे वह कहीं रहता हो, काबुक लेकर पहुंच जाते और उसी के घर से कबूतर उड़ा देते। उड़ाते और सीटी पर बुला लेते। मजाल क्या कि कोई कबूतर किसी और जगह गिर जाये। शौक़ इस क़द्र बढ़ा हुआ था कि बाज़ अमीरों के यहां सिर्फ़ नौ सौ कबूतरियां एक साथ उड़तीं और बाज़ रईस इतने ही या इससे ज़्यादा तादाद में नर कबूतर उड़ाते।

ख़ोस्त (सरहदी अफ़ग़ानिस्तान) से पटैत नामक एक ख़ास रंग के कबूतर आये थे जो बहुत क़ीमती थे। अक्सर रईस हज़ारों रुपए खर्च करके उन्हीं को उड़ाते।

एक बुज़ुर्ग ने जिन्हें नवीनता प्रिय थी, लखनऊ में यह कमाल किया कि कबूतर के दो पट्ठों को लेकर एक का दाहिना और एक का बायां बाज़ू काट दिया और कटे हुए बाज़ुओं की जगह उन दोनों में टांके लगाकर एक दोहरिया

कबूतर बना लिया और उसकी ऐसी देखभाल की कि वे बड़े हुए और उड़ने लगे। ऐसे बहुत से दोहरिया कबूतर तैयार किये गये। अक्सर ऐसा होता था कि जब नसीरउद्दीन हैदर छत्तर मंज़िल से बजरे पर सवार होकर पार जाते और कोठी 'दिल आराम' में बैठकर दरिया की सैर देखते वे उस पार से अपने इन अजीब दोहरिया कबूतरों को उड़ा देते जो पार जाकर बादशाह के करीब बैठ जाते। बादशाह उन्हें देखकर बहुत ख़ुश होते और इनाम देते।

मीर अमान अली नामक एक बुज़ुर्ग ने यह कमाल पैदा किया था कि कबूतर को रंग कर जैसा चाहते बना देते। अक्सर जगह पर उखाड़कर दूसरे रंग का पर उसी के सुराख में रखकर इस तरह जमा देते कि वह असली परों की तरह जम जाता और बहुत-सी जगहों पर रंग से काम लेते। मगर ऐसा मज़बूत और पक्का रंग कि मजाल क्या जो ज़रा फीका भी पड़ जाये। बरस भर तक रंग क़ायम रहता। मगर जब कुरीज में पर गिर जाते तो फिर असली रंग निकल आता। उनके इन कबूतरों में से हरेक पद्रह-बीस रुपये को बिकता और अमीर लोग बड़े शौक़ से लेते। वह भांतिया भी बना लिया करते जो लाखों में एक निकलता है और रंग की भिन्नता और गलों की दृष्टि से बेमिसाल होता है।

एक बड़े कबूतरबाज़ नवाब पाले थे जो गिरहबाज़ कबूतरों को गोलों की तरह उड़ाते। कमाल यह था कि जिस जगह और जिस मकान पर चाहते छीपी[1] के इशारे से बाज़ी करा देते यानी कबूतर हवा में कलाबाजियां खाने लगते।

वाजिद अली शाह ने मटिया बुर्ज में बहुत से नये कबूतर जमा किये थे। कहते है कि रेशमपरे कबूतरों का जोड़ा पच्चीस हज़ार को लिया था और एक किस्म के हरे कबूतरों की नस्ल बढ़ायी थी। जब उनका देहांत हुआ है तो तीस हज़ार से ज़्यादा कबूतर थे जिन पर सैकड़ों कबूतरबाज नौकर थे और उनके दरोगा गुलाम अब्बास कबूतरबाजी की कला मे जवाब न रखते थे।

शौक़ीन और जानकर लोगों ने पालने के रंगीन कबूतरों में भी बेमिसाल तरक्की की थी। यह सिर्फ मशहूर नहीं है बल्कि ऐसा शीराजी जो गज भर के पिंजरे की लंबाई-चौड़ाई को भर ले और ऐसा गुली जो एक बारह बरस की लड़की की चूड़ी में से निकल जाये मैंने खुद अपनी आंख से देखे है। (यह ज़िक्र अभी खत्म नहीं हुआ बाक़ी आइंदा नंबर मे अर्ज़ करूगा।)

[1] कपड़ा या बंधी छड़ी जिससे कबूतर उड़ाते है।

परिंदों को लड़ा-लड़ाकर दिलचस्पी पैदा करना और मनोरंजन कराना लखनऊ के बेफ़िक्रों का बहुत ही ग्राम शुग़ल हो गया था। कबूतरों और बटेरों के तैयार करने और लड़ाने में उन्होंने इस क़दर तरक़्क़ी की कि अब हिंदुस्तान के जिस शहर में और जहां कहीं किसी रईस को इन चीज़ों का शौक है (और यह कमबख़्त शौक़ अदूरदर्शी धनिकों में ज़्यादा हुआ करता है) वहां उस्ताद लखनऊ ही से बुलाये जाते हैं और इस मद का सारा कारखाना उन्हीं की निगरानी मे होता है ।

## तोते

पक्षी लड़ाने के हद से गुज़रे हुए शौक़ ने इसमें नवीनता पैदा करना शुरू की और बाज़ शौक़ीनों का ख़याल इस तरफ गया कि जो काम कबूतरों से लिया जाता है और किन-किन परिंदों से लिया जा सकता है। चुनांचे मीर मुहम्मद अली नामक एक बुज़ुर्ग ने तोतों से कबूतरों का काम लेने में ख़ास कामयाबी हासिल की।

तोता स्वभाव से ही बहुत बेवफ़ा जानवर है। ज़िंदगी भर रखिये और पालिये, लेकिन पिंजरे से उड़ा तो फिर उधर का रुख नहीं करता। 'तोता चश्मी' नाम ही बेवफ़ाई का हो गया है। वह बोलता है, बातें करता है, जानवरों की बोलियां उड़ा लेता है, जो जुमले याद करा दीजिये उनकी रट लगाता है, मगर उड़ाने के काम का नहीं। इसलिए कि पिंजरे से छूटते ही फिर वह किसी के बस का नहीं होता। मगर मीर साहब ने ख़ुदा जाने किस तदबीर से उनका स्वभाव बदल दिया था कि दस-बारह तोतों की टुकड़ी उड़ाते और मजाल क्या कि वह सीटी बजाकर 'आ' करें और वह आसमान से उतरकर सीधे पिंजरे में न चले आयें। वह उन तोतों को रोज़ हुसैनाबाद में लाकर उड़ाते।

पक्षियों की इन तैयारियों का हाल बयान करके हम यह कहने पर मजबूर हैं कि लखनऊ वालों ने जितनी मेहनत परिंद तैयार करने में की है, काश खुद अपनी और अपने जिस्म की तैयारी में करते तो यह अंजाम हरगिज़ न होता जो हुआ।

## पतंगबाज़ी

कनकौवे उड़ाने का शौक़ किसी न किसी हद तक सारे हिंदुस्तान में है और आजकल आमतौर पर लड़कों और नौजवानों का बहुत ही दिलचस्प खेल है। इसका इतना आम रिवाज देखकर यह ख़याल होता है कि यह हिंदुस्तान की बहुत पुरानी चीज़ होगी, मगर ऐसा नहीं है। यह कला एक सदी पहले की भी नहीं कही जा सकती और इसकी प्रगति का केंद्र भी लखनऊ ही रहा है।

योरुप में लड़के एक क़िस्म के कपड़े के कनकौवे उड़ाया करते हैं जिनको जब तक डोर पकड़ कर भागते रहो उड़ते हैं और इधर कदम रुका और उधर वे ज़मीन पर आ रहे। इनके बारे में यह भी नहीं कहा जा सकता कि कब से हैं और कहां से लिये गये।

सुना जाता है कि दिल्ली में शाह आलम प्रथम के शासन-काल में यह शौक़ शुरू हुआ। शुरू-शुरू में तो कुछ ख़ास-ख़ास लोग ही पतंग उड़ाया करते थे। पतंग बड़े शौक़ और दिलचस्पी से बनाया जाता था। उसमें दो तुक्कलें थोड़े फ़ासले से आगे-पीछे बराबर खड़ी करके जोड़ दी जाती थीं। तुक्कलों की आकृति ऐसी होती थी कि उसके तीन तरफ गोलाकार कोने निकलते। उसमें एक खपाच छीलकर बीच में खड़ी लगायी जाती जो ठुड्डा कहलाती और दो खपाचें खूब छीलकर और नर्म करके ऊपर-नीचे लगायी जातीं जो कांपें कहलातीं। ऊपर की कांप की आकृति धनुषाकार होती और नीचे की कांप की उससे उलटे आकार की। उनके दरम्यान में जगह-जगह आड़ी खपच्चियां लगा कर जोड़ दिया जाता और चारों तरफ से भी कागज़ मढ़ कर एक ख़ास आकार की नुकीली क़ंदील बना दी जाती। उसके अंदर कपड़े का बना हुआ, तेल में डूबा हुआ गेंद तार में बांधकर लटका दिया जाता और उसे रौशन करके रात को लोग मज़बूत सूती या रेशमी डोर पर उड़ाते। पतंग की शान यह थी कि मालूम होता एक लालटैन आसमान पर उड़ रही है और बर-खिलाफ़ गुब्बारे के, वह उड़ानेवाले के इख़्तियार में है जब चाहे उड़ाये और जब चाहे उतार ले वह हवा में लटका रहता, कभी औंधा होता तो फिर सीधा हो जाता।

इसी जमाने में बाज़ लोग इसी तरह से इंसान का एक पुतला बनाकर उड़ाते बल्कि कुछ विश्वस्त लोगों का कहना है कि सबके पहले वह पुतला

दिल्ली ही में ईजाद हुआ था, फिर उसी से तरक़्क़ी करके चंग बनाया गया जिसकी लंबाई-चौड़ाई बराबर होने की वजह से उसे उड़ाना और हवा में ठहराना ज़्यादा आसान था। इसका शौक़ ज़्यादातर हिंदुओं में था और क्या ताज्जुब कि यह उनकी संस्कृति या धर्म से संबद्ध कोई चीज़ हो और आकाशदीप से ही यह निकला हो। फिर इस चंग के काटने के लिए या दिन को उड़ाने के ख़याल से तुक्कल उड़ने लगी जो दरअसल आधा चंग या चंग की सिर्फ एक तरफ़ की दीवार थी। तुक्कल में ख़ूबी यह थी कि वह चंग की अपेक्षा आसानी से उड़ सकती थी। उसमें चलत-फिरत थी, आसमान पर हवा में नाचती और दूर होती चली जाती थी। चंग एक जगह क़ायम रहता और तुक्कल इधर-उधर चलती-फिरती थी और उस पर इतना क़ाबू था कि जब चाहें उसकी डोर से रगड़ा देकर दूसरे के चंग को काट दें।

तुक्कल ने दरअसल क़ंदील या रौशन पुतला उड़ाने का ख़याल भुला दिया और लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि हवा में कोई ऐसी चीज़ उड़ायी जाये जो ज़्यादा क़ाबू मे हो इधर-उधर आसमान पर दौड़े और नाचे। तुक्कल का शौक़ मुसलमान अमीरों और प्रतिष्ठित हिंदुओं में बढ़ा। उस पर धन खर्च होने लगा, ऊंचे दर्जे के तुक्कल का नाम पतंग मशहूर हुआ जिसका ठुड्डा मुर्शिदाबादी बांस का होता जिसमें अस्सी रुपये लागत आती। बीस रुपये की झलझल होती, दो रुपये का काग़ज लगता और पांच रुपये बनवाई पड़ती। ग़रज़ एक सौ सात रुपये में एक पतंग तैयार होता।

बहरहाल दिल्ली में तुक्कल और पतंग ही तक तरक़्क़ी हुई थी कि इसके क़द्रदान दिल्ली के दरबार से लखनऊ चले आये और उसके साथ ही ज़माने के शौक़ीन भी यहां चले आये। अब पतग उड़ाने से पतंग लड़ाने का शौक़ निकला। ऐसी ज़ोरदार तुक्कलें बनायी जाने लगी जिनको मामूली ताक़त का आदमी मुश्किल से संभाल सकता। आठ-आठ बल की मज़बूत डोर चर्खियों पर चढ़ायी जाती और उन्ही चर्खियों के ज़रिये से तुक्कलों का ज़ोर संभाला जाता। लड़ाई की यह शान थी कि दो तुक्कलों की डोर एक-दूसरी में डाल कर दोनों तरफ से ढील दी जाती। दोनों तुक्कलें चक्कर खाती हुई ऊपर चढ़तीं और बुलंद होती चली जातीं। और दोनों तरफ से चर्खियों पर चर्खियां खाली रहतीं। लखनऊ के शौक़ का इससे अंदाज़ा हो सकता है कि नवाब आसफ़उद्दौला की तुक्कल मे पांच रुपये की मुक़ैश की झलझल होती जो लूट-

कर लाता उसे पांच रुपये देकर तुक्कल ले ली जाती और न लाता तो भी जहां चाहता पांच रुपये को बेच लेता।

पतंगबाज़ी के पुराने नामी उस्ताद लखनऊ में मीर अम्दू, ख्वाजा मिट्ठन और शेख इमदाद थे। एक जुलाहे ने भी उन दिनों इस कला में कमाल हासिल किया था जिसकी वजह से अमीरों की संगति में इसकी बड़ी क़द्र होती।

अमजद अली शाह के ज़माने में यकबयक गुड्डी ईजाद हुई जिसकी आकृति बादाम की-सी होती। वह तुक्कल की बनिस्बत आसानी से बनती। तुक्कल में दो कांपें और एक ठुड्डा होता था। गुड्डी में सिर्फ़ एक ही कांप और एक ही ठुड्डा रह गया। वाजिद अली शाह के ज़माने में डेढ़ गुना कन-कौवा बन गया जिसका साइज़ मौजूदा कनकौवे का था। मगर नीचे तुक्कल की यादगार में कागज़ का छोटा-सा फुदंना होता। अब नवाब मुहम्मद हुसैन खां सालारजंगी, आग़ा अबू तराब खां और दो-एक शौकीन रईसों ने फुंदने की जगह नीचे पत्ता लगाकर वह कनकौवा बना दिया जो फ़िलहाल प्रचलन में है और जिसमें अभी तक और किसी तरक्की की गुंजाइश नज़र नहीं आती। फ़िलहाल सारे हिंदुस्तान में पत्तेदार कनकौवा या फुंदनेदार कनकौवा, जो डेढ़ कन्ना कहलाता है, उड़ता है मगर उसकी ईजाद लखनऊ में ही हुई है। यहीं से सब जगह गया और लोकप्रिय हुआ।

कनकौवों के लड़ाने में भी पहले तुक्कल की तरह ढील का रिवाज था। बड़े-बड़े कनकौवे बनते और सेरों डोर पीते चले जाते। शाही शासन के अंत और अंग्रेज़ी शासन के आरंभ में मशहूर उस्ताद विलायत अली थे जो विलायती कहलाते थे। इलाहीबख्श टुंडे जो मटिया बुर्ज में जाकर मशहूर हुए और लखनऊ के सैकड़ों माहिर उस्ताद थे जिनके नाम मुझे इस वक्त याद नहीं आते मगर सच यह है कि लंबडोरे पेच के लड़ाने के बादशाह थे।

अंग्रेज़ी शासन के आरंभ में खेंच लड़ाने का रिवाज हुआ। इसकी शुरुआत तो उन लड़कों से हुई जिनके पास थोड़ी-सी डोर होती और दूसरे के कनकौवे में पेंच डालकर अपनी छोटी डोर से उसे खेंच जाते और काट देते। पुराने उस्ताद उन दिनों उन लोगों को नफ़रत की निगाह से देखते और अपने कनकौवों को उनसे अलग रखते। मगर आखिरकार खेंच ही कनकौवेबाज़ी की सबसे ऊंची कला मानी जाने लगी जिसमें बड़े-बड़े उस्ताद पैदा हुए और आज

लखनऊ में बीसियों उस्ताद पड़े हुए हैं जो इसी शौक़ में लाखों रुपये उड़ाकर उस्ताद बने हैं और घर बिगाड़कर इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त की है कि कनकौवे के मैदानों में बड़े शौक़ से बुलाये जाते हैं और बड़े आदर-सम्मान से उन्हें आंखों पर बिठाया जाता है।

## [ 19 ]

अब हम यह बताना चाहते हैं कि संगीत का और उसी सिलसिले में उन लोगों का जो इस कला से संबद्ध हैं लखनऊ में क्या स्थान रहा।

गाना उन चीज़ों में से है जिनकी मनुष्य की प्रकृति ने सबसे पहले खोज की। जिन शब्दों को व्यक्त करने में, जोश ज़ाहिर करने को जी चाहा लोग गाने लगे और जिन क्रिया-कलाप और हावभाव में भावनाओं ने उभारा, नाचना शुरू कर दिया। चूंकि सबसे अधिक उत्साह और एकाग्रता आराधना में होती है और सांसारिक मामलों में विवशता का सबसे अधिक असह्य उत्साह प्रेम-प्रणय की अभिव्यक्ति में पाया जाता है इसलिए गाने का प्रारंभ भी आदिकाल में आराधना और प्रेम के ही संदर्भ में हुआ। हिंदुस्तान में तो गाने का प्रारंभ निश्चित रूप से आराधना से ही हुआ इसलिए कि यहां के पहले गायक ब्राह्मण थे जो प्रारंभ में पूजा-पाठ करते और कराते समय अपने आराध्य की स्तुति में भजन गाया करते। कन्हैयाजी के जन्म ने उनके प्रेम को पूजा में परिणत करके प्रेम-संगीत को जन्म दिया।

मुसलमान अपने साथ संगीत लाये थे। उनका संगीत सबसे पहले इब्ने मुसह्हज ने बनाया था। उसके बाद जब इराक़ में अब्बासी दरबार क़ायम हुआ तो अरबी और फ़ारसी संगीत से मिलकर एक नया और अपने में पूर्ण संगीत का आविष्कार हुआ जो सारे संसार में फैल गया और वही अंत में ईरानी संगीत था। मुसलमान इसी कला को हिंदुस्तान में लाये और जो गवैये उनके साथ यहां आये थे उन्हीं की यादगार आजकल क़व्वाल हैं। उनके वाद्य सारंगी, सरोद, चंग, शहनाई, बरबत और रबाब हैं।

हिंदुस्तान में हर चीज़ पर मुसलमानों ने अपना असर डाला। तमाम विद्याएं और कलाएं तथा संस्कृति की सभी बातों को बदल दिया मगर यहां

संगीत पर उनका बहुत कम प्रभाव पड़ा। इसका कारण यह माना जाता है कि खुद यहां का संगीत इतना नियमबद्ध और उच्च कोटि का था कि अपने स्थायित्व के कारण बाहर का प्रभाव ग्रहण कर ही न सका। लेकिन इसका वास्तविक कारण यह है कि किसी भी देश या भाषा के संगीत की ओर मनुष्य का ध्यान उस समय जाता है जब उस देश का निवासी बन जाये और वहां की भाषा और संस्कृति का रंग उस पर चढ़ जाये। लिहाज़ा यहां आने के बाद हमलावर मुसलमान जब तक अरबी या ईरानी रहे यहां के संगीत की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया और जब उन्होंने ध्यान दिया तो उस समय भारतीयता उनके अंदर समा चुकी थी। वे अपने राष्ट्रीय रागों को भूल चुके थे और यहां के गीतों पर मुग्ध थे। उस समय वे इस योग्य ही न रहे थे कि यहां के संगीत में किसी प्रकार का परिवर्तन करते या उसकी कुछ आलोचना करते।

फिर भी ईरानी क़व्वालों के गीतों ने हिंदुस्तान के संगीत पर थोड़ा बहुत असर डाल ही दिया। चुनांचे उनके अनेक राग भारतीय संगीत में शामिल हो गये। जंगूला (जंगला), जीफ़, शाहाना, दरबारी, ज़िला (खमाच) वग़ैरा के बारे में कहा जाता है कि ईरानी राग हैं जो यहां के संगीत में आकर मिल गये हैं।

अमीर ख़ुसरो ने दोनों संगीतों को सीखा और दोनों को मिलाने की बहुत कुछ कोशिश की। कहते है कि सितार को उन्हीं ने ईजाद किया और इसमें तो शक ही नहीं कि बहुत-सी धुनें उनकी बनायी हुई हैं लेकिन इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है कि अमीर खुसरो ने यहां के संगीत में कौन-कौन खास चीज़ें बढ़ायीं।

मालूम होता है कि मुसलमानों में बादशाहों से पहले शेख़ों और सूफियों ने संगीत की ओर ध्यान दिया और इराक और ईरान के पुराने भक्तों में गीत-नृत्य की जो गोष्ठियां भक्तिभाव की-सी पवित्रता के साथ होती थीं, वही हिंदुस्तान में भी होने लगीं और जो गवैये इससे पहले मंदिरों में भजन गाया करते थे, मुसलमान भक्तों और सूफ़ियों की संगति में बैठकर मारिफ़त की ग़ज़लें गाने लगे।

बादशाहों के दरबार में भी यहां के गवैये और गाने-नाचने वाली वेश्याएं मौजूद रहा करतीं मगर उनका बड़ा अफ़सर कोई ईरानी गायक हुआ करता

जो उनके संगीत पर अपना कुछ-न-कुछ असर जरूर डालता। मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में दरबार का सबसे बड़ा गवैया अमीर शम्सउद्दीन तब्रेजी था और संगीत-मंडली के सभी स्त्री-पुरुष उसके अधीन थे। उन्हीं दिनों देवगढ़ यानी दौलताबाद के पास कलाकारों की एक पूरी बस्ती आबाद थी जो तरबाबाद कहलाती थी। उसके चौपड़ के बाज़ार के बीचों-बीच एक बुर्ज था जिसमें रोज़ तीसरे पहर के समय संगीत-मंडली का चौधरी आकर बैठता और उसके सामने तमाम गवैयों और रंडियों के समूह बारी-बारी आकर गाते। उसमें से ज्यादातर मुसलमान थे और रोज़े-नमाज़ के पाबंद। उसी बस्ती में जगह-जगह मस्जिदें थीं जिनमें रमज़ान के मुबारक महीने में तरावीह[1] पढ़ी जाती। बड़े-बड़े राजा यहां आकर गाना सुनते। कई मुसलमान बादशाहों ने भी यहां आकर गाना सुना था। संगीत-मंडली के नायक और चौधरी चूंकि आमतौर पर मुसलमान थे इसलिए जाहिर है कि अरबी और ईरानी और हिंदुस्तानी संगीत किस हद तक मिल-जुल गये होंगे।

हिंदू संगीत के केंद्र उत्तर भारत में मथुरा, अयोध्या और बनारस थे जहां धार्मिक तत्व के प्रबल होने के कारण संगीत की कला सदा परवान चढ़ती रही। जौनपुर के शर्क़ी सुल्तानों में से सुल्तान हुसैन शर्क़ी को संगीत से बहुत प्रेम था। वह खुद एक बड़ा गवैया माना जाता था और चूंकि अयोध्या और बनारस दोनों उसी के राज्य में थे इसलिए निश्चिय ही उसने हिंदुस्तान की इस कला को बड़ा फ़ायदा पहुंचाया होगा।

अकबर ने इस कला को इतना प्रोत्साहन दिया कि उसके समय का सबसे बड़ा नामवर गवैया तानसेन उसके नौ रत्नों में शामिल हुआ। एक मुसलमान शहंशाह की यह दिलचस्पी और शौक़ देखकर वह खुद और उसका बेटा बिलास खास मुसलमान हो गया। उस खानदान में दरबार के प्रोत्साहन के कारण भारतीय संगीत का रोज़ बरोज़ विकास होता गया। बाद के दरबारों में भी इसी नस्ल के गवैयों का मान होता रहा। चुनांचे आजकल इस खान-दान के गवैये अपने आपको मुग़ल दरबार ही में शामिल समझते हैं। आम-तौर पर यह समझा जाता है कि इसी नस्ल के ज़रिये से हिंदुओं की यह

[1] रमज़ान के महीने में रात की नमाज़ के बाद पढ़ी जाने वाली नमाज़ जिसमें कुरान पढ़ा जाता है।

कला मुसलमानों में आयी। मगर पीछे हम जो वर्णन कर आये हैं उससे साफ़ ज़ाहिर है कि इस ख़ानदान से बहुत पहले मुसलमानों ने इस भारतीय कला को सीख लिया था। चुनांचे प्राय: हिंदुस्तानी संगीत के सभी प्रवीण गायक मुसलमान हैं।

दिल्ली में इस कला पर सबसे पहली किताब 'शम्स-उल असवात' शाहजहां के शासन काल में लिखी गयी थी जो अब कहीं नहीं मिलती। फिर अकबर द्वितीय के समय में मिर्ज़ा ख़ान नामक एक बुज़ुर्ग ने पंडितों और संस्कृत के विद्वानों की सहायता से 'तुहफ़ा-तुल-हिंद' नामक पुस्तक लिखी जिसकी दो-एक प्रतियां ही कुछ लोगों के पास रह गयीं हैं। इसमें बहुत-सी भारतीय कलाओं का ब्यौरा एकत्र किया है जहां ज्योतिष, सरोधा, सामुद्रिक, कोक शास्त्र, नायिका भेद, इंद्रजाल, आदि विभिन्न विद्याओं पर बहस की गयी है वहां भारतीय संगीत के बारे में जानकारी दी है।

दिल्ली में बस इतनी ही प्रगति हो पायी थी कि यह रोचक कला लखनऊ के दरबार में पहुंच गयी और नवाब शुजाउद्दौला की गुणग्राहिता और उदारता के कारण सारे हिंदुस्तान के संगीतकार आकर अवध में जमा हो गये। यहां अयोध्या और बनारस के संगीत के पुराने स्कूल क़ायम ही थे। जौनपुर के शर्क़ी बादशाहों की क़द्रदानी की कुछ-न-कुछ यादगारें भी बाकी थीं उनमें जब दिल्ली के माहिर गवैये और यासीन खां के अधिकृत स्कूल के संगीताचार्य भी आकर मिल गये तो ख़ास शान पैदा हो गयी और संगीत का दर असल एक नया दौर शुरू हो गया।

शुजाउद्दौला के संबंध में 'तारीख़-ए-फ़ैज़ाबाद' के लेखक का कहना है कि उन्हें नाच-गाने का बड़ा शौक़ था। हज़ारों गानेवाली रंडियां आमतौर से दिल्ली से और अन्य दूरस्थ प्रदेशों से यहां आकर जमा हो गयी थीं। आम रिवाज पड़ गया था कि प्रधान मंत्री के अलावा और तमाम अमीर और फ़ौजी सरदार भी किसी तरफ कूच करते तो नृत्यगान मंडलियां और रंडियों के डेरे उनके साथ-साथ जाते थे।

इसका नतीजा यह था कि नवाब आसफ़उद्दौला बहादुर के शासन-काल में फ़ारसी भाषा में 'उसूल-उल-नग़मात-उल-आसफ़िया' नामक पुस्तक लिखी गयी। भारत की संगीत-कला पर इससे बेहतर कोई किताब आज तक नहीं लिखी यी। अगर्चे इस किताब की भी बहुत ही कम प्रतियां मिलती हैं, मेरे पास

मौजूद है और मैंने उसे पढ़ा है । इसके लेखक की दृष्टि प्रौढ़ है और वह एक विद्वान हैं, यह भी मालूम होता है कि उन्हें अरबी, फ़ारसी और संस्कृत तीनों भाषाओं पर पूरा अधिकार है । उन्होंने इस बात की बड़ी कामयाब कोशिश की है कि भारत की संगीत कला को बड़े स्पष्ट ढंग से हरेक व्यक्ति के सामने प्रस्तुत कर दिया जाये असद उल्लाह खां 'कौकब', जिनका कुछ ही दिन हुए देहांत हुआ है, संगीत के धुरंधर पंडित थे और कलकत्ता में भारतीय संगीत के प्रोफ़ेसर मशहूर थे । वे इस पुस्तिका के बारे में मुझे एक खत में लिखते हैं 'संगीत की यह फ़ारसी पुस्तक मेरे पास मौजूद है । यह पुस्तिका उन अधिकृत ग्रंथों को, जो शास्त्र का आदिम स्रोत हैं, आधार बनाकर और बड़े शोध के साथ लिखी गयी है ।' (अफ़सोस यह लाजवाब किताब आज तक नहीं छपी और यह इतनी दुलर्भ है कि अगर यह न छपी तो नष्ट हो जायेगी । अगर कोई रईस इस ओर ध्यान दें तो देश और अपने प्राचीन इतिहास पर बड़ा उपकार होगा ।)

इस पुस्तिका से साफ़ जाहिर है कि आसफ़उद्दौला के शासन-काल में संगीत का कितना विकास हो चुका था । इसका लेखक एक बड़ा अनुसंधाता मालूम होता है जिसने इब्नेसीना की चिकित्सा-विषयक पुस्तक से लेकर और फ़ारसी संगीत-नियम भी स्पष्ट रूप से बता दिये हैं । 'दिलगुदाज़' के इस लेख को पूरा करने के लिए हमने स्व० प्रोफ़ेसर 'कौकब' से मदद मांगी थी, उन्होंने जवाब में हमें जो कुछ लिखा उसे हम हूबहू प्रकाशित किये देते हैं । उससे अच्छी तरह मालूम हो जायेगा कि लखनऊ में आने के बाद संगीत-कला की क्या स्थिति रही । अफ़सोस अब वह इस दुनियां में नहीं हैं वरना हमें उनसे बहुत ज़्यादा मदद मिलती, विशेषकर इसलिए कि अपनी नयी किताब जो संगीत-कला से संबंधित है वह हमारे यहां छपवाना चाहते थे । आसफ़उद्दौला के समय में हुई संगीत की प्रगति को मानते हुए वह लिखते है :

'नवाब सआदत अली खां के ज़माने में संगीत पर ओस पड़ गयी । ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के ज़माने में इस कला का एक बहुत बड़ा आचार्य लखनऊ में मौजूद था जिसका नाम हैदरी था । यह साहब चूंकि खोये-खोये रहते थे इसलिए इनका नाम 'सिड़े हैदरी ख़ां' मशहूर हो गया था और वह गोलागंज में रहते थे । ग़ाज़ीउद्दीन हैदर को उनका गाना सुनने का बड़ा शौक़ था मगर कभी इसका मौक़ा नहीं मिला था । एक रोज़ तीसरे पहर को ग़ाज़ीउद्दीन हैदर

हवादार पर सवार दरिया किनारे तफरीह को निकले। रोमी दरवाज़े के नीचे लोगों ने देखा कि सिड़े हैदरी खां चले जा रहे हैं। बादशाह से अर्ज़ की कि "कब्‌ला-ए-आलम ! हैदरी खां यही हैं।" बादशाह तो उत्सुक थे ही, हुक्म दिया, "बुलाओ।" लोग पकड़ लाये और सामने खड़ा कर दिया। बादशाह ने कहा, "अरे मियां हैदरी खां, कभी हमें अपना गाना नहीं सुनाते ?" बोले, "जी हां, क्यों न सुनाऊंगा। मगर मुझे आपका मकान नहीं मालूम है।" बादशाह यह सुनकर हंस पड़े और कहा, "अच्छा हमारे साथ चलो, हम खुद तुम्हें अपने मकान पर ले चलेंगे।" "बहुत खूब !" कहकर बेतकल्लुफ साथ हो लिये। छत्तर मंज़िल के क़रीब पहुंचे थे कि हैदरी खां हत्थे पर से उखड़ गये और बोले, "मैं चलता तो हूं मगर पूरियां और बालाई खिलवाइयेगा, तो गाऊंगा।" बादशाह ने वायदा किया और महल में बैठकर गाना सुनने लगे। थोड़ी ही देर सुनकर बहुत आनंदित हुए। उनको हाल आने लगा और वे बेसुध हो गये। यह हालत देखकर हैदरी खां खामोश हो गये। बादशाह ने फिर गाने को कहा तो बोले, "हूज़ूर, यह तंबाकू जो आपके पेचवान में भरा हुआ है बहुत ही अच्छा मालूम होता है। आप किसकी दुकान से मंगवाते हैं ?" ग़ाज़ीउद्दीन हैदर खुद भी सिड़ी मशहूर थे। इस सवाल पर नाराज़ हुए तो मुसाहिबों ने अर्ज़ की, "क़िब्ला-ए-आलम, यह सिड़ी तो है ही। अभी तक यही नहीं समझा है कि किससे बातें कर रहा है।"

'अब लोग बादशाह के कहने पर हैदरी खां को दूसरे कमरे में ले गये। पूरियां बालाई खिलवायीं। हुक्का पिलवाया। आपने पाव भर पूरियां, आधपाव बालाई और एक पैसे की शकर मंगवाकर अपनी बीबी को भिजवायीं (जो उनका हर जगह का नियम था)। जब तक उन कामों में रहे बादशाह ने शराब के जाम पिये और जब नशे का ज़ोर हुआ तो फिर हैदरी खां की याद हुई। फ़ौरन बुलवाकर गाने का हुक्म दिया। मगर जैसे ही उन्होंने अपना गाना शुरू किया, रोककर कहा, "हैदरी खां सुनते हो ? और अगर मुझे खाली खुश किया और रुलाया नहीं तो याद रखो कि गोमती में डुबवा दूंगा।" अब तो हैदरी खां की अक्ल चक्कर में आयी समझे कि यह बादशाह हैं। कहा, "हुज़ूर अल्लाह मालिक है।" और जी तोड़कर गाने लगे। खुदा की क़ुदरत, या यह कहिये कि हैदरी खां की ज़िदगी थी कि थोड़ी ही देर में बादशाह पर असर हुआ और वे रोने लगे और खुश होकर कहा, "हैदरी खां, मांग क्या

मांगता है ?" अर्ज़ किया, "जो मांगूंगा दीजियेगा ?" बादशाह ने वायदा किया और हैदरी खां ने तीन बार हामी भरवाकर कहा, "हुजूर, यह मांगता हूं कि मुझे फिर कभी न बुलवाइयेगा, और न गाना सुनियेगा।" बादशाह ने ताज्जुब से पूछा, "क्यों?" अर्ज़ किया, "आपका क्या है ? मुझे मरवा डालियेगा। फिर मुझसा हैदरी खां न पैदा होगा, और आप मर जायेंगे तो फ़ौरन दूसरा बादशाह हो जायेगा।" इस जवाब पर ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने नाराज़ होकर मुंह फेर लिया। यह मौक़ा पाते ही हैदरी खां अपनी जान लेकर भागे और अपने घर आये।

'ग़रज ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के ज़माने में एक ज़बरदस्त संगीताचार्य लखनऊ में था। नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में यों तो हज़ारों गानेवाले थे मगर उस पाये का गवैया कोई न था। मुहम्मद अली बादशाह और अमजद अली शाह का ज़माना बुज़ुर्गी का ज़माना था इसलिए कि मुहम्मद अली शाह तो बुढ़ापे के कारण चेतनाशून्य-से हो गये थे और अमजद अली शाह बिना अपने पिता से पूछे कोई काम नहीं करते थे। लिहाज़ा उनके ज़माने में शहर के बाज़ शौक़ीन रईस अगर नृत्य-संगीत के रसिया थे भी तो छिप-छिपाकर गाना सुनते। इसलिए अब इस कला को जो प्रोत्साहन मिला वह वाजिद अली शाह की युवावस्था के समय मिला जबकि लखनऊ की विलासिता अपनी चरम सीमा पर थी और बुझनेवाला चिराग़ आखिरी बार भड़ककर जला था।'

अगर्चे हम नसीरउद्दीन हैदर और उसके परवर्ती शासकों के समय के संगीत के बारे में कुछ और भी लिखना चाहते हैं, मगर उससे पहले मुनासिब मालूम होता है कि असदउल्लाह खां 'कौकब' के खत का बाक़ी हिस्सा भी पाठकों को सुना दें जिससे लखनऊ के संगीत पर एक अधिकारी संगीतज्ञ की राय मालूम हो जायेगी।

वे लिखते हैं, 'वाजिद अली शाह के शासन-काल में लखनऊ में संगीताचार्यो का बहुत बड़ा गिरोह जमा हो गया था, लेकिन दरबार से रसूख रखनेवाले और ऐसे गवैये जिन्हें खिताब मिले हुए थे संगीत-कला में पारंगत नहीं थे। सिर्फ एक कुतबउद्दौला रामपुर के रहनेवाले अलबत्ता सितार खूब बजाते थे और अपनी कला में प्रवीण थे। अनीसउद्दौला, मुसाहबउद्दौला और रज़ीउद्दौला अगर्चे गवैये थे, मगर ऐसे बाकमाल न थे, हां शाही कृपापात्र होने से उनका नाम हो गया था। जो लोग संगीत के आचार्य थे वे थे—प्यारे खां, जाफ़र खां, हैदर खां, और बासित खां। ये सब लोग मियां तानसेन के खान-

दान की यादगार थे। इस खानदान के दो नामी शख़्स आजकल भी मौजूद हैं, एक वज़ीर खां जो रियासत रामपुर में हैं, दूसरे मुहम्मद अली खां जो रियासत परसंडा में नौकर हैं। मुहम्मद अली खां के वालिद बासित खां थे जिनका नाम ऊपर आ चुका है।'

इस मौक़े पर स्व० कौकब खां फ़रमाते हैं कि, "मेरे वालिद नेमतउल्लाह खां ने बासित खां ही से संगीत की शिक्षा ली थी। नेमतउल्लाह खां लगभग ग्यारह साल तक मटिया बुर्ज में वाजिद अली शाह के साथ रहे। फिर उसके बाद तीस बरस तक नेपाल के दरबार में रहे।"

इसके बाद लिखते हैं, 'वाजिद अली शाह के जमाने में संगीत को बड़ा प्रश्रय मिला। लेकिन संगीतशास्त्र अपने प्रतिष्ठित स्थान से गिरकर छोटी चीज़ों पर आ गया था। लखनऊ में कदरपिया ने ठुमरियां लिख-लिखकर जनता में फैलाई और संगीत की धारा को अवरुद्ध कर दिया। चुनांचे अधिकतर संगीत-प्रेमी उच्च कोटि की राग-रागिनियों को छोड़कर कदरपिया की ठुमरियां पसंद करने लगे। संगीत के स्तर में अवनति मुहम्मद शाह रंगीले के समय से ही शुरू हो गयी थी। अब मियां सारंग ने 'खयाल' की रचना की जिससे संगीत-कला का स्तर घटिया हो गया। मगर इससे उतना नुक़्सान नहीं हुआ जितना कदरपिया की ठुमरियों से हुआ। अब तो क्या जन-साधारण और क्या सामंत सभी की यह हालत थी कि अच्छा संगीत अगर सुनते भी थे तो दिलचस्पी और शौक़ से नहीं, बल्कि उसे नापसंद करते थे।

'वाजिद अली शाह के मुसाहिब गवैयों में से अनीसउद्दौला और मुसाहिब-उद्दौला ने प्यारे खां से संगीत की शिक्षा ली थी जो बहुत बड़ा संगीताचार्य था और जो कुछ उसने इन दोनों शिष्यों को बताया, वह निश्चय ही बहुत उच्च कोटि का था। लेकिन इसका क्या इलाज कि दरबार में ऐसे संगीत को कोई पूछता ही न था। क़ैसरबाग में जो 'रहस' होता था और जिसमें वाजिद अली शाह खुद कन्हैया बनते थे, बहुत ही निम्न कोटि का संगीत होता था। लेकिन इसमें शक़ नहीं कि लगाव न होने पर भी कलाकारों का शाही दरबार में बड़ा आदर सम्मान होता था जिसकी असली वजह यह थी कि वाजिद अली शाह ने भी बासित खां से संगीत की शिक्षा ली थी और वे उसके पूरे मर्मज्ञ थे। अपनी प्रखर बुद्धि के कारण बादशाह ने अपने ही ढंग से नयी रागिनियां बनायीं जिनके नाम अपनी रुचि के अनुकूल जोगी, कन्नड़ (श्याम) जूही, शाहपसंद वग़ैरा

रखे। वाजिद अली शाह इस कला के आचार्य माने जाते थे। लेकिन संगीत-मर्मज्ञ होने के साथ ही वे इस दोष से न बच सके कि उनकी निम्न कोटि की रुचि ने लखनऊ में संगीत को अपने स्तर से गिराकर जनसाधारण के स्तर पर लाकर रख दिया। समय की यह रीति देखकर सुरुचि रखनेवाले गवैयों ने भी राग-रागिनियों की क्लिष्टता को त्यागकर छोटे-छोटे, सादे, दिलकश और आम लोगों के लिए सुगम विषयों पर संगीत रचना आरंभ कर दी। जनता में ग़ज़ल और ठमरी का प्रचलन हो गया और ध्रुपद, होरी आदि जो बहुत कठिन राग हैं उनकी ओर से उपेक्षा की गयी। खम्माच, झिझौटी, भैरवी, सुनिद्रा, तिलक, कामोद, पीलू वग़ैरा छोटी-छोटी मज़ेदार रागिनियां संगीतप्रेमियों के लिए चुनी गयीं और यही चीज़ें बादशाह को भी पसंद थीं क्योंकि वे उनके स्वभाव के अनुकूल थीं। ये रागिनियां लखनऊ के संगीतप्रेमियों को इतनी पसंद थीं कि आज सारे हिंदुस्तान में लखनऊ के सफेद खरबूज़ों की तरह लखनऊ की भैरवी भी मशहूर हो गयी। और सच यह है कि भैरवी लखनऊ की ही विशेषता है। ऐसी भैरवी हिंदुस्तान के किसी हिस्से में नहीं गायी जाती। सोज़ख्वानों[1] ने भी इन्हीं आमपसंद और आम लोगों की समझ में आनेवाली रागिनियों को ज्यादा रिवाज दिया जो धर्म के माध्यम से घर में बैठनेवाली औरतों तक के गले में उतर गयीं। यहां तक कि उनके मर्सिये सुनकर बड़े-बड़े धुरंधर गायक भी चकित रह जाते हैं। सोज़ख्वानों में से ज़्यादातर प्यारे खां और हैदर खां की शागिर्द थीं।

'लय संगीत का एक महत्वपूर्ण अंग है जिसे दूसरे शब्दों में टाइम या वक़्त कहना ज्यादा मुनासिब है। यह बोध वाजिद अली शाह में भी बहुत ज़्यादा था जिसे प्रकृति की देन कहना चाहिए क्योंकि वैसे तो लय का बोध थोड़ा-बहुत हर व्यक्ति में होता है। कवियों ने जो छंद निश्चित किये हैं उनका संबंध भी लय से ही है। छंदशास्त्र भी दरअसल लय पर ही आधारित है। यह बात स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति में प्राकृतिक रूप से लय का बोध बहुत अधिक होगा उसके हर अंग-प्रत्यंग से ऐसी अनायास क्रियाएं प्रकट होंगी और लय पर हर अंग फड़कने लगेगा। आम जनता की दृष्टि में यह क्रिया निरर्थक मालूम होगी, लेकिन जो वह क्रिया कर रहा है वह मजबूर है। वह जानबूझ कर वह क्रिया नहीं करता बल्कि उसके अवयव अपने आप लय पर थिरकने लगते हैं। वाजिद

[1]मुहर्रम में 'सोज़' (एक प्रकार की कविता) पढ़ने वाले।

श्रली शाह की इसी क्रिया को लोगों ने कह दिया था कि वे नाचते थे, हालांकि वे नाचते नहीं थे बल्कि लय के साथ तल्लीन होकर उनके श्रंगों से ऐसी क्रियाएं होने लगती थीं। जो लोग संगीत के नियमों से परिचित नहीं हैं वे कहने लगे बादशाह नाचते हैं, दरश्रसल वाजिद श्रली शाह कभी श्रौर किसी ज़माने में नहीं नाचते। उनका नाचना बस यही था श्रौर उसकी वजह यह थी कि लयदारी में कोई ऊंचे से ऊंचा गवैया भी बादशाह का मुक़ाबिला नहीं कर सकता था। मैंने उनके साथ बैठनेवाले विश्वस्त गवैयों से सुना है कि बादशाह के पांव का श्रंगूठा सोते में भी लय पर ही चलता था।

'नृत्त जिसे भाव बनाना कहते हैं, यह भी संगीत का ही एक महत्वपूर्ण श्रंग है। नृत्त का उद्देश्य यह है कि श्रपना मंतव्य हाव-भाव श्रौर संकेतों से व्यक्त किया जाये जिसे श्रंग्रेज़ी में 'मोशन' कहते हैं। मोशन बड़े-बड़े धुरंधर वक्ताश्रों श्रौर व्याख्यानदाताश्रों में पाया जाता है लेकिन उनकी कोई निंदा नहीं करता, लेकिन बेचारे वाजिद श्रली शाह महज़ श्रपनी लयदारी के कारण बदनाम किये जाते हैं।'

यह जो लखनऊ के संगीत श्रौर वाजिद श्रली शाह के बारे में कौकब मरहूम से हमें मालूम हुश्रा उससे साफ पता चल सकता है कि लखनऊ ने चाहे उच्च कोटि के संगीत को रिवाज न दिया हो, मगर उसके सुधारने श्रौर उसे श्रामपसंद या लोकप्रिय बनाने का यह शहर बड़ा ज़बरदस्त स्कूल क़रार पा गया था।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ही के ज़माने में यहां बड़े-बड़े क़व्वाल मशहूर थे। छज्जू खां श्रौर गुलाम रसूल खां उस्ताद माने जाते थे। दश्वरी इतना ज़बरदस्त कलाकार था कि पटे का ईजादकर्ता वही माना गया है। बख्शू श्रौर सलारी उन दिनों तबला बजाने के उस्ताद माने जाते थे श्रौर उनके सामने किसी को तबला छूने की जुर्रत न होती थी।

उस श्राखिरी ज़माने में सादिक़ श्रली खां सारे हिंदुस्तान में बड़े उस्ताद माने जाते थे। छोटे श्रौर बड़े मुन्ने खां के गाने में ऐसा मज़ा था कि बावजूद इसके कि वह खुद श्रपनी कला के पंडित थे ऐसे लोगों को भी श्रपने गानों पर मुग्ध कर लेते थे जो इस कला से श्रनभिज्ञ थे।

मटिया बुर्ज में जो साज़िंदे श्रौर गवैये वाजिद श्रली शाह के दरबार में नौकर थे उन सबको मैंने खुद सुना था। एहमद खां, ताज खां श्रौर गुलाम

हुसैन खां उस समय के धुरंधर संगीतकार माने जाते थे। दुल्ली खां जिसने सारे कलकत्ता में अपनी धूम मचा रखी थी और अपने जादूभरे कंठ से हर छोटे-बड़े को मोहित कर लिया था, लखनऊ का ही था और लखनऊ की ही संगीतशाला में उसने संगीत सीखा था। मर्द गवैयों के अलावा लखनऊ में बाज़ रंडियों ने वह कमाल हासिल किया कि बड़े-बड़े गवैये उनके सामने कान पकड़ते थे। ज़ोहरा और मुश्तरी जो कवियत्री भी थीं, गाने में अपना जवाब न रखती थीं। चूने वाली हैदरी को वह नामवरी हासिल हुई कि उसके गले से 'सोज़' सुनने के लिए लोग मुहर्रम के इंतिज़ार में दिन गिना करते और मुहर्रम में बाहर के सैकड़ों-हज़ारों शौक़ीन लखनऊ आकर हैदरी के इमामबाड़े में घंटों उम्मीदवार बने बैठे रहते कि कब बी हैदरी अपना शोक-गीत शुरू करेंगी।

तबला बजाने में आखिरी दौर का उस्ताद मुहम्मद जी था जिसकी सारे हिंदुस्तान में ख्याति थी। लगभग तीस वर्ष गुजरे होंगे मुझे चौक में एक जंटलमैन मराठा मिला जो कोट-पतलून पहने था और किसी प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त था। मुझसे मिलकर उसने कहा, "मैं लखनऊ में सिर्फ इस शौक़ में आया हूं कि यहां के संगीतकारों का कमाल देखूं।" मैंने पूछा, "आप कौन हैं?" कहा, "मैं खानदानी गवैया हूं और मेरे बाप-दादा शिवाजी के दरबार में गवैये थे। अगर्चे अब अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने के बाद मैंने नौकरी करली है। मगर अपने पूर्वजों की कला को भी जानता हूं।" इत्तिफ़ाक से उस समय एक और साहब आ गये जो लखनऊ की मशहूर गानेवाली मुहम्मदी के यहां आते-जाते थे। बोले, "चलिये, आप मेरे साथ चलिये।" वह मराठे साहब मुझे भी अपने साथ खींच ले गये और हम सब मुहम्मदी के वहां पहुंचे। संयोग से वहां सादिक़ अली खां भी मौजूद थे और सबने अपना कमाल दिखाया। खुद वह मराठा भी गाया। उसके बाद हम सब चौधराइन के वहां गये जो घर यहां कलाकारों का सबसे बड़ा क्लब समझा जाता है। वहां दोनों मुन्ने खां बुलाये गये। उन्होंने गाकर अपना कमाल दिखाया। आखिर में उस मराठे ने कहा, "मुझे तो सिर्फ तमन्ना यहां लायी है कि मैं एक तराना गाऊं और मुहम्मद जी मेरे साथ तबला बजा दें।" फ़ौरन मुहम्मदजी बुलवाये गये और मराठे जंटलमैन के गाने और मुहम्मदजी के बजाने में कुल श्रोताओं को बड़ा आनंद आया, सब चकित रह गये और अंत में उस मराठे ने स्वीकार कर लिया कि, "मैं सब

जगह गया हूं मगर मुहम्मदजी से ज़्यादा माहिर तबला बजाने वाला आज तक नहीं देखा था।"

लखनऊ में संगीत का ऐसा उत्थान हो चुका था कि दूसरे शहरों के रईसों और धनिकों की अपेक्षा, यहां के धनिकों की रुचि स्वस्थ और अच्छी है, वे कला को भली प्रकार जानते हैं, धुनों, रागों और रागिनियों को पहचानते हैं और दो ही एक तानें सुनकर समझ जाते हैं कि यह गवैया किस पाये का है। मामूली गानेवाले की यहां की संगीत-सभाओं में कोई पूछ नहीं हो सकती। बाज़ारी लोग और आमतौर से लड़के जो सड़कों और चौराहों पर गाते फिरते हैं वे भी बहुत-सी चीज़ों को ऐसे सच्चे सुरों में अदा करते हैं कि मालूम होता है कि रागिनी और लय गले में उतरी हुई है। अक्सर शहरों में ज़्यादातर लोग ऐसे मिलेंगे जो शेरों को ठीक तरह नहीं पढ़ सकते। इसके विपरीत यहां आपको ऐसा जाहिल ढूंढ़े न मिलेगा जो शेर को वज़न में न पढ़ सकता हो। यह बात इसका प्रमाण है कि लयदारी यहां के बच्चे-बच्चे के रगो-रेशे में व्याप गयी है। कभी-कभी किसी बाज़ारी लड़के को भैरवी, सोहनी, बिहाग या किसी और धुन में ऐसी खूबी से गाते सुना गया है कि सुननेवाले मुग्ध हो गये और बड़े-बड़े गवैयों को उनसे ईर्ष्या होने लगी।

संगीत के सिलसिले में यह भी मुनासिब मालूम होता है कि हम साज़ों और अन्य वाद्यों का भी ज़िक्र कर दें।

संगीत में दो चीज़ें होती हैं—सुर और लय। इन दोनों चीज़ों में बिगड़ना गाने का अक्षम्य दोष है। लिहाजा इन दोनों की रक्षा के लिए दो ही साज़ों की ज़रूरत हुई, सुर पर रहने की मदद के लिए सारंगी और लय पर क़ायम रहने की ज़रूरत से तबला काम में लाये जाते हैं।

सुरों की सहायता के लिए हिंदुस्तान का पुराना साज़ बीन थी जिसमें लकड़ी की एक नली के दोनों सिरों पर दो तूंबियां लगायी जातीं और उस पर सातों सुरों के सात तार खींच दिये जाते जिनका गाना नली के अंदर से दोनों ओर दौड़कर दोनों तूंबियों में गूंजता। मुसलमान अपने साथ रबाब, चंग और सरोद लाये। रबाब शायद अरबी बाजा था जिसने अब्बासियों के शासन-काल में बहुत तरक़्क़ी की थी। चंग और सरोद ईरानी वाद्य थे। इनमें से चंग बहुत ही पुराना साज़ है जिसका सुराग़ सीरिया, बाबुल, मिस्र और रोम जैसी तमाम जातियों में लगता है। सरोद शुद्धतः फ़ारसी वाद्य था जिसे अब्बासीकाल के

गायकों ने अपनाया और उसे बहुत तरक़्क़ी दी। हिंदुस्तान में आने के बाद जब हिंदुओं और मुसलमानों के गीतों में मेलजोल हुआ तो पहले तंबूरा बना जो दरअसल बीन का ही लघु रूप और सिर्फ सुरों को बनाये रखने का काम देता था और केवल बजाने की ही चीज़ न था। चंद दिन बाद अमीर ख़ुसरो ने सितार की ईजाद की जो वास्तव में बीन और तंबूरा दोनों में एक आसान और आम लोगों को पसंद ईजाद थी। लेकिन बीन हो या तंबूरा या सितार, गले का पूरा साथ कोई न दे सकता था। इसे देखकर मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार के जबरदस्त और नामवर गायक मियां सारंग ने सारंगी की ईजाद की जो उन्हीं के नाम से मशहूर हुई। सारंगी ने बीन, तंबूरे और सितार सबको पीछे डाल दिया और नाच-गाने की मंडलियों में उनका ऐसा नाम हुआ कि इन पुराने साज़ों के बजाने वाले भी नष्ट हो गये। इन्हीं पुराने साज़ों में यहां एक क़ानून भी था जिसे मुसलमान निश्चित रूप से सीरिया और इराक़ से अपने साथ लाये थे। इसके बजानेवाले भी अब कहीं इक्के दुक्के ही नज़र आते हैं। ग़रज़ सारंगी ने गाने बजाने की महफ़िलों से इन सबको निकाल दिया और इन पुराने साज़ों की यह शान रह गयी कि ऊंचे-ऊंचे उस्ताद गवैयों में कभी-कभी कोई एक गायक नज़र आ जाता है जिसे बीन या सरोद, रबाब या क़ानून के बजाने में कमाल हासिल होता है। सितार नवयुवकों के मनोरंजन के लिए रह गया है जिसे वे बिना गायन के बजाते हैं और कभी कोई उसके साथ गाने भी लगता है।

अब रहा तबला। यह अगर्चे लय के लिए बहुत ही ज़रूरी चीज़ है, मगर इस क़िस्म की किसी चीज़ का पता दूसरे देशों की पुरानी जातियों में नहीं था। लड़ाई में तबला (दुंदभि) और चंग बजता, नौबत में नक्क़ारा बजाया जाता। मगर नाच-गाने के साथ सिवाये हिंदुस्तान के और कहीं इस प्रकार की कोई चीज़ प्राचीन काल में न थी। सिर्फ एक दफ़ थी जो अरबों में प्रचलित थी और गाने के साथ बजायी जाती थी। यहां भी गाने के साथ सबसे पहले दफ़ का रिवाज मालूम होता है जो बीन के साथ बजती और लय को बनाये रखने में मदद देती। उसके बाद पुराने ज़माने में ही मृदंग निकली जो शायद श्रीकृष्णजी के युग में मौजूद थी और उनकी बांसुरी के साथ मृदंग की गमक भी जमना के किनारे ब्रज के जंगल में सुनी जाती थी। मृदंग के बाद तरक़्क़ी यह हुई कि परवावज बनी जो उच्च कोटि के संगीत का भली प्रकार साथ दे सकती थी।

अब उसके बाद से आम लोगों में और घर की बैठनेवाली औरतों में ढोल का रिवाज हुआ जो मृदंग और परवावज से निकलकर आमपसंद की चीज़ हो गयी और संगीत की विशिष्ट मंडलियों के संगीतकारों के लिए तबला ईजाद हुआ जिसमें परवावज के दोनों रुख दो अलग-अलग साज़ों में बंट कर दहना और बायां के नाम से मशहूर हुए। तबला निश्चय ही मुसलमानों के आने के बाद की ईजाद है, लेकिन हमें यह नहीं मालूम कि लयदारी के इन साज़ों में ऊपर दी गयी तरक्की कब और किसके हाथ से हुई।

## [ 21 ]

संगीत के साथ नृत्य ने भी लखनऊ में एक प्रमुख कला के रूप में बड़ी प्रगति की। नाचने का रिवाज हर जाति में था और प्राचीन से प्राचीन काल में था। मिस्र के फ़िरऔनों के सामने बांकी रसीली औरतें खड़ी होकर साज के साथ नाचा करती थीं। हज़रत मसीह के युग में बप्तिस्मा देनेवाले यूहना का सिर हिरोडिया ने नाचकर ही कटवाया था। मगर हिंदुस्तान में बहुत साफ तौर पर मालूम होता है कि गाने की तरह नाचने का भी भक्ति के लिए प्रयोग होता था और यहां नृत्य-कला का विकास हमेशा धर्म के ही माध्यम से हुआ। चुनांचे इस कला के जानने और करनेवाले खास ब्राह्मण थे और उनका केंद्र या तो अयोध्या और बनारस के कत्थक थे या मथुरा और ब्रज के रहसधारी। यह अजीब बात है कि भारत के सभी प्राचीन मंदिरों में अगर्चे सैकड़ों-हज़ारों स्त्रियां देवी-देवताओं की मूर्तियों के सामने रोज मुजरा किया करती थीं और जहां बड़े मंदिर थे वहां प्राचीन काल में नर्तकियों का एक बड़ा भारी गिरोह भी मौजूद रहा करता था। लेकिन नृत्य-कला के गुरु हमेशा पुरुषों में हुए और वे ही युवा स्त्रियों को यह कला सिखाया करते थे।

नाचना दरअसल शारीरिक क्रियाओं के नियमन का नाम है। यदि शरीर की इन क्रियाओं के नियमन को अनेक लोगों की क्रियाओं के अनुरूप बनाना हो तो वह ड्रिल या फ़ौजी क़वायद कहलाती है, या योरुप के म्यूजिक हाल का वह नाच है जो बैलड कहलाता है और अब अक्सर हिंदुस्तान के थियेटरों में नज़र आ जाया करता है और अगर शारीरिक क्रियाओं के नियमन का संबंध

संगीत की लय और आवाज के आरोह-अवरोह के अनुरूप बनाने से हो तो वह नृत्य कहलाता है। भारत का मूल नृत्य यही है कि शरीर के क्रियाकलाप गीतों और शेरों के उतार-चढ़ाव के अनुकूल बना लिये जायें। यह असली नाच है जो हिंदुस्तान में एक बहुत बड़ी कला बन गयी है। इसकी सैकड़ों गतें और अनेक तोड़े और टुकड़े ईजाद हो गये। उसके बाद नाच में विचारों और भावों को संकेतों के माध्यम से अभिव्यक्त करना भी शामिल कर लिया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि कभी गाना नाचने की व्याख्या बन गया। फिर जब सुंदर स्त्रियों का नृत्य लोगों को स्वाभाविक रूप से पसंद आया तो प्रेमिका के से हाव-भाव दिखाना और वैसे ही भाव व्यक्त करना भी इस कला का एक अंग बन गया। लखनऊ के स्कूल ने इन्हीं बातों का खयाल करके स्त्रियों और पुरुषों की नृत्य-मंडली में भेद कर दिया। नज़ाकत के साथ बताना, माशूकों के से नाज़-अंदाज़ दिखाना और हर हरकत में प्रेम-प्रणय का भाव प्रकट करना नर्तकियों की विशेषता रही जो कभी-कभी नीरस होने पर दर्शकों पर बुरा प्रभाव डालती है। इसके विपरीत शरीर की क्रियाओं को लय के अनुरूप बनाने में चलत-फिरत दिखाना और कवियों की-सी आकर्षकता से मनोभाव व्यक्त करना पुरुष नर्तकों के लिए सीमित हो गया। अगर्चे दोनों गिरोह एक-दूसरे की कला का एक हद तक ज़रूर लिहाज़ रखते है, मगर फिर भी यह भेद बहुत ही स्पष्ट है।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि अवध और लखनऊ में नृत्यगान मंडलियों और मुजरा करनेवाली वेश्याओं का आकर एकत्र होना नवाब शुजाउद्दौला ही के ज़माने में अपनी चरम सीमा को पहुंच गया था। उनके अलावा अयोध्या और बनारस के कत्थक जो यहीं या आसपास मौजूद थे दरबार में होने वाली आवभगत देखकर उसी ओर आकृष्ट होने लगे और दोनों के मेलजोल से नृत्य-कला का भरपूर विकास हुआ।

पुरुष नाचनेवालों के यहां दो गिरोह हैं—एक हिंदू कत्थक और रहसधारी और दूसरे मुसलमान कश्मीरी भांड। मगर असली नाचनेवाले कत्थक हैं और मालूम होता है कश्मीरी मंडलियों ने अपनी नक़्क़ाली के कमाल में जान डालने के लिए अपने गिरोह में एक नाचनेवाला नौजवान लड़का बढ़ा लिया जो बाल बढ़ाकर औरतों का-सा जूड़ा बांधता है और बहुत ही फुर्ती से नाचकर अपनी चलत-फिरत से महफ़िल में ज़िंदादिली और ताजगी पैदा कर देता है।

हिंदू कत्थकों में से कोई-न-कोई उस्ताद हर ज़माने में यहां मौजूद रहा। ये लोग अपनी कला के संस्थापक महादेवजी, पार्वतीजी और कन्हैयाजी को बताते हैं। शुजाउद्दौला और आसफ़उद्दौला के शासन-काल में खुशी महाराज नाचने का बड़ा ज़बरदस्त उस्ताद था। नवाब सआदत अली खां, ग़ाज़ीउद्दीन हैदर और नसीरउद्दीन हैदर के दौर में हिलालजी, प्रकाशजी और दयालुजी मशहूर नाचनेवाले थे। मुहम्मद अली शाह के ज़माने से वाजिद अली शाह के शासन-काल तक प्रकाशजी के बेटों दुर्गाप्रसाद और ठाकुर प्रसाद के नाच की ख्याति रही। दुर्गाप्रसाद के बारे में कहा जाता है कि नाच में वाजिद अली शाह का उस्ताद था। उसके बाद दुर्गाप्रसाद के बेटों कालका और बंदादीन की शोहरत हुई और करीब सभी लोगों ने मान लिया कि सारे हिंदुस्तान में नाचने का उस्ताद इन दोनों से बढ़कर कोई नही है। पुराने उस्ताद किसी खास बात में मशहूर होते थे मगर इन दोनों भाइयों, खासकर बंदादीन ने नृत्य कला के सभी पहलुओं में कमाल दिखाकर अपने आपको हर हैसियत से बड़ा उस्ताद साबित कर दिया और आजकल के अधिकतर प्रसिद्ध नर्तक इन्हीं दोनों भाइयों के शिष्य है और इनका घर नृत्य का हिंदुस्तान भर का सबसे बड़ा स्कूल है।

कुछ दिन हुए कालका का देहांत हो गया और सच यह है कि उसके मरने से बंदादीन के नाच का मज़ा जाता रहा। बंदादीन की उम्र इस समय 77 वर्ष की है और अब भी नाच के शौक़ीन उसका मुजरा देखने को अपनी ज़िंदगी की एक यादगार खुशी समझते हैं। उसका गत पर नाचना, नाच के उस्तादी तोड़े और टुकड़े असली सूरत मे दिखाना, घुंघरू बजाने में ऐसा अधिकार प्रकट करना कि जो घुंघरु चाहे बजाए और उसके बाद हर-हर शब्द और हर-हर चीज़ को बताना ऐसी चीज़ें है जो बंदादीन ही पर खत्म हो गयी हैं। वह एक-एक चीज़ को सौ-सौ अदाओं, शैलियों, नज़ाकतों और चित्ताकर्षक संकेतों के माध्यम से प्रकट करता है और उसमें ऐसी नाजुकखयाली और नवीनता होती है कि अगर दर्शक जानता न हो तो समझ भी नहीं सकता। आमतौर पर होता यह था कि बंदादीन नृत्य करता और कालका पास खड़े होकर उसकी व्याख्या करता जाता। उसकी व्याख्या से ही लोगों को पता चलता कि बंदादीन अपनी कला में कैसा चमत्कार दिखा रहा है। नाचते समय उसके पांव ज़मीन पर इस नज़ाकत से पड़ते कि मशहूर है कभी-कभी वह तलवार की बाढ़ पर नाचा और मजाल क्या जो तलवे में घाव आया हो।

पुरुष नर्तकों का दूसरा गिरोह भांडों का है । उनके मुजरे की शान यह है कि एक तरुण और सुंदर लड़का जिसके बाल स्त्रियों की तरह लंबे होते है, रंगीन और तड़क-भड़क के कपड़े पहनकर और पांव में घुंघरू बांधकर नाचता-गाता है । उसके साथ का साज़ लय में डूबा हुआ और दिलों को उभारनेवाला होता है । उसके नाच में असाधारण चलत-फिरत और शोखी होती है और उसका गाना भी इसी रंग और रुचि के अनुरूप होता है । साज़ बजाने वालों के अलावा सात-आठ या इससे ज़्यादा भांड रहते हैं जो उसके नाच-गाने पर वाहवाह के नारे बुलंद करते, प्रभावित होकर ताल देते और अक्सर असभ्यता के साथ उसके हाव-भाव और मुद्राओं पर हंसानेवाले रिमार्क कसते रहते हैं । और जहां वह लड़का थोड़ी देर गा चुका वे सामने आकर उसकी नक़लें करते और चुटकुलेबाज़ी और नक़्क़ाली का कमाल दिखाते हैं ।

लखनऊ में इन लोगों के दो गिरोह हैं—एक कश्मीरी जो कश्मीर से आये हैं और दूसरे खास यहां के जिनका पेशा शुरू में तो कुछ और था मगर अब नक़्क़ाली ही उनकी एक विशिष्ट कला बन गयी है ।

नक़्क़ाली और खासकर नृत्य-गान के साथ नक़्क़ाली भारत की बहुत ही प्राचीन कला है जो राजा विक्रमादित्य के दरबार मे यानी हज़रत मसीह से पहले बहुत उन्नत थी । लेकिन उस समय उसमें उच्च कोटि के ड्रामे दिखाये जाते थे और सच यह है कि वह बहुत ही सभ्य और शिष्ट नक़्क़ाली थी । भारत की नीची जातियों के उत्सवों में आज तक यह नियम है कि जब वे लोग खुद ही नाचते-गाते हैं तो उन्हीं के साथ हास्यास्पद नक़लें भी करते हैं ।

मुसलमानों के ज़माने में मुग़ल शासन से पहले भांडों और नक़्क़ालों का पता नहीं लगता । मुमकिन है कि हों और उस दौर के इतिहासकारों ने उनको इस योग्य न समझा हो कि उनका उल्लेख किया जाये मगर मुग़लों के शासन-काल में भांडों ने विशेष ख्याति प्राप्त कर ली थी । उनका पता औरंगज़ेब के बाद से मिलता है । जब दिल्ली के अमीरों और सुल्तानों को दूसरे के राज्यों पर आक्रमण करने और उन पर विजय पाने के झंझटों से छुट्टी मिल गयी थी और वे सिर्फ़ दरबार सजाने और भोगविलास में जीवन बिताना ही अपना

पैतृक अधिकार समझने लगे थे। मगर दरअसल इन भांडों ने यहां के समाज में अजीब-अजीब काम किये। यही यहां के नेशनल सटायर्स हैं और उन्होंने क़रीब-क़रीब वही काम किये जो इंगलैंड में 'स्पेक्टेटर' और 'टाइटलर' ने किये थे। दिल्ली का सबसे पहला भांड करेला मशहूर है जो मुहम्मद शाह के ज़माने में था। किसी बात पर नाराज होकर मुहम्मद शाह ने हुक्म दिया कि भांडों को हमारे मुल्क से निकाल दो। दूसरे दिन बादशाह की सवारी निकली तो ऊपर से ढोल बजने और भांडों के गाने की आवाज़ आयी। ताज्जुब से सिर उठाकर देखा तो करेला और चंद भांड खजूर के एक पेड़ पर चढ़े हुए ढोल बजा-बजाकर गा रहे थे। सवारी रुकवाकर पूछा, "यह क्या गुस्ताखी है ? हमारे हुक्म की तामील क्यों नहीं हुई ?" अर्ज़ किया, "क़िब्ला-ए-आलम ! सारी दुनिया तो जहांपनाह के क़ब्ज़े में है, जायें तो कहां ? इसलिए ऊपर जाने का इरादा किया, और यही पहली मंजिल है।" इस जवाब पर बादशाह और सारे मुसाहिब हंस पड़े और उनका क़ुसूर माफ़ किया गया।

लखनऊ में आने के बाद उन लोगों की कुछ ऐसी क़द्र हुई कि इन मंडलियों का केंद्र लखनऊ ही हो गया। जहां तक मुझे मालूम है फ़िलहाल दिल्ली में भांड़ नहीं हैं, और हैं तो बहुत कम और गुमनाम है। हां बरेली में पुराने ज़माने से भांडों की मंडलियां मौजूद हैं और लखनऊ के अधिकतर डोम-ढाड़ी भी बरेली से आये हैं जिससे मालूम होता है कि रुहेलखंड के पठान भी संगीत और अन्य ललित कलाओं की क़द्र करते थे जिनकी दानशीलता के कारण इन लोगों ने बरेली और मुरादाबाद में अच्छी प्रगति की और वहां से भी ढाड़ी और नक़्क़ाल जो इस कला में प्रवीण थे लखनऊ आये और अब लखनऊ ही उनका प्रमुख केंद्र बन गया है।

उनके लतीफ़े, नोक-झोंक के वाक्य और नक़्क़ाली के कमाल लखनऊ में मशहूर हैं। नवाब सआदत अली खां के इशारे से उस वक़्त के सबसे बड़े बांके के सामने जो चोट करता हुआ वाक्य एक भांड ने कहा था वह हम इससे पहले ही अपने पाठकों को सुना चुके हैं। उस ज़माने की एक यह घटना भी यादगार है कि किसी रईस ने इनाम में दुशाला दिया, मगर वह दुशाला फटा-पुराना था। एक नक़्क़ाल ने हाथ में लेकर उसे ग़ौर से देखना शुरू किया और उस पर बहुत ही गहरी नज़रें जमा दीं। दूसरे ने पूछा, "देखते क्या हो ?" कहा, "देखता यह हूं कि इस पर कुछ लिखा हुआ है।" पूछा, "आखिर क्या लिखा

है ?" ऐनक निकालकर लगाई और अटक-अटककर बड़ी मुश्किल से पढ़ा, "लाइ-लाहा इल्लल्लाह[1] ।" पूछा, "बस इतना ही ? मुहम्मद-उर-रसूललिल्लाह[2] नहीं लिखा ?" जवाब दिया, "मुहम्मद-उर-रसूललिल्लाह कैसे लिखा हो यह तो हमारे हज़रत से पहले का है ।"

लखनऊ के एक नवाब साहब 'गढ़ैया वाले नवाब' मशहूर थे, इसलिए कि उनके मकान के क़रीब एक गढ़ैया थी । उन्हीं के यहां किसी समारोह में नृत्य-गान भी हो रहा था । एक भांड घबराया हुआ निकलकर सामने आया और सब साथियों से कहा, "उठो, उठो सम्मान करो ।" सबने कहा, "किसका सम्मान करें ? कोई है भी ?" बोला, "नवाब साहब आते हैं ।" और यह कहकर एक हांडी जो खोली तो एक बड़ा-सा मेंढक उछलकर बीच महफ़िल में बैठ गया और सबसे कहना शुरू किया, "जल्दी उठो, जल्दी उठो ।" साथियों ने कहा, "तुमने पहचाना नहीं ? आप गढ़ैया के नवाब है ।"

इन लोगों के बारे में मशहूर था कि जिसके यहां जाकर नाचते उसकी नक़ल ज़रूर करते और मुमकिन न था कि उस पर चोट न करें । यह भी सच है कि जिस खूबसूरती से उन लोगों ने अमीरों और रईसों को सबक़ दिये हैं और उनकी ग़लतियों पर उन्हें आगाह किया है, वह और किसी तरह मुमकिन ही नहीं था । इसी तरह नक़्क़ाली में जिसकी नक़ल करते उसका ऐसा मुकम्मल बहरूप भरते और ऐसा सच्चा कैरेक्टर दिखाते कि लोग दंग रह जाते । आज-कल अंग्रेज़ों की सोहबत में जिस तरह 'बाबूज़ इंग्लिश' का मज़ाक़ उड़ा करता है, उन दिनों कायस्थों की फ़ारसीनिष्ठ उर्दू का उपहास किया जाता था । उनकी नक़ल और 'दीवानजी का कैरेक्टर' ये भांड ऐसा बढ़िया दिखाया करते थे कि लोग चकित रह जाते । यहां दूसरा करेला भांड नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने तक मौजूद था । उसके बाद सजन, क़ायम दायम, रजबी, नौशाह, बीबी क़द्र वग़ैरा मशहूर हुए । अली नक़ी खां मय अपनी बीवी के, जिनका बहुत कुछ दौर-दौरा था, क़ायम की सबील[3] देखने आये जिसे वह खूब सजाता और शर्बत पिलाया करता था । उन प्रतिष्ठित अतिथियों को देखते ही क़ायम सामने आ गया और हाथ जोड़कर बोला, "खुदा नवाब साहब को सलामत और बेगम

[1] कोई नहीं है अल्लाह के सिवा ।

[2] मुहम्मद अल्लाह के रसूल (पैग़ंबर) हैं ।

[3] मुहर्रम में शर्बत पिलाने का स्थान ।

साहिबा को कायम रखे।" इतनी सख्त बात थी, मगर नवाब और बेगम दोनों को इनाम ही देते बनी। क़ायम का कमाल यह था कि एक बार साढ़े तीन घंटे तक सिर्फ़ तरह-तरह के मुंह बनाता रहा।

आखिर ज़माने में फ़ज़्ले हुसैन, खिलौना, बादशाहपसंद आदि मंडलियां बहुत मशहुर थीं। अब भी अलीजान बहुत ग़नीमत है। ये उन मंडलियों के नर्तकों के नाम हैं जिन्होंने नाचने में बड़ी नामवरी हासिल की थी और जवाब न रखते थे।

मगर लखनऊ की सोसाइटी पर इन सब लोगों से ज़्यादा असर डोमनियों का पड़ गया था। सारे क़स्बों और शहरों में शादियों में गानेवाली मीरासनें और गायनें मुद्दत से होती आयी हैं जिनका हुलिया डफ़ालियों की तरह हमेशा एकसा रहा। मगर डोमनियों ने लखनऊ में बहुत तरक़्क़ी की। ढोल को छोड़-कर उन्होंने रंडियों और मर्दानी मंडलियों की तरह तबला, सारंगी और मजीरे अपनाये। सिर्फ़ गाने की हद से तरक्की करके नाचना शुरू किया और उसी पर संतोष न किया बल्कि भांडों की तरह ज़नानी महफ़िलों में नकलें भी करने लगीं। शादी की तमाम रस्मों का वे सबसे बड़ा अंग बन गयीं और दौलतमंद घरानों की बेगमों को ऐसा मोहित कर लिया कि कोई महल और कोई ड्योढ़ी न थी जिसमें डोमनियों का कोई गिरोह नौकर न हो। उनमें से अधिकतर नाचने-गाने में अपना जवाब नहीं रखती थीं और उन्होंने ऐसे गले पाये थे कि ज़नानी महफ़िलें मर्दाना महफ़िलों से ज़्यादा शानदार और हददर्जा दिलकश और आनंदप्रद हो गयीं। खासकर महफ़िलों में उनकी शोखियां और नयी-नयी बातें ऐसी दिलफरेब होती थीं कि मर्दों को अक्सर तमन्ना रहती थी कि किसी तरह डोमनियों का मुजरा देखने का मौक़ा मिले, इसलिए कि डोमनियां मर्दाना सोहबतों में गाना-नाचना किसी तरह पसंद न करती थीं। अब भी डोमनियां बहुत बड़ी संख्या में मौजूद हैं और उसी शान पर हैं। मगर उनमें वह कमाल बाक़ी नहीं रहा। जैसी-जैसी नामी लयदार और गलेबाज़ डोमनियां लखनऊ में गुज़र गयीं वैसे गवैये भी कहीं पैदा न हुए होंगे।

हालांकि नाचने की कला के उस्ताद मर्द ही विशेष रूप से रहे, मगर कुल मिलाकर जितनी तरक्की इसे गाने वाली रंडियों ने दी वह मर्दों से मुमकिन नहीं थी। नाचने की कला औरतों के लिए अधिक अनुकूल भी है। यह कला कुछ हद तक हिंदुस्तान के हर शहर में नज़र आयेगी लेकिन जैसी नाचने-गाने वाली वेश्याएं लखनऊ में पैदा हुई शायद किसी शहर में न हुई होगी। आज से चालीस साल पहले लखनऊ की एक मशहूर रंडी 'मुंसरिम वाली गौहर' ने कलकत्ता जाकर शोहरत हासिल की थी। मैंने एक महफ़िल में उसका यह रंग देखा कि पूरे तीन घंटे तक एक ही चीज़ को ऐसी ख़ूबी से बनाती रही कि दर्शकगण (जिनमें मटिया बुर्ज के सभी ढाड़ी और प्रतिष्ठित लोग उपस्थित थे) शुरू से आखिर तक स्तंभित बैठे रहे और कोई बच्चा भी न था जो उसमें पूरी तरह तल्लीन न हो। जोहरा और मुश्तरी कवियत्रियां और गायिकाएं ही नहीं उच्च कोटि की नर्तकियां भी थीं। जद्दन ने एक मुद्दत तक ज़माने भर को अपने नृत्य और गायन पर मोहित रखा है।

यहां की वेश्याएं आमतौर पर तीन जातियों की थीं: एक तो कंचनियां जो असली रंडियां थीं और उनका पेशा भी आमतौर पर सतीत्व बेचना था। दिल्ली और पंजाब उनके मूल स्थान थे जहां से वे शुजाउद्दौला के समय से ही आनी शुरू हो गयीं। शहर की नामी वेश्याएं अधिकतर इसी जाति की हैं। दूसरी चूनेवालियां थीं जिनका असली पेशा चूना बेचना था मगर बाद में बाज़ारी औरतों के गिरोह में शामिल हो गयीं और अंत में जाकर उन्हें बड़ी ख्याति मिली। चूनेवाली हैदर जिसका गला मशहूर था और समझा जाता था कि उसका-सा गला किसी ने पाया ही नहीं, इसी जाति की थी और अपनी बिरादरी की रंडियों का बड़ा गिरोह रखती थी। तीसरी नागरानियां थीं। तीनों वे बाज़ारी स्त्रियां हैं जिन्होंने अपने गिरोह क़ायम कर लिये हैं और बिरादरी रखती हैं वरना बहुत-सी और क़ौमों की औरतें भी आवारगी में पड़ने के बाद इसी गिरोह में शामिल हो जाती हैं।

गवैयों और नाचने वालों के बाद यहां इसी प्रकार का एक और गिरोह भी है जिसका विकास लखनऊ में बहुत हुआ और यदि इसे लखनऊ की ही

विशेषता कहा जाये तो शायद ग़लत न होगा। वे रहसवाले हैं। रहस खास मथुरा और ब्रज की कला है। वहीं के रहसधारियों ने आ-आकर लखनऊ को इसका शौक़ दिलाया।

वाजिद अली शाह को जब रहस पसंद आया तो उन्होंने अपनी रुचि और अपने काल्पनिक प्लाट का एक नया रहस तैयार किया। उसे देखते ही जनता में इस बात का खास शौक़ पैदा हुआ कि प्रेमाख्यान जो उन दिनों परियों के प्रेम और सौंदर्य से संबद्ध थे व्यावहारिक रूप में दिखाये जायें। पब्लिक का यह रुझान देखकर मियां 'अमानत' ने, जो शब्दालंकार के प्रयोग में एक प्रसिद्ध कवि थे, अपनी 'इंदर सभा' की रचना की जिसमें हिंदू पौराणिक कथाओं में मुसलमानों की फ़ारसी रुचि के समन्वय का पहला नमूना नजर आया।

यह 'इंदर सभा' जैसे ही शहर में दिखाई गयी हर शख्स उसका दीवाना हो गया। यकायक बीसियों सभाएं शहर में रची गयीं और देखते-ही-देखते उनका ऐसा रिवाज हुआ कि गवैयों और नाचने वाली वेश्याओं का बाज़ार कुछ दिन के लिए ठंडा पड़ गया। अब 'अमानत' के सिवाय और बहुत से लोगों ने नयी सभाएं रचनी शुरू कीं जिनमें उर्दू शाइरी चाहे बिगड़ती हो, मगर ज़बान मंज़ती और पूरब की देहाती और शिल्पियों की आबादी में फैलती थी। इस रुचि ने ड्रामे और थियेटर की मज़बूत बुनियाद डाल दी थी और अगर कुछ दिन और शाही का दौर रहता तो हिंदुस्तानी नाटक एक खास रूप धारण कर लेता जो बिल्कुल अछूता और एक खास रंग में डूबा हुआ होता।

मगर यकायक सभ्य समाज को, जिसमें पुराना संगीत जड़ जमा चुका था, इन खेलों में अश्लीलता नज़र आयी। संगीत-कला के शौक़ ने सहृदयों को फिर गवैयों और मुजरा करने वाली मंडलियों की ओर आकृष्ट कर दिया और ये चीजें जो नाटक की शान रखती थीं आम जनता और बाज़ारी लोगों तक ही सीमित होकर रह गयीं। मगर पुरानी रुचि ने शहर में इस रुचि को व्यावहारिक रूप में दिखानेवाला एक खास गिरोह पैदा कर दिया जिन्हें आज की शब्दावली में ऐक्टर कहा जाये तो ज़्यादा मुनासिब होगा। हमारे ये ऐक्टर पहले तो सभ्य समाज की सहृदयता के कारण उर्दू भाषा का विकास करते जाते थे, लेकिन अब चूंकि उनकी गिनती निम्न वर्ग के बाज़ारी लोगों में की जाती है इसलिए वह शिष्ट भाषा छूट गयी। बाज़ारी भाषा में आज भी ये लोग बीसियों तरह के पर्फ़ामेंस दिखाते हैं।

हमारे इन ऐक्टरों के अश्लील हो जाने का सबसे बड़ा कारण यह था कि बंबई के पारसियों ने अंग्रेज़ी ढंग के थियेटर खड़े किये जिनमें सच यह है कि न तो संगीत-कला ही थी और न सही ऐक्टिंग ही, मगर उनकी सफ़ाई, व्यवस्था, तिलिस्म-प्रदर्शन और उनके तड़क-भड़क वाले पर्दों ने हमारे राष्ट्रीय नाटक का, जो अभी बच्चे की तरह पालने में ही था, गला घोंट दिया। उच्च वर्ग के लोग शानदार नाटकों पर मोहित होकर स्वस्थ रुचि को भूल गये।

सच यह है कि बंबई के थियेटरों ने भारतीय ललित कलाओं में नृत्य और गायन को बहुत नुक़्सान पहुंचाया। सबसे पहले संगीत को तबाह किया और ऐसे-ऐसे अनियमित गानों को अपनाकर बाज़ारों में फैला दिया जिनसे बढ़कर बकवास कोई चीज़ हो ही नहीं सकती। उसके बाद उसने हमारी नृत्यकला को जो बहुत ही उच्च कोटि की कला थी, मिटाना चाहा और अपनी स्टेज पर नाच के नाम से योरुप के ड्रिल को रिवाज दिया जिससे चंद लड़के अपना क्रम और वेशभूषा बदलकर दिलचस्पी पैदा कर दिया करते हैं। लेकिन रहस वालों का संगीत और ऐक्ट अगर्चे दोनों निम्न कोटि के हैं मगर देशी रंग में डूबे हैं और उनकी रुचि राष्ट्रीय है। उन्हें तो छोड़ने की नहीं बल्कि उनमें सुधार की आवश्यकता है।

## [ 24 ]

संगीत के ही संदर्भ में 'सोज़ख्वानी' का उल्लेख भी ज़रूरी है। हालांकि इस नयी धार्मिक कला को संगीत के नियमों के अनुसार कला में शामिल करना अनुचित है, लेकिन मुश्किल यह है कि सोज़ख्वानी एक विशेष प्रकार का संगीत ही है। मुहर्रम में हज़रत इमाम हुसैन की याद ताज़ा करना हिंदुस्तान में खासकर शीओं से शुरू हुआ, विशेषतः उस समय से जबकि इसना अशरी मज़-हब ईरानी का राष्ट्रीय धर्म बना और वहां के लोग आ-आकर हिंदुस्तानी दरबार से संपर्क स्थापित करने लगे। फिर भी दिल्ली में चूंकि शाही खानदान का मज़हब सुन्नी था इसलिए वे खास चीज़ें जिनका संबंध विशेषकर शीओं की संस्कृति से था, यहां विकसित न हो सकीं। इसलिए इन कलाओं को प्रश्रय लखनऊ शहर और यहां के पुराने शीआ दरबार में ही मिला।

जिस तरह धार्मिक हस्तक्षेप के कारण शाइरी में मर्सियागोई और बिना गाये कविता पढ़ने की परिपाटी चल पड़ी उसी तरह संगीत में सोज़ख्वानी का जन्म हुआ। फिर इन दोनों कलाओं का ऐसा विकास हुआ कि ये भी निश्चित कलाएं बन गयीं और ऐसी कलाएं जो शुरू से आख़िर तक लखनऊ में ही विशेष रूप से प्रचलित रहीं। तहतुललफ़्ज़ख्वानी (बिना गाये पढ़ना) मर्सियों का गंभीर स्वर में और सहज भाव से इस तरह पढ़ना और बता-बता के सुनाना है जिस तरह शाइर मुशाइरे में अपनी ग़ज़ल सुनाता है और सोज़ख्वां उनको पुरसोज़ गीत के साथ सुनाता है।

असली और पुरानी मर्सियाख्वानी सोज़ख्वानी ही थी। यानी मर्सिये मजलिसों में हमेशा गानों के साथ सुनाये जाते थे और उनका रिवाज दिल्ली ही नहीं, हिंदुस्तान के उन तमाम शहरों में था जिनमें शीआ लोग आबाद थे। मद्रास और दक्खन तक में ज़ोर-शोर से इस क़िस्म की मर्सियाख्वानी होती थी और डेढ़ सौ बरस के लिखे हुए मर्सिये आज तक मौजूद हैं। मर्सियों को शाइरी के शेर पढ़ने के लहजे में अदा करना ख़ास लखनऊ की ईजाद है और उसमें मीर अनीस और मिर्ज़ा दबीर वग़ैरा ने कमाल दिखाये उनका ज़िक्र हम शाइरी के सिलसिले में कर चुके हैं।

सोज़ख्वानी अगर्चे पहले से थी और हर जगह थी मगर उसमें भी लखनऊ के सोज़ख्वानों ने ऐसे-ऐसे कमाल दिखाये कि इस कला को भी अपनी ही विशेषता बना लिया। सारे हिंदुस्तान की पुरानी सोज़ख्वानी को इतना उन्नत कर दिया कि पेशेवर गवैयों का बाज़ार भी सोज़ख्वानों के आगे ठंडा पड़ गया।

लखनऊ में सोज़ख्वां दूसरे कलाकारों की तरह नवाब शुजाउद्दौला के साथ या उनके शासन-काल में आये। फ़ैज़ाबाद के इतिहास में लिखा है कि शुजाउद्दौला की बीबी बहू बेगम साहिबा के महल में मजलिसें होतीं और जवाहर अली खां ख्वाजासरा जो उनकी ड्योढ़ी और सारे इलाक़े का मुख़्तार था मर्सियाख्वानों के मर्सिये सुना करता। मगर उस वक़्त तक यहां की सोज़ख्वानी वही थी जो हर जगह आम थी।

बाज़ लोग कहते हैं कि ख्वाजा हसन मौदूदी से इस कला का आरंभ हुआ। वह 'नग़मात-उल-आसफ़िया' के लेखक के उस्ताद थे और अगर्चे पेशेवर संगीत-कार न थे लेकिन फिर भी संगीत कला में ऐसा

कमाल[1] रखते थे कि दूर-दूर तक कहीं उनका जवाब न था। अगर्चे वह मज़हब से सुन्नी थे, मगर उन्होंने संगीत की खास-खसा धुनें बनाकर अपने शागिर्दों को बतायीं और इस कला ने एक नियमित रूप धारण कर लिया। उसके बाद जब सिड़े हैदरी खां का ज़माना आया तो उनका यह नियम था कि मुहर्रम में अपनी रुचि के अनुसार धुनों में मर्सियाख्वानी किया करते। चूंकि वह बहुत बड़े और नामी गवैये थे और दरबार क़द्रदान था, इसलिए उन्हें इस कोशिश में खास कामयाबी हासिल हुई और पता लग गया कि अगर तरक्क़ी दी जाये तो यह कला अलग से और एक खास शान पैदा कर सकती है। संगीत की हज़ारों धुनों में से वे धुनें चुनी गयीं जो शोक-संताप की अभिव्यक्ति और बैन के लिए मुनासिब हों और फिर उन्हें सैकड़ों सोज़ों के साथ क़ायम किया गया। आखिर में हैदरी खां ने अपनी सोज़ख्वानी सैयद मीर अली साहब को सिखा दी जो एक शरीफ़ सैयद थे और उन्होंने मज़हबी जोश मे इस कला का बहुत अधिक विकास किया और अपने ज़माने मे इतने बड़े गवैये मशहूर हुए कि नवाब सआदत अली खा के ज़माने में उन्होंने किसी बात पर नाराज़ होकर लखनऊ से चले जाने का इरादा किया तो इंशा अल्लाह खां ने अपने विशिष्ट और प्रभावशाली कवि-स्वर और उपहास के रूप में सिफ़ारिश की और नवाब ने तसल्ली देकर क़द्रदानी के साथ उन्हें रोका।

उसके बाद तानसेन के खानदान का एक गवैया नासिर खां लखनऊ में आया और चमका। यहां सोज़ख्वानी की तरफ लोगों की दिलचस्पी देखी तो उसने भी अपने संगीत की दक्षता मर्सियाख्वानी में लगाकर लोकप्रियता और

---

[1] संगीत में उनकी दक्षता का अंदाज़ा इससे हो सकता है कि मराठों की लूटमार के ज़माने में वह पालकी में सवार लखनऊ से इटावे की तरफ जा रहे थे। रास्ते मे किसी गांव में गुज़र हुआ और सुना गया कि उस गांव पर मराठे हमला करने वाले हैं। कहारों ने जो बहुत दूर से उन्हें लिये चले आते थे यक़ायक पालकी रख दी और कहा हममें अब आगे चलने की ताक़त नहीं है। हज़ार कहा गया कि यह मुक़ाम खतरनाक है, मगर उन्होंने एक न सुनी। ख्वाजा साहब ने ज़िंदगी से मायूस होकर वजू किया और अस्र की नमाज पढ़ी और बैठे-बैठे कुछ अलापना शुरू किया और उसका कहारों पर ऐसा असर पड़ा कि ताज़ादम हो गये और उन्हें सुरक्षित स्थान तक पहुंचा दिया।

ख्याति प्राप्त की और अपने पड़ोस की एक ग़रीब और विधवा सैदानी (सैयद वंश की स्त्री) पर तरस खाकर उसके दो बच्चों—मीर अली हसन और मीर बंदा हसन—को सोज़ख्वानी की तालीम दी। उन दोनों का कमाल तमाम पुराने उस्तादों से बढ़ गया और वे सोज़ख्वानी में बेमिसाल साबित हुए। उन्होंने सोज़ख्वानी को एक ऊंचे दर्जे का राग बना दिया है, यहां तक कि संगीत के असली रागों के बोल तो अक्सर गवैयों तक को याद नहीं। मगर ऐसे सोज़ अक्सर सोज़ख्वानों को याद हैं जो रागों के बोल हैं जिनको सुनकर असली राग और सच्ची धुनें स्पष्ट रूप से समझी जा सकती हैं।

इन्हीं बुज़ुर्गों की वजह से लखनऊ में सोज़ख्वानी की कला गवैयों से निकल कर शरीफ़ों में आ गयी और बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग पैदा होने लगे जो डोम-ढाड़ी नहीं बल्कि शरीफ़ लोग हैं, मगर सोज़ख्वानी में ऐसा कमाल रखते हैं कि गवैयों का बाज़ार उनके सामने ठंडा पड़ गया है।

फ़िलहाल मंझू साहब और दो-एक और बुज़ुर्ग सोज़ख्वानी में ऐसा कमाल और ऐसी शोहरत रखते हैं कि हिंदुस्तान भर में हर जगह उनके स्वागत में शौक़ की आंखें बिछाई जाती हैं और दूसरे क़स्बों के लोगों की क़द्रदानी मुहर्रम के महीने और मातम के खास दिनों में हमेशा लखनऊ के इन्हीं शौक़ीनों के हाथ से छीन लिया करती है।

इस रुचि का सबसे ज़्यादा असर लखनऊ की औरतों पर पड़ा। सोज़ों की प्रभावशाली और दिल को टूक-टूक कर देने वाली धुनें मीर अली हसन और मीर बंदा हसन के गले से निकलते ही सैकड़ों शरीफ़ मर्दों के गले में उतरीं और उनके ज़रिये से हज़ारों शरीफ़ शीआ खानदानों की औरतों के मधुर गलों में उतर गयीं। औरतों को स्वभावतः गाने-बजाने का ज़्यादा शौक़ होता है और उनके गले गीतों के लिए आमतौर पर ज़्यादा मुनासिब हुआ करते हैं। यह नियमबद्ध मर्सियाख्वानी औरतों में पहुंची तो उसमें बड़ी चित्ता-कर्षकता आ गयी और चंद रोज़ में शीआ ही नहीं निचले वर्ग की सुन्नी औरतों में भी मर्सियाख्वानी का शौक़ पैदा हो गया और यह हालत हो गयी कि मुहर्रम में और अधिकतर मज़हबी इबादत के समय लखनऊ के गलीकूचों में तमाम घरों से पुरसोज़ तानों और दिलकश गीतों की आवाज़ें उठती हैं और कोई जगह नहीं होती जहां यह समा न बंधा हो। आप ज़िस गली में खड़े होकर सुनने लगिये ऐसी दिलकश आवाज़ें और ऐसा बेसुध करने वाला गीत

सुनने में आ जायेगा जिसे आप जिंदगी भर नहीं भूल सकते । हिंदुओं और बाज़ खास-खास सुन्नियों के मकानों में तो खामोशी होती है बाक़ी जिधर कान लगाइये मर्सियाख्वानी के ज़ोर-शोर वाले गीतों की ही आवाजें आती होती हैं ।

ताज़ियादारी चूंकि मर्सियाख्वानी का बहाना है, इसलिए सुन्नी और शीआ दोनों गिरोहों के घरों में मर्सियाख्वानी के शौक़ में ताज़ियादारी होने लगी और सुन्नी मुसलमान ही नहीं हज़ारों हिंदू भी ताज़ियादारी अपना कर मर्सियाख्वानी करने लगे । इससे मालूम होता है कि लखनऊ में ताज़ियादारी के बहुत ज़्यादा बढ़ने और विकसित होने का मुख्य कारण मर्सियाख्वानी है ।

लखनऊ में कुछ शरीफ़, शिष्ट और सुशिक्षित महिलाएं ऐसी अच्छी सोज़ख्वां हैं कि अगर पर्दे की रोक न होती तो मर्द सोज़ख्वां उनके मुक़ाबिले पर हरगिज़ न बढ़ सकते । इस बात को बहुत मुद्दत हुई कि एक साल चेहलुम[1] के मौक़े पर चंद दोस्तों के साथ मैं तालकटोरा की कर्बला में गया था और वहीं एक शिविर में मैंने रात बिताई थी । दो बजे रात को यकायक आंख खुली तो एक ऐसे मनोहर गीत की आवाज़ कानों में आयी जिसने सब दोस्तों को जगाकर बेचैन कर दिया । हम सब उस आवाज़ को सुनकर उत्सुकतावश शिविर से बाहर निकले और देखा कि रात का सन्नाटा है, चांदनी खेत किए हुए है और उसमें औरतों का एक झुंड ताज़िया लिये हुए आ रहा है । सबके बाल खुले हुए और सिर नंगे हैं । बीच में एक औरत हाथ में शमा लिये है । उसकी रौशनी में एक लंबे क़द की खूबसूरत औरत कुछ पन्नों में से पढ़-पढ़कर मर्सियाख्वानी कर रही है और दूसरी कई औरतें उसके साथ गलेबाज़ी कर रही हैं । उस सन्नाटे उस वक़्त, उस चांदनी, उन नंगेसिर सुंदरियों और उस पुरसोज़ गीत ने जो समां पैदा कर रखा था उसे मैं बयान नहीं कर सकता । नाज़ुक अदाओं का यह समूह जैसे ही कर्बला के फाटक में दाखिल हुआ उस लंबी हसीन औरत ने परज की धुन में यह मर्सिया शुरू किया :

जब कारवान-ए-शहर मदीना लुटा हुआ
पहुंचा क़रीब शाम के क़ैदी बना हुआ
नेज़े पे सर हुसैन का आगे धरा हुआ
और पीछे पीछे बीसियों का सर खुला हुआ

इस मर्सिये ने, जो स्थिति के सर्वथा अनुकूल था, यकायक ऐसा समां बांध

[1] कर्बला के शहीदों का चालीसवां ।

दिया कि शुब्हा होता था कि इन शेरों के ज़रिये से वह महिला कर्बला की घटना का चित्रण कर रही है या खुद अपने उस मातमी जुलूस और कर्बला में दाखिले का वर्णन कर रही है।

असल यह है कि लखनऊ की औरतों और उनके साथ मर्दों पर भी सोज़ख्वानी और ताजियादारी ने जो प्रभाव डाला है और किसी चीज़ ने नहीं डाला। इसकी पहली बरकत तो यह है कि तमाम औरतें बहुत अच्छी गलेबाज़ हो गयीं और संगीत के नियमों के अनुसार मर्सियाख्वानी करने लगीं, दूसरी बरकत यह है कि सारे शहरवालों को चाहे मर्द हों या औरत संगीत के साथ दिलचस्पी हो गयी। यह जो लखनऊ के गली-कूचों में देखा जाता है कि निचले वर्ग के लड़के और बाज़ारी लोग अक्सर चलते-चलते गाने लगते है और गाने मे ऐसी गलेबाज़ी करते और मुश्किल से मुश्कल धुनों को इस आसानी से उड़ा लेते हैं कि बाहर के लोगों को आश्चर्य होता है, इसका असल कारण मर्सियाख्वानी और सोज़ख्वानी की रुचि है और तारीफ़ की बात यह है कि सोज़ख्वानी का विकास अगर्चे आम जनता और निचले वर्ग के जाहिलों में हुआ फिर भी वह नियमबद्ध रही और संगीत के उचित स्तर से कभी नीचे नहीं गिरने पायी। जबकि दूसरी अनेक कलाएं जनता में पहुंचते ही नियमविहीन और खराब हो जाया करती हैं।

सोज़ख्वानी को गो कि शीआ लोग सवाब (पुण्य) का कारण समझते हैं, मगर शीआ विद्वानों ने इस वक़्त तक इसके जायज़ होने का फ़तवा नहीं दिया है। वे शरअ (धर्मशास्त्र) की पाबंदी में सख़्ती करते हैं। अब तक विद्वानों और शिष्ट समुदाय की मजलिसों में सिर्फ हदीसख्वानी या तहतुललफ्ज़ख्वानी होती है और आम जनता की जिन मजलिसों में धर्मशास्त्री शरीक होते है उनमें भी उनके सामने सोज़ख्वानी नहीं होती। लेकिन इससे इकार नहीं किया जा सकता कि सोज़ख्वानी ने अपनी लोकप्रियता के कारण विद्वानों के फ़तवों पर पूरी तरह विजय पा ली है। मुश्किल यह है कि सुन्नियों के हदीस के विद्वानों और सूफ़ी लोगों के लिए तो संगीत जायज़ है मगर इसना अशरी के धर्मशास्त्र में इसकी इतनी गुंजाइश नहीं वरना इस कला को अब तक धर्म की दृष्टि से भी जायज़ क़रार दे दिया गया होता।

कलाकारों, संगीतशास्त्र और उससे निकली हुई कलाओं के बारे में हम बहुत कुछ लिख चुके हैं। लेकिन इसी सिलसिले में बाज़ारी बाजों का हाल बयान करना बाक़ी है। लिहाज़ा आज हम यह बताते हैं कि इन बाजों का लखनऊ पर क्या असर पड़ा और इसी पर हम संगीत की बहस समाप्त करेंगे। बाजों के जोड़ जो शादी वग़ैरा के जुलूसों के साथ जाते हैं छह तरह के हैं: (1) ढोल-ताशे, (2) रौशन चौकी, (3) नौबत, (4) तुरही और क़रना (शंख), (5) डंके और बिगुल, (6) अंग्रेज़ी बाजा जो आर्गन बाजा कहलाता है और रोज़-बरोज़ ज़्यादा रिवाज पाता जाता है।

पहला यानी ढोल-ताशा भारत का प्राचीन राष्ट्रीय वाद्य है जिसका अंग्रेज़ इंडियन 'टाम टाम' नाम रखकर अपने अज्ञान के कारण उसका उपहास करते है। 1896 ई० में जब इंग्लैंड के प्रदर्शनी स्थल 'अर्ल्स कोर्ट' में भारतीय संस्कृति और यहां की कलाओं तथा शिल्पों के सैकड़ों नमूने दिखाये गये थे तो वहां इस बाजे का नमूना मैंने खुद अपनी आंखों से यह देखा कि एक बहुत ही काले रंग का व्यक्ति जिसके पिंडे पर सिवा एक मैले लंगोटे के कुछ न था, आम लोगों में नंगा आकर खड़ा हो जाता, उसके गले में एक ढोल होता और वह बहुत ही असभ्य ढंग से बिना किसी लय या क्रम के पागलों की तरह सर हिला-हिला कर ज़ोर-ज़ोर से ढोल को लकड़ी से पीटने लगता और कहा जाता कि यही हिंदुस्तान का बाजा 'टाम टाम' है। मगर यह उन लोगों की अज्ञानता और बुद्धिहीनता है। यह बहुत ही मुकम्मल बाजा है और इसका बजाना एक निश्चित कला है जिसमें उच्च कोटि की लय रखी गयी है।

इसमें लखनऊ में आमतौर पर दो और कभी तीन-तीन चार-चार बड़े ढोल होते है और कम-से-कम एक वरना दो-तीन ताशे वाले होते हैं और कम से कम एक झांझवाला होता है। झांझ का पता ईरान वग़ैरा में भी चलता है और ताशे मिस्र वग़ैरा मे भी प्रचलित हैं। मगर ढोल शुद्ध रूप से भारत का बाजा है। लखनऊ में यह बाजा फ़ौजों और बेफ़िक्रों के साथ दिल्ली से आया। मगर दिल्ली में इसके जोड़ में सिर्फ़ ढोल और झांझें थीं, ताशे लखनऊ में बढ़ाये गये और रिवाज पाते ही इतने ज़रूरी और महत्वपूर्ण नज़र आये

कि मालूम हुआ जैसे उनसे इस बाजे में जान पड़ गयी। अगर्चे ज़्यादातर शहरों में सिर्फ़ ढोल और झांझें ही होती हैं मगर लखनऊ में ताशे अभिन्न अंग बन गये हैं और बिना उनके ढोल कहीं बजते ही नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि इस बाजे में सबसे ज़्यादा कमाल वही शख़्स दिखाता है जो ताशा बजाता है। वही लय क़ायम करता है और लय में उसका अनुसरण ढोलवाले करते हैं। ताशा बजाने की यह सिफ़त है कि इतनी जल्दी-जल्दी चोटें पड़ें कि एक चोट और दूसरी चोट में फ़र्क न किया जा सके। और इन लगातार चोटों से और उतार-चढ़ाव और उनसे लय और गीत पैदा हो। लखनऊ में इस बाजे के बजाने वाले ऐसे-ऐसे पड़े हैं कि उनके सामने किसी शहर के ढोल बजाने वाले नहीं टिक सकते।

लखनऊ में चेहलुम के बाद एक ताज़िया उठता है जो बख़्शू का ताज़िया कहलाता है। अब तो उसके जुलूस ने शीओं-सुन्नियों के झगड़े की वजह से दूसरी सूरत इख़्तियार कर ली है, मगर दस-बारह बरस पहले इसकी यह शान थी की चूंकि यह शाही खानदान के एक पुराने प्रेमी की यादगार था और अब इसके उठाने वाले ग़रीब लोग थे इसलिए हर क़िस्म के बाजों के बेनज़ीर उस्ताद सवाब समझकर इसमें शरीक होते और सवाब के बहाने अपनी-अपनी कलाओं का चमत्कार शहरवालों को दिखाते और इसी वज़ह से उनका नियम था कि जहां खड़े हो गये क़द्रदानों ने घेर लिया और वे घंटों उसी जगह खड़े इस बात का दावा कर रहे हैं कि कोई है जो हमारे सामने आकर बजाए ? बड़े-बड़े उस्ताद गवैये उनकी दाद देते और वे जोश में आ-आकर और ज़्यादा ख़ूबी से बजाते। खासतौर से ये ताशे बजाने वाले बड़े उस्ताद ढाड़ी होते जो संगीत में प्रवीण होते और गतों में नवीनता लाते थे।

ढोल-ताशा बजाने की कला कितनी महत्वपूर्ण और नियमबद्ध थी इसका सबूत इससे बढ़कर क्या होगा कि अवध के आख़िरी शासक वाजिद अली शाह को जो संगीत के माने हुए आचार्य थे, मैंने कलकत्ता में अपनी आंख से देखा कि मुहर्रम की सातवीं तारीख़ को जब मेहंदी का जुलूस उनकी आसमानी कोठी से रवाना होता तो वे ख़ुद गले में ताशा डालकर बजाते। बड़े-बड़े गवैयों के गलों में बड़ी-बड़ी ढोलकें होतीं, दरबार के सम्मानित लोग आस-पास खड़े होते और वे ऐसी ख़ूबी से ताशा बजाते कि अनजान सुनने वाले भी दंग रह जाते। और गवैयों की वाह-वाह तो हमारे मुशाइरों के हंगामों को

भी मात कर देती। इसी तरह मैंने उन्हें कई बार ढोल बजाते भी देखा।

बहरहाल हिंदुस्तान के इस सबसे पुराने बाजे में भी लखनऊ की सोसाइटी ने कुछ परिवर्तन किया और ऐसा परिवर्तन किया जो बहुत ही लोकप्रिय भी हुआ और ज़रूरी भी था। मगर कोई शख्स आकर यहां के ताशे बजाने वालों का कमाल देखे तो उसे मालूम होगा कि वह परिवर्तन कितना मुनासिब है और उसने ढोल और झांझ को कितना महत्व प्रदान किया है।

दूसरा जोड़ रौशन चौकी का है। रौशन चौकी बहुत पुराना बाजा है और अगर सारे नहीं तो उसके प्रमुख अंगों को मुसलमान अपने साथ लाये क्योंकि शहनाई उसका एक महत्वपूर्ण अंग है और उसके बारे में मशहूर है कि शेख़-उर्रईस इब्ने-सीना की ईजाद है। यह बिल्कुल इंसान के गले की तरह है। जितने सच्चे सुर गले-बाज़ी के ऊंचे कमाल के साथ शहनाई से निकलते हैं और किसी बाजे से नहीं निकल सकते। रौशन चौकी में कम-से-कम दो शहनाई-वादक होते हैं और एक तबलची जिसकी कमर में छोटे-छोटे दो तबले बंधे होते हैं। तबले लय को क़ायम रखते हैं। एक शहनाईवादक असली सुर क़ायम रखने के लिए सुर देता है और एक आवाज़ की चलत-फिरत और गलेबाज़ी का अभ्यास दिखाता है और यही असली शख्स होता है जो ग़ज़लों या ठुमरियों वग़ैरा को अजब दिलकश सुरों में अदा करता है।

रौशन चौकी हिंदुस्तान का ख़ास दरबारी बाजा था जो बादशाहों और बड़े-बड़े अमीरों के खाने के वक़्त बजा करती थी। रात को आराम के वक़्त रौशन चौकी शाही महल के गिर्द गश्त किया करती और उसका गाना दूर से बहुत ही आनंद देता था। मुग़ल शासन में यह बहुत ही महत्वपूर्ण और आनंद-प्रद बाजा समझी जाती थी और दिल्ली में तो ख़ुदा जाने कब से इसका रिवाज था। निश्चय ही लखनऊ में रौशन चौकी बजाने वाले दिल्ली से आये होंगे मगर इस कला में प्रवीण लखनऊ के आसपास के इलाके में भी बहुत समय से मौजूद थे। बनारस के अधिकतर मंदिरों में आज तक सुबह के समय रौशन चौकी बजा करती है और तड़के मुंह-अंधेरे कहीं क़रीब से जाकर सुनिये तो बहुत ही आनंद आता है।

लखनऊ में आमतौर पर शादी के जुलूसों में रौशन चौकी बजाने वाले दूल्हा के क़रीब रहते हैं। ख़ासकर हिंदुओं की बरातों में रास्ते भर क़दम-क़दम पर उन्हें इनाम दिया जाता है। रौशन चौकी बजाने वाले मेरे ख़याल और

तजुर्बे में लखनऊ से अच्छे आजकल कहीं न मिलेंगे। जितनी लयदारी और हर चीज़ को दिलकश धुनों में सच्चे सुरों के साथ लखनऊ वाले अदा कर लेते हैं और किसी जगह के रौशन चौकी बजाने वाले नहीं अदा कर सकते। उनके कमाल और कला में दक्षता का अनुमान उस समय हो सकता है जब कोई शौक़ से सुने और दाद देता जाये। इसी बख़्शू के ताज़िये में, जिसका ज़िक्र आ चुका है, रौशन चौकी बजाने वाले भी अपना कमाल दिखाते और इस तरह जान तोड़कर कोशिश करते थे कि फिर उनके बाद और किसी की शहनाई में मज़ा न आता।

तीसरा जोड़ नौबत का है। यह हमारे पुराने वाद्यों में सबसे ज़्यादा शानदार बैंड है। इसमें दो-तीन शहनाईवादक होते हैं, एक नक़्क़ारा बजाने वाला होता है जो दो बहुत बड़े-बड़े शानदार नक़्क़ारों को अपने आगे झुकाये रखकर दोनों को एक साथ लकड़ी से बजाता है। इन नक़्क़ारों की आवाज़ बहुत बड़ी होती है और आसपास के वातावरण में दूर तक गूंजती है और साथ ही एक झांझ वाला भी रहता है।

नौबत भी ऐतिहासिक बाजा है और वैभव-प्रदर्शन के लिए मुद्दतों काम में लाया जाता रहा है। इस्लाम के इतिहास में हमें दमिश्क़, बग़दाद और मिस्र के दरबारों में भी इसका पता लगता है। बग़दाद में अब्बासी शासन के मध्य-काल में हर सामंत की ड्यौढ़ी पर नौबत बजा करती थी और आदर-सम्मान का प्रतीक समझी जाती थी। ऐसा मालूम होता है कि मुसलमानों के साथ ही यह हिंदुस्तान में आयी। यह भी मुमकिन है कि हिंदुस्तान में पहले से मौजूद हो और गो कि शहनाई न थी मगर खाली नक़्क़ारा और झांझ बजते हों। लेकिन इसका वर्तमान रूप वही है जो ईरान और इराक़ में बनने के बाद यहां आया।

बादशाहों और प्रतिष्ठित सामंतों के जुलूस और लश्कर के साथ नौबत बहुत ही अनिवार्य बाजा थी। पराक्रमी सम्राटों के जुलूस के आगे-आगे हाथियों पर नौबत बजती जाती थी। लड़ाइयों में विजेता पक्ष अपनी विजय प्रकट करने के लिए ज़ोर-ज़ोर से नौबत बजवाया करता था। शहंशाह औरंगज़ेब ने हैदराबाद को जीतकर उसके क़रीब एक पहाड़ी पर नौबत बजवायी थी जो आज तक 'नौबत पहाड़' कहलाती है। मुग़ल शासन में दरबार के उच्चतम वर्गों के धनिकों और अधिकारियों को बादशाह की तरफ से नौबत का हक़

दिया जाता जो अपनी ड्योढ़ियों और अपनी सवारी में नौबत बजवाया करते। नौबत बजानेवालों के लिए कोई ऊंचा बुर्ज चुना जाता। चुनांचे अक्सर शाही महलों के फाटकों के ऊपर नौबतखाना बनवा दिया जाता है जिसके नमूने हर बड़े शहर में जहां कोई बड़ा दरबार रह चुका हो नज़र आते हैं।

इसी पुराने रिवाज के अनुसरण में लखनऊ में आज तक यह आम है कि जिस धनी व्यक्ति के यहां शादी या कोई और उत्सव होता है तो उसके दरवाज़े पर लंबी-लंबी बल्लियां खड़ी करके और सुर्ख कपड़े और पन्नी वग़ैरा से मढ़कर एक अस्थायी नौबतख़ाना बनवा दिया जाता है।

दिम भर ठहरकर अलग-अलग समय में बार-बार नौबत बजाया करते हैं। इसी तरह जब बरातें या ताज़ियों के जुलूस चलते हैं इसी प्रकार के कृत्रिम नौबतख़ाने जो तख़्तों पर बनाये जाते हैं, कहारों के कंधों पर सबके आगे-आगे चला करते हैं और रास्ते भर उन पर नौबत बजती जाती है।

यही नौबत पुराने ज़माने में ख़ासतौर से लखनऊ के दरबार में वक़्त पहचानने का ज़रिया मान ली गयी थी। उन दिनों समय का विभाजन चौबीस घंटों में नहीं किया जाता था जो अब अंग्रेज़ी घड़ियों के रिवाज से हमारे यहां प्रचलित है। उन दिनों वक़्त के बंटवारे का यह हिसाब था कि दिन और रात के आठ पहर होते थे—चार पहर दिन के और चार रात के और हर पहर की आठ घड़ियां होती थीं। हर नौबतख़ाने में एक पतीले या नांद में पानी भरा रहता था। उसमें कटोरा, जिसके पेंदे में एक बारीक-सा सूराख़ होता था, ख़ाली करके डाल दिया जाता जो पानी पर तैरता रहता था। उस सूराख़ से आहिस्ता-आहिस्ता पानी आता रहता था। वह सूराख़ ऐसा अंदाज़ा करके बनाया जाता था कि एक घड़ी भर में पानी से भरते-भरते डूब जाये। फिर शुरू होने के बाद जब पहली बार कटोरा डूबता तो एक घड़ी बजायी जाती। जब दुबारा डूबता तो दो घड़ियां बजायी जातीं और आठवीं घड़ी के साथ गजर बजाया जाता, यानी पहले विशिष्ट ढंग से आठ आघात करके घड़ियाल पर एक साथ बहुत-सी चोटें जल्दी-जल्दी की जातीं जिसमें यह इशारा था कि पहर पूरा हो गया और घड़ियों का सिलसिला फिर एक से शुरू हो जाता।

जिन ड्योढ़ियों पर नौबत होती वहां हर पहर के ख़त्म होने पर क़रीब एक घड़ी तक नौबत बजती रहती। इस तरीके से रात-दिन के आठ पहर दिन की आठ नौबतें हुई। मगर होता यह था कि सिर्फ़ सात नौबतें ही बजा करतीं।

पहली नौबत तड़के नमाज़ के वक़्त यानी पहले पहर की शुरूआत पर बजती और सुबह की नौबत कहलाती। दूसरी उस समय जब एक पहर दिन आ जाता। यह पहरों चढ़े की नौबत कहलाती। तीसरी जब सूरज मध्याह्न पर होता यानी ठीक बाहर बजे। यह दोपहर की नौबत कहलाती। उसके बाद जब आठ घड़ियां पूरी हो जातीं तो तीसरी बजती और यह तीसरे पहर की नौबत कहलाती। इसके बाद चौथा पहर खत्म होने पर मग़रिब (सूर्यास्त) के वक़्त नौबत बजती और यह शाम की नौबत कहलाती। इसके बाद जब पांचवां पहर पूरा हो जाता तो पांचवी नौबत बजती जो पहर रात गये की नौबत कहलाती फिर जब छठी नौबत बजती जो आधीरात या दोपहर की नौबत कहलाती। इसके बाद जब सातवां पहर पूरा हो जाता और रात के तीन पहर गुजर जाते तो उस वक़्त लोगों के आराम में बाधा न पड़ने के ख़याल से नौबत न बजायी जाती, सिर्फ गजर बजा दिया जाता। फिर इसके बाद आठवें पहर की समाप्ति पर सुबह की नौबत बजती।

घंटों का यह हिसाब था जो मुग़ल दरबार में और लखनऊ में सल्तनत के खात्मे तक प्रचलित रहा और कलकत्ता में जब तक वाजिद अली शाह जिंदा रहे इसी हिसाब से पहर और घड़ियां बजती रहीं मगर इतने ही दिनों में वह हिसाब इतना आसान हो गया कि अब विरला कोई व्यक्ति होगा जो पहरों और घड़ियों का हिसाब न जानता हो। मगर खराबी यह है कि दिन-रात के घंटों के बंटवारे के बदल जाने के बावजूद पुराना तरीक़ा आज भी हमारी रग-रग में समाया हुआ है। हम कहते हैं, "घड़ी भर में आऊंगा, दोपहर को सोऊंगा, पहर दिन चढ़े खाना खाऊंगा।" मगर हम नहीं जानते कि पहर कितना होता है और घड़ी किसे कहते हैं। हम आमतौर पर सुना करते हैं कि 'पहरा बैठ गया' और 'पहरे के सिपाही' मगर नहीं जानते कि पहरा शब्द इसी पहर से निकला है। इसलिए कि इन दिनों पहर-पहर भर की नौकरी हर एक को देनी पड़ती थी।

समय-विभाजन का यह पुराना हिसाब हिंदुओं का है, मगर ईरान में भी पुराने ज़माने में यही हिसाब प्रचलित था और इसी हिसाब से नौबत बजा करती थी। हमारे वर्तमान हिसाब से एक पहर तीन घंटों का हुआ करता था।

नौबत बजाने वाले भी लखनऊ में ऐसे उच्च कोटि के थे कि हर जगह और हर शहर में यहीं से जाया करते थे या यहां के उस्तादों के शागिर्द होते थे, लेकिन

नौबत में कोई तरक़्क़ी नहीं हुई। बजाने वालों की संख्या वही रही, बाजे वही रहे ग्रौर बजाने का तरीक़ा वही रहा। फिर भी इतना ज़रूर हुग्रा कि लखनऊ के म्यूज़िक स्कूल ने जिन चीज़ों ग्रौर जिन धुनों को चुनकर ग्राम समाज में लोकप्रिय कर दिया था वही धुनें ग्रौर चीज़ें नक़्क़ारखाने में भी सुनी जाने लगीं। लेकिन इसके बावजूद कि नौबत बजाने का जो पुराना तरीक़ा था वह भी ग्रपनी हद पर क़ायम रहा। ग्रमीर खुसरो ने ग्रपने ज़माने के नौबतवादन का जो चित्रण ग्रपनी कविता में किया है उससे उस समय के नौबतवादन के ढंग का ग्रनुमान हो सकता है। वही शैली ग्राजकल प्रचलित है ग्रौर उसमें बहुत कम फ़र्क़ ग्राया है, लेकिन उस पर भी शहनाई से जो धुनें ग्रौर गीत बजाते हैं उन पर लखनऊ के संगीत का जो कुछ ग्रसर पड़ा है वह सुनते ही नज़र ग्रा जाता है।

तुरही ग्रौर क़रना हिंदुस्तान के बहुत पुराने राष्ट्रीय वाद्य हैं जिनका प्रयोग विशेषकर सेना के साथ होता था। तुरही की सूरत से मालूम होता है कि यह ग्रंग्रेज़ों के साथ हिंदुस्तान में ग्रायी ग्रौर उनके ग्रागमन के ग्रारंभिक काल में प्रचलित हो गयी। मगर क़रना (शंख) खास ईरानी बाजा है। उसकी ग्रावाज़ में कुछ ऐसा रौब-दाब है कि युद्धभूमि में रौब बिठाने के लिए वह बहुत उपयुक्त है। इन दोनों बाजों का भी लखनऊ के जुलूसों में रिवाज है, लेकिन स्थायी वाद्य के रूप में नहीं बल्कि फ़ौजी दस्तों या पलटनों के साथ एक तुरहीवादक या क़रना बजाने वाला रहा करता है जो थोड़े-थोड़े ग्रवकाश के बाद ग्रपना बाजा बजाकर ग्रपने गिरोह की उपस्थिति की सूचना दे दिया करता है। इन दोनों बाजों की टक्कर का हिंदुग्रों का पुराना बाजा नरसिंघा है जो ग्रधिकतर हिंदुग्रों के मज़हबी जुलूसों के साथ बजा करता है। ये बाजे दिल्ली से ग्राये ग्रौर जैसे थे वैसे ही रहे ग्रौर शायद उनमें तरक़्क़ी की गुंजाइश भी नहीं है।

बिगुल ग्रौर डंका जो ग्राजकल लखनऊ के शादी के जुलूसों में नज़र ग्राया करता है वह दरग्रसल नये-पुराने बाजों का एक निकृष्ट कोटि का समन्वय है। डंके से तात्पर्य वह नक़्क़ारा है जो प्राचीन काल में सेना तथा विजेताग्रों के साथ घोड़े पर रहा करता था ग्रौर उस पर चोट पड़ते ही लोगों पर ऐसा रौब पड़ता कि बड़ों-बड़ों के कलेजे दहल जाया करते। बिगुल या ब्यूगल ग्रंग्रेज़ी फ़ौज का वह बाजा है जिसके ज़रिये से फ़ौज को ग्रावश्यकतानुसार चलने ग्रौर दूसरे कामों का हुक्म दिया जाता था। लिहाज़ा ग्रब डंके के साथ बिगुल को शामिल

करके एक नया जोड़ बना लिया गया जो शादी के जुलूसों के साथ नज़र ग्राया करता है। मगर चूंकि यह किराये के ग्रौर बहुत हल्के दर्जे के लोग होते हैं इसलिए उनका लिबास, उनके घोड़े ग्रौर खुद उनकी सूरतें ऐसी हेय होती हैं कि उनसे बजाये रोनक़ के ग्रौर एक घृणास्पद दृश्य उपस्थित हो जाता है।

ग्रब सबके ग्राखिर में ग्रौर सबसे ज्यादा प्रगतिशील वाद्य ग्रंग्रेज़ी वाद्य है। यह शुद्ध रूप से ग्रंग्रेज़ों का लाया हुग्रा है जो उनसे पहले यहां कभी नहीं देखा गया। लखनऊ में न जाने क्यों, मगर इसके बजाने वाले सिर्फ़ मेहतर ही हैं जो टट्टी साफ़ करने के ग्रलावा इस काम को भी करते हैं। संभवत: इसका कारण यह हो कि शुरू-शुरू में हिंदु-मुसलमान दोनों गिरोहों को ईसाइयों से ऐसी नफ़-रत थी कि वे ग्रगर किसी बर्तन को हाथ लगा देते तो हमेशा के लिए छूत हो जाता। ग्रौर इस बाजे को ग्रंग्रेज़ों से सीखना ग्रौर उसे मुंह लगाना पड़ता इस-लिए सिवाय मेहतरों के ग्रौर किसी को इसे ग्रपनाने का साहस न हुग्रा। बहरहाल ग्रब यह मेहतरों का क़रीब-क़रीब लाज़मी पेशा हो गया है।

चूंकि इस काम को यहां एक ऐसे गिरोह ने ग्रपनाया जो सबसे ग्रधिक तिरस्कृत है ग्रौर जिसे संगीत-कला से दूर का भी वास्ता नहीं, इसलिए उम्मीद न थी कि इस कला में यहां ज़रा भी तरक़्क़ी हो सकेगी। मगर ऐसा नहीं हुग्रा। मेहतरों में ही तरक़्क़ी का शौक़ पैदा हुग्रा ग्रौर चूंकि शहर की सोसा-इटियों में संगीत की धुनें फैलीं ग्रौर उनकी रुचि का एक ग्रंग बन गयी थीं इस-लिए मेहतरों को मजबूर होना पड़ा कि इन पाश्चात्य ग्ररगनों में ग्रपनी धुनों को ग्रदा करें। ग्रंग्रेज़ों या ग्रंग्रेज़ी बाजे बजाने वाले फ़ौजियों से उन्होंने सिर्फ़ यह हासिल किया था कि ग्रंग्रेज़ी बाजों का बजाना ग्राजाये या दो-चार पाश्चात्य संगीत की धुनें सीख ली होंगी। लेकिन ग्रब उन्होंने हिंदुस्तानी धुनों में प्रचलित चीज़ों को बजाना शुरू किया तो रोज़-ब-रोज़ उसमें तरक़्क़ी ही करते गये।

ग्रंग्रेज़ी बाजा मैंने हर जगह सुना है ग्रौर सब जगह वही ग्रंग्रेज़ी की चीजें बजायी जाती हैं जिनको उन्होंने ग्रपने ग्रंग्रेज़ी बैंड मास्टरों से सीख लिया है। यह कहीं न नज़र ग्राया कि बाजे को बजाने वालों ने भारतीय संगीत के सांचे में ढाल लिया हो। यह बात ग्रगर ग़ौर से देखिये तो लखनऊ में नज़र ग्रायेगी कि जिन ग़ज़लों या ठुमरियों को रौशन चौकीवाले शहनाई से ग्रदा कर रहे हैं उन्हीं चीज़ों को ग्रंग्रेज़ी बाजे वाले ग्रपने बाजों से ग्रदा कर रहे हैं, ग्रौर

ऐसी खूबी से कि ख्वाहमख्वाह सुनने को जी चाहता है।

अंग्रेज़ी बाजे के बैंड लखनऊ में मेहतरों के कारण सैकड़ों क़ायम हो गये हैं जिनमें से कुछ ऐसे हैं कि उनमें पच्चीस-पच्चीस, तीस-तीस बजाने वाले होते हैं और कुछ में छह-सात या चार-पांच ही। उन्होंने गोरों की वर्दियों में भारतीय रुचि के अनुरूप परिवर्तन करके अपने लिए रंग-मंच की वर्दियां बना ली हैं और अगर वे वर्दियां साफ और नयी हों तो उनको पहनकर जब वे बरात के साथ अरगन बाजा बजाते हुए चलते हैं तो बहुत अच्छे और शानदार मालूम होते हैं।

वर्दी की यह विशेषता इन्हीं लोगों में है बाक़ी दूसरे बाजेवालों को कभी इसका खयाल नहीं आया कि अपने लिए कोई वर्दी बना लें। वे बहुत ही गंदे और भद्दे कपड़े पहने हुए होते हैं। मगर अंग्रेज़ी बैंड वाले मेहतरों ने अपने लिए तरह-तरह की वर्दियां बनाकर अपनी शान बढ़ाली है और भारतीय संगीत को अंग्रेज़ी अरगनों में शामिल करके लोगों में अपनी क़द्र भी ज़्यादा कर ली है।

## [ 26 ]

मानव समाज में सबसे ज़्यादा ज़रूरी और सबसे महत्वपूर्ण खाना-पीना है। किसी भी वर्ग या जाति की उन्नति की प्रक्रिया में वह सबसे पहले अपनी रुचि, अपने शिष्टाचार और अपनी नवीनता को अभिव्यक्ति खाने की मेज पर या दस्तरख्वान पर करता है। इसीलिए अब हम यह बताना चाहते हैं कि बावरचीखाने और दस्तरख्वान के बारे में लखनऊ के पूर्वी दरबार ने क्या रंग दिखाया और क्या-क्या आविष्कार किये और इस कला में यहां के लोगों ने किस हद तक तरक़्क़ी की।

अवध की संस्कृति का इतिहास शुजाउद्दौला से और उसके भी अंतिम काल से प्रारंभ होता है। यानी उस वक़्त से जबकि वह बक्सर की लड़ाई में हारकर और अंग्रेज़ों से नया क़रार करके ख़ामोश बैठे और सैनिक गतिविधि की ओर से उपेक्षा बरती गयी। उस ज़माने में उनके बावरचीखाने के मुंतज़िम हसन रज़ा खां उर्फ मिर्ज़ा हसनू थे जो दिल्ली से आये हुए थे और एक प्रतिष्ठित घराने से संबंध रखते थे। सफ़ीपुर, ज़िला उन्नाव, के एक शेखज़ादे

मौलवी फ़ज़्ले अज़ीम जो लखनऊ में तालीम हासिल करने आये थे ख़ुशक़िस्मती से मिर्ज़ा हसनू के घर तक पहुंच गये और उनके साथ ही मिलकर और खेल-कूदकर बड़े हुए थे। उनको उन्होंने अपनी ओर से बावरचीख़ाने का नायब मुंतज़िम मुक़र्रर करा दिया था और उनका नियम था कि ख़ासे[1] के ख़्वानों (थाल) को ठीक से सजाकर और उन पर अपनी मुहर लगाकर नवाबी ड्योढ़ी मे ले जाते और बहू बेगम साहिबा की ड्योढ़ी की ख़ास मेहरियां धनिया, पनिया और मीना के हवाले कर देते। इसका मात्र कारण यह था कि ये मेहरियां उनके ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई न होने दें। मौलाना ने इन मेहरियों से भाईचारा कर लिया था। चुनांचे ये मेहरियां बहुत ही नाज़ुक मौक़ों पर उनके काम आयीं।

नवाब शुजाउद्दौला का यह नियम था कि महल के अंदर अपनी बीवी बहू बेगम साहिबा के साथ खाना खाते। मेहरियां ख़्वानों को बेगम साहिबा के सामने लेजाकर खोलतीं और दस्तरख़्वान पर खाना चुना जाता।

नवाब और बेगम के लिए हर रोज़ छह बावरचीख़ानों से खाना आया करता : पहले तो, ऊपर लिखे नवाबी बावरचीख़ाने से, जिसके प्रबंधक मिर्ज़ा हसनू थे, मौलवी फ़ज़्ले अज़ीम ख़ासे के ख़्वान ख़ुद लेकर ड्योढ़ी में हाज़िर होते। उस बावरचीख़ाने मे दो हज़ार रुपये रोज़ की पकाई होती जिसका यह मतलब हुआ कि बावरचियों और दीगर नौकरों की तनख़्वाहों के अलावा साठ हज़ार रुपये माहवार या सात लाख बीस हज़ार रुपये सालाना की रक़म सिर्फ खाने-पीने की चीज़ों और ग़िज़ाओं की क़ीमत में खर्च होती थी; दूसरे, सरकारी छोटे बावरचीख़ाने से जिसके प्रबंधक पहले तो मिर्ज़ा हसन अली, तोशाख़ाने के प्रबंधक, थे लेकिन बाद में अंबर अली खां ख़्वाजासरा के सुपुर्द हो गया था। उसमें तीन सौ रुपये रोज़ यानी एक लाख आठ हज़ार रुपये साल खानों की तैयारी मे ख़र्च होते थे; तीसरे, ख़ुद बहू बेगम साहिबा के महल के अंदर का बावरचीख़ाना जिसका प्रबंधक बहार अली खां ख़्वाजासरा था; चौथे, नवाब, बेगम साहिबा यानी शुजाउद्दौला की वाल्दा के बावरचीख़ाने से; पांचवे, मिर्ज़ा अली खां के बावरचीख़ाने से और छठे, नवाब सालारजंग के बावरचीख़ाने से। आख़िर में उल्लिखित दोनों रईस बहू बेगम साहिबा के भाई और शुजाउद्दौला बहादुर के साले थे।

इस दौर के ये छह बावरचीख़ाने शाही बावरचीख़ाने के बराबर थे और

---

[1] बादशाहों का खाना।

जिनमें रोज़ पुरतक़ल्लुफ और स्वादिष्ट खाने नवाब के ख़ासे के लिए तैयार किये जाते थे। एक दिन किसी खाने में जो बड़े सरकारी बावरचीख़ाने से आया था, ख़ास नवाब साहब के सामने एक मक्खी निकल आयी। नवाब ने क्रुद्ध होकर मालूम किया कि यह खाना कहां से आया है? घनिया ने खयाल किया कि अगर सरकारी बावरचीख़ाने का नाम लेती हूं तो मौलाना भाई की मुसीबत आ जायेगी। बोली, "हुज़ूर, यह खाना नवाब सालारजंग बहादुर के वहां से आया है।"

नवाब शुजाऊद्दौला के बाद दरबार फ़ैज़ाबाद से लखनऊ चला गया और नवाब आसफ़उद्दौला ने मिर्ज़ा हसन रज़ा खां को 'सरफ़राज़उद्दौला' का ख़िताब देकर वज़ारत का खिलअत दिया तो बावरचीखाने के प्रबंधक के पद को अपनी शान के खिलाफ़ समझकर उन्होंने मौलवी फ़ज़्ले अज़ीम साहब को सरकारी बावरचीखाने का स्थायी प्रबंधक नियुक्त कर दिया। मगर मौलवी फ़ज़्ले अज़ीम साहब पहले जिस तरह खासे के ख़्वान लेकर बहू बेगम साहिबा की ड्योढ़ी पर हाज़िर हुआ करते थे, उसी तरह अब लखनऊ में भी नवाब आसफ़उद्दौला बहादुर की ड्योढ़ी पर हाज़िर होने लगे और अपने दूसरे रिश्तेदारों को भी बुला लिया और अपने काम में शरीक कर लिया। रिश्तेदारों में उनके सगे भाई मौलवी फ़ायक़ अली और चचेरे भाई गुलाम अज़ीम और गुलाम मख़्दूम ज़्यादा आगे-आगे थे और बारी-बारी चारों भाई ड्योढ़ी पर खासा ले जाया करते थे।

आसफ़उद्दौला बहादुर के बाद वजीर अली ख़ां के अल्प कालीन शासन-काल में तफ़ज़्ज़ुल हुसैन खां वज़ीर हुए तो उन्होंने उन सफ़ीपुर के भाइयों को हटाकर अपने लाये हुए गुलाम मुहम्मद उर्फ़ बड़े मिर्ज़ा को बावरचीख़ाने का प्रबंधक नियुक्त कर दिया।

इन घटनाओं से मालूम होता है कि लखनऊ को अपने प्रारंभिक काल ही में ऐसे बड़े-बड़े ज़बरदस्त और शौक़ीनी के बावरचीखाने मिले जिनका लाज़िमी नतीजा यह था कि बहुत ही बढ़िया क़िस्म के बावरची तैयार हों। खानों की तैयारी में विविधता बढ़े, नये-नये खाने ईजाद किये जायें और जो भी प्रवीण रसोइया दिल्ली और दूसरे स्थानों से आये वह यहां की ख़राद पर चढ़कर अपने हुनर में ख़ास क़िस्म का कमाल और अपने तैयार किये हुए खानों में नयी तरह की नफ़ासत और ख़ास क़िस्म का स्वाद पैदा करे।

यह एक ग्राम बात है कि जो शख्स जो काम करता है उसमें कुछ-न-कुछ तरक़्क़ी जरूर करता है ग्रौर उसका शौक़ीन बन जाता है। चुनांचे लखनऊ में खाने के शुरू के शौक़ीन भी वही रईस माने जाते हैं जिनके बावरचीखानों का ऊपर ज़िक्र ग्रा चुका है। लोग कहते हैं कि खुद हसन रज़ा खां सरफराज़उद्दौला का दस्तरख्वान बहुत विशाल था। खाना खिलाने के वह बहुत शौक़ीन थे ग्रौर जब उनकी यह रुचि देखकर सबसे बड़ा सरकारी बावरचीखाना उनके सुपुर्द हो गया तो उन्हें ग्रपने हुनर में नवीनता पैदा करने ग्रौर ग्राविष्कार करने का कहां तक मौक़ा न मिला होगा ?

ग्रौर इसीका नतीजा यह भी था कि यों तो इस दुनिया में खाने के शौक़ीन सैकड़ों रईस पैदा हो गये, मगर नवाब सालारजंग के खानदान को ग्राखिर तक नेमतख़ाने की ईजाद ग्रौर तरक़्क़ी में ख़ास शोहरत हुई।

जानकार सूत्रों से मालूम हुग्रा है कि खुद नवाब सालारजंग का बावरची जो सिर्फ उनके लिए खाना तैयार किया करता था, बारह सौ रुपये माहवार तनख्वाह पाता था जो तनख्वाह ग्राज भी किसी बड़े-से-बड़े हिंदुस्तानी दरबार में किसी बावरची को नहीं मिलती। खास उनके लिए वह ऐसा भारी पुलाव पकाता कि सिवाय उनके ग्रौर कोई उसे हज़म न कर सकता था। यहां तक कि एक दिन नवाब शुजाउद्दौला ने उनसे कहा, "तुमने कभी हमें वह पुलाव न खिलाया जो खास ग्रपने लिए पकवाया करते हो ?" ग्रर्ज़ किया, "बेहतर है, ग्राज हाज़िर करूंगा।" बावरची से कहा, "जितना पुलाव रोज़ पकाते हो, ग्राज उसका दूना पकाग्रो।" उसने कहा, "मैं तो ग्रापके खासे के लिए नौकर हूं, किसी ग्रौर के लिए नहीं पका सकता।" कहा, "ये नवाब साहब ने फ़रमाइश की है। मुमकिन है मैं उनके लिए न ले जाऊं ?" उसने कहा, "कोई हो, मैं तो ग्रौर किसी के लिए नहीं पका सकता।" जब सालारजंग ने ज़्यादा ज़ोर दिया तो उसने कहा, "बेहतर, मगर शर्त यह है कि हुज़ूर खुद लेजाकर ग्रपने सामने खिलायें ग्रौर कुछ लुक्मों (ग्रास) से ज़्यादा न खाने दें ग्रौर एहतियातन ग्राबदारखाने (पानी के घड़ों ग्रादि) का इंतज़ाम भी करके ग्रपने साथ ले जायें।" सालारजंग ने ये शर्तें मान लीं। ग्राखिर बावरची ने पुलाब तैयार किया ग्रौर सालारजंग खुद लेकर पहुंचे ग्रौर दस्तरख्वान पर पेश किया। शुजाउद्दौला ने खाते ही बहुत तारीफ़ की ग्रौर बड़े शौक़ से खाने लगे, मगर दो-चार ही लुक़्मे खाये थे कि सालारजंग ने बढ़कर हाथ पकड़ लिया ग्रौर कहा, "बस इससे

ज़्यादा न खाइये ।" शुजाउद्दौला ने हैरत से उनकी सूरत देखी और कहा, "इन चार लुक़्मों में क्या होता है ?" और यह कहकर ज़बरदस्ती दो-एक लुक़्मे और खा ही लिये । अब प्यास लगी । सालारजंग ने अपने आबदारखाने से जो साथ गया था पानी मंगवा-मंगवाकर पिलाना शुरू किया । बड़ी देर के बाद ख़ुदा-ख़ुदा करके प्यास बुझी और सालारजंग अपने घर आये ।

आजकल की रुचि को देखते हुए यह बात किसी पौष्टिक पदार्थ की विशेषता नहीं समझी जा सकती, मगर उस ज़माने में और पुरानी रुचि के खाने वालों के लिए भी अब पौष्टिक पदार्थ का असल यही स्तर है कि वे पदार्थ स्वादिष्ट हों मगर असर में इतने पौष्टिक और गरिष्ट हों कि हर मेदा उन्हें सहन न कर सके ।

दूसरा कमाल यह था कि किसी एक चीज़ को अनेक प्रकार से दिखाकर ऐसा बना दिया जाये कि दस्तरख्वान पर ज़ाहिर में तो यह नज़र आये कि बीसियों क़िस्म के खाने मौजूद हैं मगर चखिये और ग़ौर दीजिये तो वे सब एक ही चीज़ हैं । मसलन विश्वस्तसूत्रों से सुना जाता है कि दिल्ली के शाहज़ादों में से मिर्ज़ा आसमान क़द्र, मिर्ज़ा ख़ुर्रम बख़्त के बेटे, जो लखनऊ में आकर शीआ हुए और चंद रोज़ यहां ठहरने के बाद बनारस में जाकर रहने लगे, लखनऊ में अपने प्रवास के समय वाजिद अली शाह ने उनकी दावत की तो दस्तरख्वान पर एक मुरब्बा लाकर रखा गया जो देखने में बहुत ही नफ़ीस, स्वादिष्ट और अच्छा मालूम होता था । मिर्ज़ा आसमान क़द्र ने उसका ग्रास खाया तो चकराये इसलिए कि वह मुरब्बा न था बल्कि गोश्त का नमकीन क़ोरमा था जिसकी सूरत रकाबदार (बेरा) ने बिल्कुल मुरब्बे की-सी बना दी थी । यों धोखा खा जाने पर उन्हें शर्मिंदगी हुई और वाजिद अली शाह खुश हुए कि दिल्ली के एक प्रतिष्ठित राजकुमार को धोखा दे दिया ।

दो-चार रोज़ बाद मिर्ज़ा आसमान क़द्र ने वाजिद अली शाह की दावत की और वाजिद अली शाह यह खयाल करके आये थे कि मुझे ज़रूर धोखा दिया जायेगा । मगर उस होशियारी पर भी धोखा खा गये इसलिए कि आसमान क़द्र के बावरची शेख हुसैन अली ने यह कमाल किया था कि गो दस्तरख्वान पर सैकड़ों क़िस्म के खाने चुने हुए थे : पुलाव[1] था, ज़र्दा[2] था, बिरयानी[3] थी, क़ोरमा[4] था, कबाब थे, तरकारियां थीं, चटनियां थीं, अचार थे,

---

[1] चावल और गोश्त से बना एक खाद्य पदार्थ; [2] मीठे चावल; [3] चावल और गोश्त का बना मसालेदार पदार्थ; [4] गोश्त की बनी तरकारी ।

रोटियां थीं, परांठे थे, शीरमालें थीं, ग़रज़ कि हर नेमत मौजूद थी। मगर जिस चीज़ को चखा शकर की बनी हुई थी—सालन था तो शकर का, चावल थे तो शकर के, अचार था तो शकर का और रोटियां थीं तो शकर की, यहां तक कि कहते हैं तमाम बर्तन, दस्तरख्वान, और सिलफ़ची, लोटा तक शकर के थे। वाजिद अली शाह घबरा-घबराकर एक-एक चीज़ पर हाथ डालते थे और धोखे पर धोखा खाते थे।

हम बयान कर आये हैं कि नवाब शुजाउद्दौला बहादुर के ख़ासे पर छह जगहों से खाने के ख्वान आया करते थे। मगर यह उन्हीं तक सीमित न था, उनके बाद भी यह तरीक़ा जारी रहा कि अक्सर अमीर खासकर शाही खानदान के लोगों को यह इज़्ज़त दी जाती थी कि वे ख़ासे के लिए ख़ास-ख़ास क़िस्म के खाने रोज़ाना भेजा करते थे।

चुनांचे हमारे दोस्त नवाब मुहम्मद शफ़ी खां साहब बहादुर नैशापुरी का बयान है कि उनके नाना नवाब आग़ा अली हसन ख़ां साहब के घर से, जो नैशापुरियों में सबसे ज़्यादा नामवर और प्रतिष्ठित थे, बादशाह के लिए रौग़नी रोटी और घी जाया करता था। रौग़नी रोटियां इतनी बारीक और सफ़ाई से पकायी जातीं कि मोटे काग़ज़ से ज़्यादा मोटी न होतीं। और फिर यह मुमकिन न था कि चित्तियां पड़ें और न यह मजाल थी कि किसी जगह पर कच्ची रह जायें। मीठा घी भी एक ख़ास चीज़ था जो बड़ी देखभाल से तैयार कराया जाता था।

दिल्ली में बिरयानी का ज़्यादा रिवाज है और था। मगर लखनऊ की सफ़ाई-सुथराई ने पुलाव को उस पर तरजीह दी। आम लोगों की नज़र में दोनों लगभग एक ही हैं, मगर बिरयानी में मसाले की ज़्यादती से सालन मिले हुए चावलों की शान पैदा हो जाती है और पुलाव में इतना स्वाद और इतनी सफ़ाई-सुथराई थी कि बिरयानी उसके सामने मलग़ोबा-सी मालूम होती है। इसमें शक नहीं कि मामूली क़िस्म के पुलाव से बिरयानी अच्छी मालूम होती है। वह पुलाव ख़ुश्का[1] मालूम होता है जो खराबी बिरयानी में नहीं होती। मगर बढ़िया क़िस्म के पुलाव के मुक़ाबिले बिरयानी नफ़ासतपसंद लोगों की नज़र में बहुत ही लद्धड़ और बदनुमा खाना है। बस यही फ़र्क था जिसने लखनऊ में पुलाव को ज़्यादा प्रचलित कर दिया।

---

[1] उबाले हुए चावल।

पुलाव वहां कहने को तो सात तरह के मशहूर हैं, इनमें से भी गुलज़ार पुलाव, नूर पुलाव, कोको पुलाव, मोती पुलाव और चंबेली पुलाव के नाम हमें इस वक़्त याद हैं। मगर सच्चाई यह है कि यहां के ऊंचे लोगों के दस्तरख्वान पर बीसियों तरह के पुलाव हुआ करते थे। मुहम्मद अली शाह के बेटे मिर्ज़ा अज़ीमउश्शान ने एक शादी के मौक़े पर 'समधी मिलाप' की दावत की थी जिसमें खुद नवाब वाजिद अली शाह भी शरीक थे। उस दावत में दस्तरख्वान पर नमकीन और मीठे कुल सत्तर क़िस्म के चावल थे।

गाज़ीउद्दीन हैदर बादशाह के शासन-काल में नवाब सालारजंग के खानदान से एक रईस थे—नवाब हुसैन अली खां, उन्हें खाने का बड़ा शौक़ था खास तौर से पुलाव। उनके दस्तरख्वान पर बीसियों तरह के पुलाव हुआ करते और वे ऐसी नफ़ासत के साथ तैयार किये जाते कि शहर भर में उनकी शोहरत हो गयी। यहां तक कि रईसों और अमीरों में से कोई उनके मुक़ाबिले की जुर्रत न कर सका। खुद बादशाह उनसे ईर्ष्या करते थे और खाने के शौक़ीनों में वह 'चावल वाले' मशहूर हो गये थे।

नसीरउद्दीन हैदर के शासन-काल में बाहर का एक बावरची आया जो पिस्ते और बादाम की खिचड़ी पकाता, बादाम के सुडौल और साफ़-सुथरे चावल बनाता, पिस्ते की दाल तैयार करता और इस नफ़ासत से पकाता कि मालूम होता कि बहुत ही उम्दा, नफ़ीस और फरैरी माश की खिचड़ी है मगर खाइये तो और ही लज़्ज़त थी और ऐसा ज़ायका जिसका मज़ा ज़बान को ज़िंदगी भर न भूलता।

नवाब सआदत अली खां के ज़माने में एक बाकमाल बावरची सिर्फ चावलों की गुलत्थी पकाता, मगर ऐसी गुलत्थी जो शाही दस्तरख्वान की रौनक और तत्कालीन नवाब को बहुत ही पसंद थी। शहर के सारे रईस इसी तमन्ना में रहते थे कि उसका एक ग्रास खाने को मिल जाये। मशहूर है कि नवाब आसफ़उद्दौला के सामने एक नया बावरची पेश हुआ, पूछा गया, "क्या पकाते हो?" कहा, "सिर्फ माश (उड़द) पकाता हूं।" पूछा, "तनख्वाह क्या लोगे?" कहा, "पांच सौ रुपये।" नवाब ने नौकर रख लिया। मगर उसने कहा, "मैं चंद शर्तों पर नौकरी करूंगा।" पूछा, "वो शर्त क्या हैं?" कहा, "जब हुज़ूर को मेरे हाथ की दाल का शौक़ हो एक रोज़ पहले से हुक्म हो जाये और जब इत्तला दूं कि तैयार है तो हुज़ूर उसी वक़्त खालें।" नवाब ने शर्तें भी मंज़ूर कर लीं।

चंद माह के बाद उसे दाल पकाने का हुक्म हुआ। उसने तैयार की और नवाब को ख़बर की। उन्होंने कहा, "अच्छा दस्तरख्वान बिछा।" मगर नवाब बातों में लगे रहे। उसने जाकर फिर इत्तला दी कि "खासा तैयार है।" नवाब को फिर आने में देर हुई। उसने तीसरी बार ख़बर की और इस पर भी नवाब साहब न आये तो उसने दाल की हांडी उठाकर एक सूखे पेड़ की जड़ में उंडेल दी और इस्तीफ़ा देकर चला गया। नवाब को अफ़सोस हुआ, ढूंढ़वाया मगर उसका पता न लगा। मगर चंद रोज़ बाद देखा तो जिस दरख़्त के नीचे दाल फेंकी गयी थी वह हरा-भरा हो गया था। इसमें शक नहीं कि इस घटना में अत्युक्ति है जिसने इसे असंभाव्य की श्रेणी में पहुंचा दिया है, मगर इससे इतना अंदाज़ा ज़रूर हो जाता है कि दरबार में बावरचियों की कैसी क़द्र होती थी और कोई बाकमाल बावरची आ जाता तो उसे किस उदारता के साथ रोक लिया जाता था।

अमीरों का यह शौक़ देखकर बावरचियों ने भी तरह-तरह की नयी चीज़ें ईजाद करना शुरू कर दीं: किसी ने पुलाव अनारदाना ईजाद किया, उसमें हर चावल आधा पुलक की तरह लाल और चमकदार होता और आधा सफेद, मगर उसमें भी शीशे की-सी चमक मौजूद होती। जब दस्तरख्वान पर लाकर लगाया जाता तो मालूम होता कि प्लेट में चितकबरे रंग के जवाहिरात रखे हुए हैं। एक और बावरची ने नौरत्न पुलाव पकाकर पेश किया जिसमें नौरत्न के मशहूर जवाहिरात की तरह नौ रंग के चावल मिला दिये और फिर रंगों की सफ़ाई और आबोताब अजीब लुत्फ़ पैदा कर रही थी। इसी तरह की ख़ुदा जाने कितनी ईजादें हो गयीं जो तमाम घरों और बावरचीख़ानों में फैल गयीं।

खाने के शौक़ीन पुराने रईसों में से एक नवाब मिर्ज़ा खां नैशापुरी थे जो कहते हैं कि चौदह हज़ार माहवार का वसीक़ा पाते थे। अच्छा खाने के शौक़ में उन्होंने वह कमाल दिखाया और ऐसे अच्छे-अच्छे बावरची जमा कर लिये कि शहर में उनके दस्तरख्वान की धूम मच गयी। दूसरे मिर्ज़ा हैदर थे। यह भी नैशापुरी और ऐसे सम्मानित रईस थे कि तमाम नैशापुरी उनको अपना सरताज और बुजुर्ग मानते थे। उनकी शान यह थी कि जिसकी दावत में जाते, उनका आबदारखाना, गिलौरियों (पान) का सामान और सौ-डेढ़सौ हुक़्क़े उनके साथ जाते। उनके इस शौक़ से बहुत से दरम्याने दर्जे के लोगों को बड़ी

मदद मिल जाती। किसी-न-किसी तरह खुशामद करके उनसे दावत कबूल करा लेते और उनके कबूल कर लेने के ये मानी थे कि महफ़िल में हुक़्क़ों, गिलौरियों और पानी का इंतिजाम उनके जिम्मे हो गया और फिर कैसा इंतिज़ाम जो किसी बड़े-से-बड़े रईस के लिए भी मुमकिन न था।

खाना तैयार करने वाले तीन गिरोह हैं : पहले देगशोर जिनका काम देगों का धोना और बावर्चियों की मातहती में मज़दूरी करना है; दूसरे बावरची, ये लोग खाना पकाते है और अक्सर बड़ी-बड़ी देगें तैयार करके उतारते हैं, तीसरे रकाबदार, यही लोग अपने हुनर में माहिर होते हैं। ये लोग आमतौर पर छोटी हांडियां पकाते हैं और बड़ी देगें उतारना अपनी शान और मर्तबे से नीचा काम समझते हैं। अगर्चे अक्सर बावरची भी छोटी हांडियां पकाते हैं मगर रकाबदारों का काम सिर्फ़ छोटी हांडियों तक सीमित था। ये लोग मेवों के फूल कतरते, खाना निकालने और लगाने में सलीक़ा, नफ़ासत और तकल्लुफ़ जाहिर करते। चोभों और क़ाबों में जो पुलाव ज़्यादा निकाला जाता उस पर मेवे और दूसरे तरीक़ों से गुलकारियां करते और बेल-बूटे बनाते थे। बहुत ही नफ़ीस और स्वादिष्ट मुरब्बे और अचार तैयार करते और खानों में अपनी दिलचस्पी के कारण सैकड़ों तरह की नवीनताएं पैदा करते।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर को जो अवध के पहले बादशाह थे, परांठे पसंद थे। उनका बावरची हर रोज़ छह परांठे पकाता और फ़ी परांठा पांच सेर के हिसाब से ३० सेर घी रोज़ लिया करता। एक दिन प्रधान मंत्री मोतमद-उद्दौला आग़ा मीर ने शाही बावरची को बुलाकर पूछा, "अरे भई यह तीस सेर घी क्या होता है?" कहा, "हुजूर परांठे पकाता हूं।" कहा, "भला मेरे सामने तो पकाओ।" उसने कहा, "बहुत खूब।" परांठे पकाये। जितना घी खपा खपाया और जो बाक़ी बचा फेंक दिया। मोतमदउद्दौला आग़ा मीर ने यह देख कर हैरत से कहा, "पूरा घी तो खर्च नहीं हुआ?" उसने कहा, "अब यह घी तो बिल्कुल तेल हो गया, इस क़ाबिल थोड़े ही है कि किसी और खाने में लगाया जाय।" वज़ीर से जवाब तो न बन पड़ा मगर हुक्म दे दिया कि, "आइंदा से सिर्फ़ पांच सेर घी दिया जाया करे, फ़ी परांठा एक सेर घी बहुत है।" बावरची ने कहा, "बेहतर, मैं इतने ही घी में पका दिया करूंगा।" मगर वज़ीर की रोक-टोक से ऐसा नाराज़ हुआ कि मामूली क़िस्म के परांठे पकाकर बादशाह के खाने पर भेज दिये। जब कई दिन यही हालत रही तो बादशाह

ने शिकायत की कि "ये परांठे अब कैसे आते हैं ?" बावरची ने अर्ज़ किया, "हुजूर जैसे परांठे नवाब मोतमदउद्दौला बहादुर का हुक्म है पकाता हूं।" बादशाह ने उसकी असल वजह पूछी तो उसने सारा हाल बयान कर दिया। फ़ौरन मोतमदउद्दौला की याद हुई। उन्होंने अर्ज़ किया, "जहांपनाह, ये लोग ख्वाहमख्वाह को लूटते हैं।" बादशाह ने इसके जवाब में दस-पांच थप्पड़ और घूसे रसीद किये। खूब ठोंका और कहा, "तुम नहीं लूटते हो तुम जो सारी सल्तनत और सारे मुल्क को लूटे लेते हो इसका खयाल नहीं ? यह जो थोड़ा सा घी ज़्यादा ले लेता है और वह भी मेरे खासे के लिए, यह तुम्हें नहीं गवार है ?" बहरहाल मोतमदउद्दौला ने तौबा की, कान अमेठे तो खिलअत आता हुआ जो इस बात की निशानी मानी जाती है कि आज जहांपनाह ने अपना स्नेह भरा हाथ फेरा है। फिर अपने घर आये। उसके बाद उन्होंने कभी उस रकाबदार पर एतराज़ न किया और वह उसी तरह ३० सेर घी रोज लेता रहा।

## [ 27 ]

नवाब अबुलकासिम खां एक शौक़ीन रईस थे। उनके यहां बहुत भारी पुलाव पकता। 34 सेर गोश्त की यखनी तैयार करके नियार ली जाती और उसमें चावल दम किये जाते। और फिर इस मज़े के साथ कि ग्रास मुंह में रखते ही मालूम होता कि सब चावल खुद ही घुलकर हलक़ से उतर गये। फिर उसके साथ ऐसे हल्के कि क्या मजाल जो ज़रा भी महसूस हो सके कि उसमें किसी क़िस्म की गरिष्ठता है। इतनी ही या इससे ज़्यादा ताक़त का पुलाव वाजिद अली शाह की खास महल साहिबा के लिए रोज तैयार हुआ करता था।

अवध के अपदस्थ नवाब वाजिद अली शाह के साथ मटिया बुर्ज में एक रईस थे जिनका 'मुंशीउस्सुलतान बहादुर' खिताब था। बड़े वज़ादार और नफ़ीस मिज़ाज शौक़ीनों में थे। खाने का बेहद शौक़ था और अगर्चे कई बाकमाल बावरची मौजूद थे मगर उन्हें, जब तक दो-एक चीजें खुद अपने हाथ से न पका लेते, खाने में मज़ा न आता। आखिर उनके अच्छे खाने की

यहां तक ख्याति फैली कि वाजिद अली शाह कहा करते, "अच्छा तो मुंशी उस्सुलतान खाते हैं, मैं क्या अच्छा खाऊंगा।" बचपन में छह-सात बरस तक मटिया बुर्ज में उन्हीं के साथ रहा और उन्हीं के साथ दस्तरख्वान पर शरीक होता रहा। मैंने उनके दस्तरख्वान पर तीस-चालीस क़िस्म के पुलाव और बीसियों क़िस्म के सालन देखे जिनमें से बाज़ ऐसे थे कि फिर कभी खाना नसीब न हुए। उन्हें हलवा सोहन का भी बड़ा शौक़ था जिसका ज़िक्र यथा स्थान किया जायेगा।

आखिर ज़माने में और ग़दर के बाद लखनऊ में हकीम बंदा मेहदी मरहूम को खाने और पहनने का बेहद शौक़ था और बड़े-बड़े दौलतमंद और शौक़ीन लोगों को यक़ीन है कि जैसा खाना उन्होंने खाया और जैसा कपड़ा उन्होने पहना उस ज़माने में बहुत कम किसी को नसीब हो सका। हमारे एक बुज़ुर्ग दोस्त फ़रमाते हैं, "हमारे खानदान से हकीम साहब से बहुत रब्त-ज़ब्त था। एक दिन हकीम साहब ने हमारे वालिद और चचा को बुला भेजा कि एक पहलवान की दावत है, आप भी आकर लुत्फ़ देखिये। वालिद तशरीफ़ ले गये और मैं भी उनके साथ गया। वहां जाकर मालूम हुआ कि वह पहलवान रोज़ सुबह को बीस सेर दूध पीता है, उस पर ढ़ाई-तीन सेर मेवा यानी बादाम और पिस्ते खाता है और दोपहर और शाम को ढ़ाई सेर आटे की रोटियां और एक दरम्याने दर्जे का बकरा खा जाता है। और इसी गिज़ा के मुताबिक उसका जिस्म भी था। वह नाश्ते के लिए बेचैन था और बार-बार तक़ाज़ा कर रहा था कि खाना जल्दी मंगवाइये। मगर हकीम साहब जानबूझ कर टाल रहे थे। यहां तक कि भूख की सख्ती ने उसे बेचैन कर दिया और अब वह नाराज़ होकर उठने लगा। तब हकीम साहब खाना भेजने का वायदा करके अंदर चले गये। थोड़ी देर और टाला और जब देखा कि अब वह भूख बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर सकता तो मेहरी के हाथ एक ख्वान भेजा जिसकी सूरत देखते ही पहलवान साहब की जान में जान आयी मगर जब उसे खोला तो एक छोटी तश्तरी में थोड़ा-सा पुलाव था जिसकी मात्रा छटांक भर से ज़्यादा न होगी। उस खाऊ मेहमान को यह चावल देख कर बड़ा तैश आया जो उसके एक ग्रास के लिए भी काफ़ी न थे। इरादा किया कि उठकर चला जाये। मगर लोगों ने समझा-बुझाकर रोका और उसने मजबूरन वह तश्तरी उठाकर मुंह में डाल ली और बग़ैर मुंह चलाए निगल गया। पांच मिनट के बाद उसने पानी मांगा

और उसके पांच मिनट बाद फिर पानी पिया और डकार ली। अब अंदर से खाने के ख्वान आये, दस्तरख्वान बिछा। खुद हकीम साहब भी आये, खाना चुना गया। और वही पुलाव जिसमें से एक ग्रास पहले भेजा था उसकी प्लेट जिसमे कोई डेढ़ पाव चावल होंगे हकीम साहब के सामने लगायी गयी। हकीम साहब ने उस प्लेट को पहलवान के सामने पेश किया और कहा, "देखिये यह वही पुलाव है या कोई और ?" उसने माना कि वही है। हकीम साहब ने कहा, "तो अब खाइये। मुझे अफ़सोस है कि इसकी तैयारी में देर हुई और आपको तकलीफ़ उठानी पड़ी।" पहलवान ने कहा, "मगर अब मुझे माफ फ़र्माइये। मैं उसी पहले लुक्मे से सेर (तृप्त) हो गया। और अब एक चावल भी नहीं खा सकता।" हज़ारों बार आग्रह किया मगर उसने बिलकुल हाथ रोक लिया और कहा, "खाऊं क्योंकर ? जब पेट मे जगह भी हो।" हकीम साहब ने चावल लेकर सब खा लिये और उससे कहा, "बीस-बीस सेर और तीस-तीस सेर खा जाना इंसान की गिज़ा नहीं, यह तो गाय-भैंस की गिज़ा हुई। इंसान की गिज़ा यह है कि चंद लुक्मे खाये मगर उनसे कूवत और तवानाई वह आये जो बीस-तीस सेर ग़ल्ला खाने में भी न आ सके। आप इस एक लुक्मे में सेर हो गये हैं, कल फिर आपकी दावत है। कल आकर बताइयेगा कि इस एक लुक्मे से आपको वैसी ही क़ूवत और तवानाई महसूस हुई जैसी कि बीस सेर दूध और सेरों मेवे और गोश्त और ग़ल्ले से हासिल होती थी या उससे कम ?" और हम सबको भी हकीम साहब ने दूसरे दिन बुलाया। दूसरे दिन उस पहलवान ने आकर बयान किया कि "मुझे ज़िंदगी भर ऐसी तवानाई और चौचाली नसीब नहीं हुई जैसी कि कल से आज तक रही।"

शाही खानदान के लोगो में से अंतिम काल मे नवाब मोहसिनउद्दौला और नवाब मुमताज़उद्दौला दस्तरख्वान और बावरचीख़ाने के शौक़ और कमाल मे बेमिसाल माने जाते और उन्हीं का बावरची था जो हकीम बंदा मेहदी साहब के लिए यह पुलाव तैयार किया करता था। उन्ही दिनों मल्का ज़मानिया की एक बड़ी सरकार क़ायम थी और उनका बावरचीखाना मशहूर था जिसमें रोज़ाना तीन सौ रुपये की पकायी होती। इसी दौर में शहज़ादा याहिया अली खां की सरकार में आलम अली नामक एक बावरची नौकर था। वह मुसल्लम मछली ऐसी बेमिसाल पकाता था कि तमाम रईसों में मशहूर थी और दूसरी सरकार के बावरचियों ने हज़ार कोशिश की मगर वह बात पैदा न कर सके।

नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में महमूद नाम के एक विलायती शख़्स ने आकर फ़िरंगी महल में बावरची की दुकान खोली और उसकी नहारी[1] की ऐसी शोहरत हुई कि बड़े-बड़े रईस और शाहज़ादे तक उसकी नहारी की क़द्र करते। क़द्रदानी ने उसका हौसला बढ़ाया और उसने शीरमाल[2] ईजाद की जो आज तक लखनऊ की एक विशेषता है। रोटियों की बहुत-सी क़िस्में मशहूर हैं और विभिन्न शहरों में उनका प्रचलन है। ईरान से मुसलमान ख़मीरी रोटियां लाते हुए और हिंदुस्तान की सरज़मीन में तंदूर गाड़ते हुए आये थे। मगर उस समय तक सादी रोटियां थीं जिनमें घी का लगाव नहीं होता था। हिंदुओं की पूरियां पकते देखकर मुसलमानों ने तवे की रोटियों में घी का पुट देकर परांठे ईजाद किये और फिर उनमें अनेक परतें और तहें देना शुरू की। फिर इसी परांठे में पहली तरक्की यह हुई कि बाक़िरख़ानी[3] का रिवाज हुआ जो अमीरों के दस्तरख़्वान की बहुत ही विशिष्ट रोटी थी। लखनऊ में महमूद ने बाक़िरख़ानी पर बहुत तरक्की देकर शीरमाल पकायी जो मज़े, बू-बास, नफ़ासत आदि में बाक़िरख़ानी और वैसी ही रोटियों की तमाम क़िस्मों से बढ़ गयी। शीरमाल आज तक सिवाय लखनऊ के और कहीं नहीं पकती और पकती भी है तो ऐसी नहीं पक सकती। चंद ही रोज़ में शीरमाल को ऐसी लोकप्रियता प्राप्त हुई कि वह लखनऊ की नेशनल रोटी क़रार पा गयी। यहां तक कि जिस दावत में शीरमाल न हो वह अधूरी समझी जाती है।

शीरमाल की ईजाद ने महमूद की ऐसी क़द्र बढ़ायी कि शाही उत्सवों और समारोहों के लिए उसे कभी-कभी एक-एक लाख शीरमाल का आर्डर एक दिन में मिला और उसने भी ऐसा काफ़ी इंतिज़ाम कर रखा था कि जितनी शीरमालें मांगी जातीं जुटा देता। महमूद का उत्तराधिकारी उन दिनों अली हुसैन था जो कई महीने हुए मर गया। मगर उसकी दूकान से आज भी जैसी उम्दा शीरमालें मिल सकती हैं और कहीं नहीं मिल सकतीं।

शीरमाल से भी ज़्यादा मज़ेदार नान जलेबी होती है जो बड़े ध्यान से पकवाई जाती है और वही रकाबदार उसे तैयार कर सकते हैं जो इसके जान-

[1] एक प्रकार का शोरबेदार गोश्त जिसे सुबह नाश्ते के समय ख़मीरी रोटी से खाते हैं।

[2] एक रोग़नी रोटी जो दूध में आटा गूंधकर बनाते हैं।

[3] शकर, दूध और मैदा मिलाकर बनी रोग़नी रोटी।

कार हैं। बावरचियों को दावा है कि लखनऊ के बावरचियों से अच्छी नान जलेबी कोई नहीं पका सकता। परांठों में लखनऊ उसी दर्जे पर है जो दूसरे शहरों को हासिल है। इसमें ज़ाहिर तौर पर कोई खास तरक़्क़ी नहीं हुई। बल्कि कहा जाता है कि दिल्ली के अच्छे नानबाई बहुत उम्दा क़िस्म के परांठे पकाते हैं और सेर भर आटे में पूरा सेर भर घी खपा देते हैं। मगर जब मैं दिल्ली में ठहरा हुआ था मैंने कई बार मशहूर नानबाइयों से परांठ पकवाए, बेशक उन्होंने घी बहुत खर्च किया, मगर चूंकि आटे के अंदर घी नहीं दिया था इसलिए वे उसी समय तक खाने के योग्य थे जब तक कि ताज़े खा लिए जायें, ठंडे होते ही चमड़े हो गये।

रोटी को तोड़कर और उसमें घी-शकर मिलाकर मल देना एक आम और मामूली ग़िज़ा है जिसका अक्सर फ़ातिहा और नियाज़[1] में ज़्यादा रिवाज है। मगर शाही बावरचीखाने के बावरची ऐसा बढ़िया और स्वाष्टि मलीदा तैयार करते हैं जो कुछ बादशाहों को बहुत ही पसंद था और तारीफ़ यह थी कि मुंह में ग्रास लेते ही शर्बत बन जाये और मालूम हो कि चबाने या मुंह चलाने की बिल्कुल ज़रूरत नहीं।

इस रोठी के सिलसिले में यहां तक तरक्क़ी हुई कि सिर्फ़ दूध की पूरियां पकाई जाने लगीं जिनमें आटे का बिल्कुल नाम न होता। सिर्फ दूध के पनीर में गुंधे हुए मैदे की शान पैदा कर ली और आखिर में यहां तक तरक़्क़ी हुई कि दूध की गिलौरियां और दूसरी तरह की चीज़ें तैयार होने लगीं। इसी तरह खालिस दूध की पंजीरी दस्तरख्वानों पर आती जो बहुत ही नफ़ीस और जो अमीरों को बहुत पसंद आती।

लेकिन मुसलमानों की नेशनल डिश यानी क़ौमी ग़िज़ा पुलाव और क़ोरमा है। लिहाज़ा सबसे ज़्यादा नज़ाकत और लताफ़त इन्हीं चीज़ों में दिखायी गयी। पुलाव के बारे में हम बहुत कुछ लिख चुके हैं फिर भी कुछ बातें बाक़ी रह गयीं। दौलतमंद और शौक़ीन अमीरों के लिए कस्तूरी और केसर की गोलियां खिला-खिलाकर मुर्ग़ तैयार किये जाते। यहां तक कि उनके गोश्त में इन दोनों चीज़ों की खुशबू रच-बस जाती और उनका हर रग और रेशा मुअत्तर हो जाता। फिर उनकी यखनी निकाली जाती और उस यख़नी में चावल दम दिये जाते।

---

[1] मुर्दे की बरसी या अन्य किसी अवसर पर तैयार किया जाने वाला खाना।

मोती पुलाव की यह शान थी कि मालूम होता चावलों में आबदार मोती मिले हुए हैं। उसके लिए मोतियों के तैयार करने की यह तरकीब थी कि तोला भर चांदी के वरक़ और माशा भर सोने के वरक़ अंडे की ज़र्दी में ख़ूब मिला लिये जाते। फिर उसे मुर्ग़ के गले की नली में भर कर नली के हर जोड़ पर बारीक धागा कसकर बांध दिया जाता और उसे थोड़ा-सा उबालकर चाक़ू से नली की खाल फाड़ दी जाती और सुडौल, आबदार मोती निकल आते जो पुलाव में गोश्त के साथ दम कर दिये जाते। बाज़ बावरची पनीर के मोती बनाते और उस पर चांदी का वरक़ चढ़ा देते। बहरहाल ऐसी-ऐसी नवीनताएं दिखायी जातीं कि और कहीं लोगों के खयाल में भी न आयी होतीं। कुछ बावरचियों ने पुलाव की तैयारी में यह विशेषता दिखाई कि गोश्त की छोटी-छोटी चिड़ियां बनाकर और बड़ी सावधानी से इस तरह पकाकर कि सूरत न बिगड़ने पाये, प्लेट में बिठा दीं, चावलों की सूरत दाने की कर दी और मालूम होता कि हर मेहमान के सामने प्लेट में चिड़यां बैठी दाना चुग रही हैं। फूले हुए समोसे जिनमें से तोड़ते ही लाल निकलकर उड़ जाते, हैदराबाद दक्खिन में शायद लखनऊ में बावरची पीर अली ने तैयार किये जो सरकारी डिनरों में मेज़ पर आये और प्रतिष्ठित अंग्रेज़ों और लेडियों को आनंदित किया। इसकी ईजाद सबसे पहले नसीरउद्दीन हैदर के दस्तरख़्वान पर हुई थी मगर चिड़ियों वाला पुलाव जिसका ज़िक्र हम ऊपर कर आये हैं इससे बढ़कर था।

एक बावरची ने यह कमाल दिखाया कि दस्तरख़्वान पर बड़े-बड़े सेर-सेर भर के अंडे उबले हुए और तले हुए पेश किये जिनमें सफेदी और ज़र्दी उसी आकार और अनुपात में क़ायम थी जो मामूली अंडों में हुआ करती है। बाज़ बावरचियों ने बादाम का सालन पकाया जो हूबहू सेम के बीजों जैसा और मज़े में उससे बढ़ा हुआ था। प्रधान मंत्री रौशनउद्दौला के बावरची ने कच्चे भुट्टों के लच्छे इस सफाई से काटे कि कहीं टूटने न पायें और उनका रायता ऐसा उम्दा बनाया कि जिसने चखा दंग रह गया।

हमारे 'मोज़िल रक़म' ख़ुशनवीस मुंशी शाकिर अली साहब ने चावल पर 'क़ुल-ओ-अल्लाह'[1] लिखकर बेमिसाल कमाल दिखाया है। मगर यहां के एक बावरची ने शाही में ख़शख़ास के दानों में चारों तरफ खटमल के-से कांटे पैदा किये और उसे ख़ास तरकीब से पकाकर दस्तरख़्वान पर पेश किया था।

[1] क़ुरान की चार छोटी आयतें।

पीर अली लखनऊ का मशहूर बावरची हुज़ूर निजाम के बावरचीखाने में मुलाज़िम था। एक बहुत क़ीमती और स्वादिष्ट अरहर की दाल पकाया करता जो लखनऊ के पुराने बादशाहों के बावरचीख़ानो में पका करती थी और मुल-तानी दाल के नाम से मशहूर थी ।

बाज़ बावरची मुसल्लम करेले ऐसी नफ़ासत और सफ़ाई से पकाते कि देखिये तो मालूम होता कि उन्हें भाप भी नहीं लगी है, वैसे ही हरे और कच्चे रखे हैं। मगर काट के खाइये तो बहुत ही मज़ेदार और स्वादिष्ट होते हैं। इसी तरह की एक घटना आजकल ही के ज़माने में हमारे दोस्त सैयद अली 'औसत' साहब को पेश आयी। उनका बयान है कि लखनऊ के मौजूदा खानदानी रईसों में से नवाब अली नक़ी खां ने एक दिन मुझ से कहा कि रात का खाना ज़रा इंतिज़ार करके आइयेगा, मैं कुछ भेजूंगा। रात को वायदे के अनुसार खाने के वक़्त उनका आदमी एक ख़्वान लेकर आया। मैंने शौक़ से ख़्वान अपने सामने मंगवाकर खुलवाया तो उसमें सिर्फ एक प्लेट थी और उस पर एक कच्चा कद्दू रखा हुआ था। देखकर तबियत को बड़ी कोफ्त हुई। निराश होकर मैंने मामा से कहा, "इसे लेजाकर रखो, कल पका लेना।" मगर शाहज़ादे साहब के आदमी ने हंसकर कहा, "इसे काटकर यों ही खाइए, पकाने की ज़रूरत नहीं।" अब मैंने जो उसे काटा तो बड़ी स्वादिष्ट और मज़े की चीज नज़र आयी और ऐसा कभी नहीं खाया।

सच यह है कि बावरचियों ने इस क़िस्म की चीजों में यहां अजीब-अजीब कमाल दिखाये थे। पीर अली रकाबदार मिठाई के अनार बनाता था जिसमें ऊपर का छिलका, अंदर के दाने, उनका क्रम और उनके बीज के पर्दे सब असली मालूम होते। दानों की गुठलियां बादाम की होतीं। नाशपाती के अर्क के दाने होते, दानों के बीच के पर्दे और ऊपर का छिलका दोनों शकर के होते।

आमतौर पर बावरची मुरब्बे और अचार वग़ैरा और तरह-तरह की मिठा-इयां तैयार करते जिनमें सैकड़ों क़िस्म की तरकीबें और अजीब-अजीब नफ़ा-सतें दिखायी जातीं। आम का मुरब्बा सबने खाया है मगर यहां बावरची साबित हरी कैरियों का मुरब्बा तैयार करते और उनमें वैसे ही हरे छिलके अपनी असलियत पर क़ायम रहते। बस यह मालूम होता कि ताज़ी कैरियां अभी तोड़कर लायी और शीरे में डाल दी गयी हैं।

ऊपर लिखे तकल्लुफ़ों ने दावतों और हिस्सों के लिए जो खाने आमतौर पर मुक़र्रर कर दिये थे उनके संग्रह का नाम 'तोरा' था जिनमें नीचे दी हुई गिज़ाएं अनिवार्य रूप से होती थीं : (1) पुलाव, (2) मुज़ाफ़र[1], (3) मुतंजन[2], (4) शीरमाल, (5) सफेदा (मीठे चावल जिनमें मुज़ाफर का रंग न दिया गया हो) (6) बूरानी[3] के प्याले, (7) शीरबिरंज[4] के ख्वांचे, (8) क़ोरमा, (9) तली हुई अरबियां गोश्त में, (10) शामी कबाब, (11) मुरब्बा, (12) अचार या चटनी। अधिकतर तोरे में इनमें से कुछ चीज़े कम-ज़्यादा भी कर दी जाती। मगर लखनऊ में आमतौर पर यही खाने ज़्यादा प्रचलित थे और दावतो और हिस्सों में इनके सिवा और कोई चीज़ कम होती थी। दावतों में ये चीज़े दस्तरख़्वान पर हर शख्स के सामने अलग-अलग प्लेटों में चुनी जातीं और कहीं भेजना होता तभी तोरा लकड़ी के ख्वानों में रखकर बड़े व्यवस्थित ढंग से भेजा जाता।

अंग्रेज़ों में रिवाज यह है कि मेज़ फूलों, गुलदस्तों और तरह-तरह की चीज़ों से सजायी जाती है। इसका इतना नमूना यहां भी था कि अमीरों, नवाबों और शाहज़ादों में जो तोरे बांटे जाते उनमें ख्वानों के बीच में कागज के फूलों का एक गुलदस्ता भी रख दिया जाता जिसको आम जनता ने फ़िज़ूल समझकर छोड़ दिया।

जिन प्रतिष्ठित सरकारों और उच्च कोटि की ड्योढ़ियों में खाना जाता उनकी हैसियत और दर्जे के अनुसार तोरे में रखे जानेवाले खानों की गिनती भी बढ़ जाती। बादशाह के महल में खास जहांपनाह के लिए एक सौ एक खानों का तोरा जाता जिसकी लागत का अंदाजा पांच सौ रुपये का था। अवध के शासकों में वाजिद अली शाह के वालिद अमजदअली शाह बड़े संयमी और नमाज़ी-परहेज़गार शासक थे। मनाही से बचते और शरीअत[5] की पूरी पाबंदी

[1] मीठा पुलाव। [2] मीठा पुलाव जिसमें खटाई भी डाली जाती है।

[3] बैगन का रायता।

[4] दूध में पके हुए चावल, खीर।

[5] धर्मशास्त्र।

करते और कोई काम बिना अपने वाजिद की इजाज़त के न करते थे। उन्होंने संयम के कारण देश का रुपया अपने ऊपर ख़र्च करना हराम समझा और अपने तमाम रिश्तेदारों से भी यही आशा की कि हमें दावत में बजाये खाने के तुम लोग नक़्द रुपया भेज दिया करो। नतीजा यह हुआ कि लोग पांच सौ रुपया भेज दिया करते। मगर उनके साथ नवाब साहब के लिए एक तोरा भी ज़रूर भेजा जाता जिसके लिए यह पाबंदी न थी कि एक सौ एक ख़्वान हों।

ख़्वानों की शान आम सोसाइटियों में यह थी कि लकड़ी के ख़्वान, उन पर रंगीन तीलियों का गुंबदनुमा झाबा, उस पर एक सफ़ेद कपड़े का कसना जो चोटी के ऊपर बांध दिया जाता और शाही बावरचीख़ाने और प्रतिष्ठित अमीरों में नियम था कि उस बंधन पर लाख लगाकर मुहर भी कर दी जाती ताकि दरम्यान में किसी को उसे छेड़ने का मौक़ा न मिले। फिर उस कसने के ऊपर बहुत ही साफ़-सुथरा रंगीन और रेशमी ख़्वान होता। यह ख़्वानपोश बड़ी सरकारों में अनिवार्य रूप से अतलस और कमख़्वाब या ज़रबफ्त के होते और कभी सिर्फ़ लचका टांक दिया जाता या कारचोब का काम होता।

मुमकिन है कि यह तरीक़ा मुग़ल दरबार में जारी हो और वहीं से लखनऊ में आया हो। मगर हमने इन तकल्लुफ़ों को जिस पैमाने पर लखनऊ में देखा, दिल्ली में नहीं देखा। यहां खाने-पीने के छोटे-छोटे मामलों में भी यह तकल्लुफ़ लाज़िमी और कुदरती-सा हो गया गया है। किसी मामूली शख़्स के लिए भी सिर्फ़ पानी मांगा जाये तो सेवक बहुत ही साफ़-सुथरे ग्लास को थाली में रखकर और उसे ढंक कर लायेगा और बड़े आदर के साथ पेश करेगा।

इस शौक़ इस नफ़ासत और इन तकल्लुफ़ों ने सौ ही बरस के अंदर लखनऊ में ऐसे बाकमाल बावरची पैदा कर दिये जिनकी हिंदुस्तान के हर शहर और दरबार में शोहरत और क़द्र थी और मैंने हिंदुस्तान के तमाम मुसलमान दरबारों और रियासतों में जहां गया लखनऊ के ही बावरचियों को पाया जिन्होंने ख़ास अमीरों और नवाबों वग़ैरा के दिलों में जगह पैदा करली थी और उनकी बड़ी क़द्र होती थी। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि अब हैदराबाद दक्खिन, भोपाल और रामपुर में बड़े-बड़े बाकमाल बावरची मौजूद हैं लेकिन अगर आप उनकी असलियत का पता लगायें, उनके ख़ानदान का

पता लगाएं और उनकी प्रगति के इतिहास पर ग़ौर करें तो यही साबित होगा कि वे बावरची या तो लखनऊ के हैं या लखनऊ से आये हुए बावरचियों की नस्ल से हैं, या किसी लखनवी बावरची के शागिर्द हैं।

हम बावरचीख़ाने का हिस्सा ख़त्म कर चुके, मगर अभी मिठाइयों का ज़िक्र बाक़ी है। मिठाइयों का बनाना हिंदू हलवाइयों का काम है और उन्ही की मिठाइयों से आम पब्लिक परिचित है। लेकिन मिठाइयां तैयार करने में मुसलमान रकाबदारों का दर्जा बढ़ा हुआ है, वे जनता की ज़रूरतों को नहीं पूरा कर सकते, इसलिए यह हिंदू हलवाइयों का हिस्सा है। रकाबदार ख़ास अमीरों और शौक़ीन और नफ़ासतपसंद अमीरों के लिए मिठाइयां तैयार करते हैं जो बेमिसाल और बहुत ही स्वादु होती हैं।

लखनऊ में दो तरह के हलवाई हैं—मुसलमान हलवाई और हिंदू हलवाई। मुसलमान हलवाइयों की शान यह है कि अगर आम क़िस्म की मिठाई ली जाये तो उनकी दुकान की चीज़ें हिंदू हलवाइयों की दुकानों से अच्छी नहीं होतीं। लेकिन अगर फ़रमाइश करके उनसे ख़ास क़िस्म की मिठाई बनवाइये तो हिंदू हलवाइयों की मिठाई से बहुत ज़्यादा अच्छी और बहुत ही स्वादु होती हैं। लेकिन लखनऊ में आमतौर पर जलेबियां, इमरतियां और बालूशाही बहुत अच्छी बनती हैं।

मिठाइयों में यह फ़र्क़ करना मुश्किल है कि कौन असली हिंदुओं की है और कौन मुसलमानों के साथ हिंदुस्तान में आयी। लेकिन नामों और रुचि विशेष से यदि अनुमान लगाया जाये तो पता चलता है कि हलवा ख़ालिस अरबी चीज़ है जो अरब, ईरान होता हुआ हिंदुस्तान में आया और अपना नाम भी साथ लेता आया। लेकिन यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें मतभेद है। तर हलवा जो आमतौर पर हलवाइयों के यहां मिलता है और पूरियों के साथ खाया जाता है वह ख़ालिस हिंदू चीज़ है जिसे वे मोहन भोग भी कहते हैं। मगर हलवा सोहन की चार क़िस्में पपड़ी, जूज़ी, हब्शी और दूधिया ये ख़ालिस मुसलमानों की मालूम होती हैं। वर्तमान अरबी हलवे जो दक्षिण भारत में, विशेषकर मद्रास में प्रचलित हैं, उनके बारे में ठीक से नहीं कहा जा सकता कि वे कहां के हैं। अरबी हलवे वे हैं जो वास्तव में अरब से सीधे हिंदुस्तान आये हैं। बालूशाही, ख़ुर्मे नुक्तियां, गुलाबजामुन, दरेबहिश्त वग़ैरा भी इस्लामी युग की देन हैं।

जलेबी को अरबी में ज़लाबिया कहते हैं और साफ़ मालूम होता है कि ज़लाबिया ही से बिगड़कर जलेबी शब्द बना है। इसलिए यह भी अरबी मिठाइयों में शामिल की जानी चाहिए। पेड़ा शुद्ध रूप से हिंदी मिठाई है और इमरतियां भी हिंदी हैं। मगर मुझे बताया गया है कि इमरती खास लखनऊ में ईजाद हुई। फ़िलहाल इन मिठाइयों के कारण लखनऊ की कोई विशेषता नहीं है। इस संबंध में जो नाम भारत के अन्य बड़े शहरों का है कुछ वही लखनऊ का भी है बल्कि यह अजीब तमाशा नज़र आता है कि लखनऊ में तो आगरा और पंजाब के हलवाई ज़्यादा मशहूर हैं और दूसरे शहरों में मुझे यह नज़र आया कि लखनऊ और उसके आसपास के हलवाइयों की अधिक प्रतिष्ठा है। दर-असल इस ख्याति या प्रतिष्ठा का संबंध किसी भी दुकान के चल जाने से है, इसलिए कि जिस हलवाई की दुकान जितनी अधिक चल जाती है उसे मिठाइयों में तरक़्क़ी करने का मौक़ा मिल जाता है।

हलवाइयों के बारे में यह निश्चित है कि हिंदू हलवाइयों का दर्जा बढ़ा हुआ है। मिठाइयों के जितने क़द्रदान हिंदू है, मुसलमान नहीं। मुसलमानों को शायद गोश्त खाने की वजह से आमतौर से नमकीन खानों का ज़्यादा शौक़ है। इसके विपरीत हिंदू मिठाइयों के ज़्यादा शौक़ीन है। वे सिर्फ़ मिठाइयों से पेट भर लेते हैं जो मुसलमानों के लिए संभव नहीं। हिंदुओं के मिठाई के शौक़ के ही कारण मथुरा, बनारस और अयोध्या जो हिंदुओं के तीर्थस्थान हैं, मिठाइयों की क़िस्मों और स्वाद की दृष्टि से दूसरे नगरों से अधिक प्रसिद्ध है।

मगर हलवा सोहन के बनाने में मुसलमान रकाबदारों के अलावा और बहुत से लोगों ने भी ख्याति प्राप्त की। आख़िर ज़माने में यहां के मशहूर ख़ुशनवीस मुंशी हादी अली साहब ने पपड़ी हलवा सोहन में खास नामवरी हासिल की। वह सेर भर समनक में तीस सेर घी खपा देते और उसकी टिकियों पर अजीब-अजीब तरह के खूबसूरत बेल-बूटे बनाते जिससे हलवा सोहन बनाने के साथ ख़ुशनवीसी और नक़्क़ाशी के कमाल भी ज़ाहिर होते।

उसके बाद मैंने मटिया बुर्ज में मुंशीउस्सुलतान बहादुर को जो लखनऊ के रईसज़ादे थे अपनी आंखों से अक्सर देखा कि छटांक भर समनक में दो-ढ़ाई सेर घी ख़पा देते जो फ़ी सेर चालीस सेर के क़रीब पड़ा। उनका पपड़ी हलवा सोहन बजाये पीले के धुले हुए कपड़े की तरह उजला और सफ़ेद होता।

बावरचीखाने और खानों की ईजाद और तरक्क़ी के बारे में हम काफी कुछ लिख चुके हैं, लेकिन इतना और कहना चाहते हैं कि यहां और आम एशियाई देशों में स्वादिष्टता पैदा करने के साथ इस बात को भी महत्व दिया जाता था कि स्वाद के साथ खानों में उच्च कोटि की आनंदप्रद सुगंधियां भी पैदा की जायें, रंग सुंदर और आकर्षक हों, देखने में मनोमुग्धकारी और रुचि दिलाने वाले हों। अगर्चे हिंदुस्तान के तमाम शहरों में जहां लोगों को अच्छा खाने का शौक़ है इन सभी बातों की कोशिश की जाती है, मगर इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि लखनऊ सब जगहों से ज़्यादा कामयाब रहा है। यहां लगभग हरेक व्यक्ति में एक समुचित रुचि पैदा हो गयी। अच्छे बावरची ही नहीं पैदा हुए बल्कि शिष्ट और संभ्रांत घरानों की स्त्रियों में रकाबदारों से ज़्यादा स्वभाव में सफ़ाई और नफ़ासत और हर काम करने का ढंग पैदा हो गया। कोई ऐसा प्रतिष्ठित परिवार नहीं है जिसकी सम्मानित महिलाओं में से हरेक खाना पकाने में कुशलता न रखती हो और उसे किसी अच्छी ग़िज़ा के तैयार करने में दावा न हो।

खाने के पकाने से ज़्यादा या उसी के बराबर ज़रूरत खानों के निकालने में अच्छा सलीक़ा दिखाने और निकालने के बाद उसे सजाने की है। योरुप में आजकल प्रचलन यह है कि मेज खूब सजायी जाती है, उस पर जगह-जगह गुलदस्ते लगाये जाते हैं और बाज जगह तकल्लुफ़ के तौर पर कच्चे चावलों को विभिन्न रंगों में रंगकर मेज़ पर उनके अक्षर और बेल-बूटे बना दिये जाते हैं। बर्तन भी बहुत ही साफ़-सुथरे, क़ीमती और अक्सर चांदी के इस्तेमाल किये जाते हैं। मगर खास खाने की सजावट का अंग्रेज़ बावरचियों या खानसामाओं को बिल्कुल ख़याल नहीं होता सिवाय इसके कि शादियों के केक जो अमीरों और लार्डों के शादी के डिनरों में बड़े ढंग से बुर्जों या ख़ूबसूरत इमारतों की शक्ल के बनाकर उस डिनर की मेज़ पर लगा दिये जाते हैं।

इसके खिलाफ़ हिंदुस्तान में दस्तरख्वान की सजावट की ओर तो कम ध्यान दिया जाता है मगर खुद खाने बड़ी सफ़ाई से निकालकर सजाये जाते हैं, उन पर चांदी सोने के वरक़ लगाये जाते हैं। पिस्ते और बादाम की हवा-

इयों से बेल-बूटे और रंग-बिरंगे फूल बनाये जाते हैं। खोपरे के वरक़ काट-काटकर बड़े अच्छे तरीके से उन पर सजाये जाते हैं। इस कला में रकाबदारों को विशेष दक्षता प्राप्त है बल्कि उनका काम यही है कि जिस ख़ूबी से खानों को तैयार करें उससे अधिक कुशलता से उनको सजायें और हर प्लेट को एक गुलदस्ता बना दें।

लखनऊ में ये तकल्लुफ़ पेशेवर बावरचियों और रक़ाबदारों से शुरू होकर शरीफ़ लोगों के आम घरों में पहुंच गये और स्त्रियों को उसमें ऐसा अच्छा सलीक़ा हो गया कि जो ख़ूबी प्लेटों के सजाने में अक्सर वे दिखाती हैं ख़ुद रक़ाबदारों से भी मुमकिन नहीं हालांकि यह ख़ास उन्हीं का हुनर है। योरुप के अनुसंधाताओं ने तय कर दिया है कि स्त्रियों को ललित कलाओं से विशेष रुचि होती है। विशेष रूप से किसी चीज़ को सजाने और सलीक़े से पेश करने में उनको स्वभावतया पुरुषों से श्रेष्टता प्राप्त है। इसका सबूत हिंदुस्तान में लखनऊ की उन औरतों के स्वभाव से मिल सकता है जो खानों के सजाने में कमाल दिखाया करती हैं।

हिंदुस्तान के विवाह के केक जिनका ज़िक्र अभी हो चुका है जो आमतौर से रस्म के तौर पर शादियों में दूलहा-दुलहनों के सामने लगाये जाते हैं उन्हें अक्सर घरों की औरतें ऐसी सफ़ाई और कुशलता से सजाती हैं कि जी चाहता है बैठे उन्हें देखा कीजिये।

खाने के साथ ही आबदारख़ाने की तरक़्क़ी का उल्लेख कर देना भी दिलचस्पी से खाली न होगा। आबदारख़ाना बादशाहों और अमीरों के पानी के इंतिज़ाम का नाम है। उन दिनों बर्फ़ न थी और कुछ मौसमों में ठंडा पानी मिलना बहुत ही मुश्किल होता था। इसके लिए उन दिनो खास इंतिज़ाम किये जाते थे : पानी कोरे घड़ों में भरकर रखा जाता, नाज़ुक और साफ़-सुथरे मिट्टी के प्याले पीने के लिए मौजूद रहते। घड़ों और प्यालों पर सुर्ख़ कपड़ा चढ़ा दिया जाता और वह तर रखा जाता इसलिए कि हवा लगने से भीगा कपड़ा ख़ूब ठंडा हो जाता यहां तक कि गर्म हवा और लू भी जितनी ज़्यादा गर्म होती उतना ही ज़्यादा कपड़े को ठंडा कर देती और कपड़े की ठंडक अंदर के पानी को ठंडा करती। अक्सर झझरियां और सुराहियां बल्कि घड़े भी मुंह पर कपड़ा बांधकर किसी पेड़ की शाखाओं में उल्टे लटका दिये जाते। हवा का अंदर प्रवेश न होने के कारण पानी न गिरता और खूब ठंडा हो जाता। बर-

सात में जब यह तदबीर भी कामयाब न होती तो अक्सर घड़े भरकर कुंओं के अंदर लटका दिये जाते जहां उनमें खूब ठंडक पैदा हो जाती।

इसके अलावा सबसे बड़ा इंतिज़ाम यह था कि जस्त की नाज़ुक सुराहियां मौजूद रहतीं और वे नादों में शोरा और पानी डालकर उसमें फिरायी जातीं। इस तरकीब से थोड़ी देर में पानी में बर्फ़ की-सी ठंडक बहुत ही सुखद होती। इस तरकीब को सुराहियों का झूलना कहते थे।

बाद के ज़माने में बर्फ जुटाने की भी एक अच्छी युक्ति निकाल ली गयी थी। सख़्त सर्दी के दिनों में खेतों और खुले मैदानों में रात को मिट्टी की रकाबियों और प्यालों में गरम-गरम पानी भरकर रख दिया जाता जो सुबह को जमा हुआ मिलता। उस बर्फ़ को उसी वक्त फौरन ज़मीन के अंदर गहरे खेतों में जो पहले से खुदे तैयार रहते, दबा देते और उनमें यह बर्फ जब तक दबी रहती अपनी हालत पर क़ायम रहती। बहरहाल इस तरकीब से इतनी बर्फ बनाकर खेतों में भर दी जाती कि साल भर के लिए काफी होती और उसी में से हर रोज़ निकाल ली जाती। मगर यह बर्फ़ इतनी साफ़ न होती कि पानी में मिलाई जाये बल्कि शोरे की तरह उसमें नमक और शोरा मिलाकर सुराहियां झूली जाती या बर्फ की क़ुलफ़ियां जमायी जातीं।

मगर यह इंतिज़ाम खास बादशाहों या उन्हीं की कोटि के अमीरों तक सीमित रहता। ग़रीब लोग इससे फ़ायदा न उठा सकते। ग़रीब और मध्यम वर्ग के लोग इन्हीं युक्तियों से काम लेकर पानी ठंडा करते और यही प्रबंध इतना आम हो गया था कि थोड़ा-बहुत हर घर में रहता।

बहरहाल लखनऊ में पानी का यह प्रबंध उन दिनों हुआ करता था और स्वभाव की स्वच्छता ने यह रूप धारण कर लिया था कि मिट्टी और जस्त की सुराहियों और ऐसे ही प्यालों पर अक्सर टूल का कपड़ा चढ़ा रहता और उस पर रुपहला गोटा ख़ूबसूरती से लपेटकर उनमें ऐसा आकर्षण पैदा कर दिया जाता कि पीना दरकिनार उसके बर्तन देखकर आंखों में ठंडक पैदा हो जाती।

मुझे यह नहीं मालूम कि आबदारख़ाने का यह इंतिज़ाम जो मैंने बयान किया है पूरा-पूरा दिल्ली में था भी या नहीं शायद वहां ज़रूर होगा। और वहीं से ये सब चीज़ें लखनऊ में आयी होंगी, मगर मैंने उस इंतिजाम और सामान को जितना आम लखनऊ के लोगों में देखा था, दिल्ली में नहीं देखा।

मुमकिन है कि वहां भी ऐसा ही हो लेकिन इसमें शक नहीं किया जा सकता कि लखनऊ में आकर मिट्टी के बर्तन की नफ़ासत और नज़ाकत बहुत बढ़ गयी इसलिए कि यहां की मिट्टी की अच्छाई की वजह से जैसे नाज़ुक और ख़ूबसूरत मिट्टी के बर्तन लखनऊ में बन सकते हैं और कहीं नहीं बन सकते। दिल्लीवालों के पास जस्त की सुराहियां ऐसी ही होंगी मगर ऐसी मिट्टी की सुराहियां वहां किसी को नसीब नहीं हो सकीं। मिट्टी के बर्तनों का वर्णन हम आगे किसी उचित अवसर पर करेंगे।

बादशाहों के साथ जहां वे जायें बावरचीख़ाना और आबदारख़ाना भी जाया करता था, लेकिन यहां आबदारख़ाने का इंतिज़ाम दूसरे अमीरों के यहां भी इतना बढ़ गया था कि बहुत से अमीर तो ऐसे थे जो अपना आबदारखाना अपने साथ रखते थे। चुनांचे मिर्ज़ा हैदर साहब का आबदारख़ाना और भिंडी-खाना इसी दानशीलता के सिद्धांत पर आधारित था कि वह जिस शादी में जाते सारी महफ़िल को पानी और हुक्का पिलाने का इंतिज़ाम उन्हीं के सुपुर्द हो जाता और महफिल में उनकी शिरकत बहुत से लोगों के लिए एक अप्रत्याशित वरदान साबित होती।

## [ 30 ]

अब हम उस दरबार और लखनऊ के लिबास पर बहस करना चाहते हैं जो दरअसल बहुत ही दिलचस्प बहस है।

पहले अरब मुसलमान जो यहां पहुंचे, वे हालांकि कुर्ते, तहमत और चुग़े पहनते थे, मगर लिबास वग़ैरा में वे यहां के लोगों से कुछ श्रेष्ठतर नहीं थे। लिबास में तरक़्क़ी उस वक़्त से शुरू हुई जब सासानी संस्कृति अपनाकर बग़दाद के अब्बासी दरबार ने अरब के शरीफ़ लोगों के लिए पायजामे, चुग़े और सुंदर अमामे (पगड़ी) ईजाद किये जो लिबास की पूरी तरह या ज़्यादातर सासानी दरबार के अमीरों और सरदारों के लिबास की नक़ल था। चंद ही दिनों में यही लिबास उन तमाम मुसलमानों का हो गया जो मिश्र से सिंधु नदी के किनारे तक फैले हुए थे। और अंत में वे उसी लिबास को लिये हुए हिंदुस्तान में आये। तस्वीरों में जो लिबास प्रारंभ के मुसलमान शासकों का नज़र

आता है वह क़रीब-क़रीब वही है जो ईरानी और अब्बासी अमीरों और शासकों का था। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना था कि यहां के सुल्तान और राजाओं के अनुकरण में जवाहिरात बहुत ज़्यादा पहना करते थे।

दिल्ली में मुग़ल दरबार का आख़िरी लिबास जो हमें मालूम हो सका यह था कि सिर पर पगड़ी, बदन में नीमाजामा,[1] टांगों में टखनों से ऊंचा तंग मोहरी का पायजामा, पांव में ऊंची एड़ी का जूता और कमर में जामे के ऊपर पटका। बस यही दिल्ली के पुराने शरीफ़ों की भूषा थी जिसमें मुहम्मद शाह रंगीले के ज़माने तक किसी तरह का रद्दोबदल नहीं हुआ था और अगर हुआ भी हो तो इतना न था कि हमें नज़र आ सके।

इस लिबास में नीमे से मतलब कुहनियों तक की आधी आस्तीनों का शलूका था और सामने सीने पर उसमें घुंडियां लगायी जाती थीं। उसे नीचे पहनकर उसके ऊपर पायजामा पहना जाता था जो ईरानी चुग़े में तरमीम करके बनाया गया था। इसमें गरीबान न होता था बल्कि दोनों तरफ के किनारे जो पर्दा कह लाते थे जिनसे एक-दूसरे पर आकर सीने को ढंक देते। सीने का ऊपरी हिस्सा जो गले के नीचे होता है, उसी तरह खुला रहता जैसे आजकल अंग्रेज़ी कोटों में खुला रहता है और जिस तरह फ़िलहाल क़मीस सीने के ऊपर वाले हिस्से को छिपाती है उसी तरह उन दिनों नीमा उसे ढंके रखता। सीने पर जामे का वह पर्दा जो बाईं तरफ़ से आता, नीचे रहता और दाहिने पहलू पर बंदों से बांध दिया जाता और उस पर दाहिनी तरफ का पर्दा रहता जो ऊपर बायें पहलू में बांधा जाता। फिर उसमें कमर के पास के दामन के बजाये एक स्कर्ट-सी जोड़ दी जाती जो टखनों के ऊपर तक लटकी रहती, उसमें बहुत-सी चुन्नट दी जातीं और उसका घेर बहुत बड़ा होता। जामे की आस्तीनें आधी कलाई तक बिना सिली और खुली रहतीं और वे दोनों तरफ लटका करतीं। उसके नीचे सीधी-सादी तंग मुहरियों का पायजामा होता जो अमीरों में मशरू और गुलबदन[2] का हुआ करता। फिर जामे के ऊपर कमर में पटका बांध लिया जाता।

दो-तीन सदी पहले हमारे बुज़ुर्गों और हिन्दुस्तान के अमीरों और तमाम शरीफ़ों का यही लिबास था। टोपियों, पगड़ियों और पायजामों में जो सुधार हुए उनका ब्योरा हम बाद में देंगे। फ़िलहाल हम जिस्म के दरम्यानी हिस्से

---

[1] जामे के नीचे पहनने का एक पहनावा।

[2] रेशमी कपड़े की क़िस्में।

के लिबास का ज़िक्र करते हैं जो सच पूछिये तो असली लिबास है और उसी से इन्सान की वेषभूषा स्थिर होती है। यही उस दौर का दरबारी लिबास था और लिबास पहने हुए नवाब बुरहान-उल-मुल्क मंसूर जंग और शुजाउद्दौला दिल्ली से अवध में आये थे। जामा आमतौर पर बारीक मलमल का होता जो हिंदुस्तान के विभिन्न शहरों में बहुत नफीस, बारीक और हल्की बना करती और सारी दुनिया में मशहूर थी। ढाके की मलमल और जामदानी ऊंचे वर्ग के अमीर और बादशाह ही पहना करते थे।

उसके बाद ईरानी क़बा[1] के अनुकरण में बालाबर[2] ईजाद हुआ जिसमें गोल गरीबान बिल्कुल खुला रहता इसलिए कि सीने के ढांकने के लिए नीमा काफ़ी था जो उसके नीचे भी पहना जाता। चुन्नट और घेर उसमें से निकाल दिया गया और इस ज़रूरत से कि दामन आगे की तरफ न खुलें। दाहिने दामन में एक चौड़ी कली लगा दी जाती। यही कली उस कली का पहला रूप है जो आजकल शेरवानियों में बाईं ओर नीचे से लेजाकर बंद से बांधी या हुक से अटकाई जाती है। बालाबर भी दिल्ली की ही ईजाद है।

इसी बालाबर पर तरक़्क़ी करके दिल्ली में अंगरखा ईजाद किया गया जिसमें दरअसल जामा और बालाबर दोनों को मिलाकर एक नया लिबास तैयार किया गया। इसमें सीने पर की चोली क़बा से ली गयी, मगर सीना खुला रखने की जगह एक गोल और लंबोतरा गरीबान बढ़ाया गया जिसके ऊपर गले के नीचे एक अर्धचंद्राकार कंठा लगाया जाता और वह बाईं तरफ गर्दन के पास घुंडी तकमें से अटका दिया जाता, चोली नीचे रहती जिसमें पहले दाहिनी तरफ का पर्दा नीचे बग़ल में बंदों से बांधा जाता और फिर ऊपर बंद होते जिससे दोनों तरफ के पर्दे सीने के नीचे बीचों-बीच में लाकर बांध दिये जाते, उसमें बायीं ओर थोड़ा-सा सीना खुला रहता, चोली नीची रहती और नीचे दामन हालांकि कबा के से होते मगर पुराने जामे की याद-गार में दोनों पहलुओं पर बगलों के नीचे चुन्नट जरूर रखी जाती।

यह पुराना अंगरखा था जो दिल्ली के आख़िरी दौर में रिवाज पा चुका था और वहां से सारे हिंदुस्तान में फैल गया। लखनऊ में आने के बाद इस अंगरखे में ज्यादा चुस्ती और काट- तराश पैदा की गयी। चोली खूब गोल,

---

[1] चुग़ा।

[2] अंगरखे का एक भाग।

ऊंची ग्रौर खिंची हुई चुस्त हो गयी। बग़लों की चुन्नट बिल्कुल निकल गयी। दामनों में बजाये मोड़कर टांक देने की संजाफी गोट लगाई गयी। फिर उसके बाद नबावज़ादों ग्रौर कपड़े पहनने के शौक़ीनों ने एक कमर-तोई के बदले जो चोली के नीचे बंद लगाने की जगह पर होती, प्लेटों की तरह तीन-तीन कमरतोइयां लगायीं। जगह-जगह गोट ग्रौर कमरतोइयों के पास कटाव का काम बनाया।

दिल्ली में ग्रंगरखे के बाद नीमा छूट गया था ग्रौर बायीं ग्रोर सीने का खुला रहना बुरा न था बल्कि फैशन माना जाता। लखनऊ में उसके नीचे नीमे के बजाये शलूका ईजाद हुग्रा जिसमें ग्रागे की तरफ़ बूताम (बटन) लगाये जाते इसलिए कि ग्रब योरुप के बूताम यहां पहुंच गये थे। शलूकों में फैशन दिखाये जाते। नाजुकमिज़ाज लोग जाली या बाबरलेट के चुस्त शलूके पहनते जिनमें कच्चे सूत के बेल-बूटे काढ़े जाते। बाज़ लोग रंगीन शलूके पहनते इसलिए कि उसके बेल-बूटे ग्रौर उसका रंग तंजेब के सफेद ग्रंगरखे के नीचे से ग्रपनी झलक दिखाकर खास नफ़ासत पैदा करते।

दूसरा सुधार बालाबर में दरबार के लखनऊ ग्राने के बाद यह हुग्रा कि चिकन के नाम से एक चुस्त क़बा ईजाद हुई। इसमें वैसा ही गोल गरीबान रखा गया ग्रौर उसमें ग्रंगरखे की तरह सीने पर पर्दा भी लगाया गया, मगर वह पर्दा दाहिनी तरफ ग्रर्ध-वृताकार ढंग से बूतामों से ग्रटकाया जाता। इसमें दाहिनी तरफ गले के पास से बूतामों का एक खूबसूरत धनुष गोलाई लेता हुग्रा गोद तक ग्राता ग्रौर उसकी दूसरी तरफ के ग्रर्ध-वृत में ग्रसली क़बा में सी दिया जाता। इसमें भी बालाबर की तरह चौड़ी कली ऊपर लगायी जाती जो बगल के नीचे बायीं तरफ बूताम या घुंडी से ग्रटका दी जाती। यह चिकन जोशाली या किसी ग्रौर भारी कपड़े की होती ग्रौर जाड़ों के मौसम के लिए ज्यादा मुनासिब थी। एक ज़माने में यहां दरबारी ग्रौर ग्रहलकार बगैरा की यही सम्मानित वेशभूषा थी। इसे ग्रंग्रेज़ों ने भी बहुत पसंद किया ग्रौर ग्रपने नौकरों को एक मुद्दत तक वही पहनाते रहे।

सबसे बाद लखनऊ के बिल्कुल ग्रंतिम काल में चपकन ग्रौर ग्रंगरखे दोनों को मिला देने से ग्रचकन ईजाद हुई। इसमें ग्रंगरखे ग्रौर ग्रचकन का-सा गरीबान क़ायम रखा गया जो बीच से सीधा काटकर ग्राधा-ग्राधा दोनों तरफ़ सी दिया जाता ग्रौर सिलाई की जगह पर संजाफी गोट के जरिये से गरीबान

की गोलाई और काट बाकी रखी जाती। बीच के चाक में, जो गले से लेकर सीधा गोद तक आता, बूताम लगा दिये जाते। वह बालाबर की कली जो ऊपर लगायी जाती थी इसमें नीचे कर दी गयी ताकि दामन भी न खुले और बालाबर की कली के ऊपर की तरफ लगाने से जो कुरुचि प्रकट होती थी, दूर हो जाये। अचकन का नीचे का हिस्सा बिल्कुल चपकन और अंगरखे का-सा होता। शौक़ीन लोग इसमें भी वैसी ही गोट और उसी तरह की तीन कमरतोड़ियां और कटाव का काम बनाते।

यह आखिरी ईजाद—अचकन—लोगों को बहुत पसंद आयी। इसका रिवाज शहर से गुज़रकर देहातों में शुरू हुआ और देखते-देखते सारे हिंदुस्तान में फैल गया। यही अचकन हैदराबाद पहुंचकर थोड़ी-सी तरमीम के बाद शेरवानी बन गयी। वहां इसकी आस्तीनें अंग्रेज़ी कोट की-सी कर दी गयीं। गरीबान जो गोट लगाकर सीने पर रखा जाता था, निकाल डाला गया। काट-तराश में अंग्रेज़ी कोट की शैली दामनों वग़ैरा में भी अपनायी गयी और वह लिबास ईजाद हो गया जो आजकल हिंदुस्तान के हिंदु-मुसलमान तमाम लोगों की राष्ट्रीय वेशभूषा कहलाने के योग्य है। लखनऊवालों ने भी चंद रोज़ बाद जब अपनी पुरानी ईजाद में हैदराबाद का संशोधन देखा, जो मुनासिब भी था, तो उसे बहुत ही पसंद किया। और थोड़े ही समय में शेरवानी का रिवाज हर शहर और क़स्बे की तरह लखनऊ में भी हो गया।

अंगरखे के नीचे जो शलूका पहना जाता था उसके बदले पहले ढीला और ऊंचा कुर्ता अपनाया गया और कुछ रोज़ बाद पश्चिमी प्रभाव ने कुर्ता छुड़ाकर अंग्रेज़ी क़मीस को रिवाज दिया जिसमें कफ़ और कालर होते हैं। क़मीस और कालर के रिवाज ने शेरवानी की बनावट और बढ़ा दी यानी यह ज़रूरी हो गया कि सफ़ेद कालर ऊपर निकला रहे और शेरवानी का ऊपर का सिरा अगले पर हुक से अटकाकर क़मीस के उस ऊपरी बूताम के नीचे रहे जिसमें कालर लगाया जाता है। आस्तीनें इतनी रहीं कि कफों का कुछ हिस्सा निकला रहे। शिक्षित और मध्यम वर्ग के लोगों का लिबास दूसरे शहरों की तरह फ़िलहाल लखनऊ में भी यही शेरवानी है मगर यह लखनऊ की ही विशेषता नहीं क्योंकि लखनऊ की ईजाद तो अचकन पर समाप्त हो गयी और जिसका अब क़रीब-क़रीब रिवाज ही खत्म हो गया है।

जिस्म के दरम्यानी हिस्से के लिबास का हाल हम बयान कर चुके है । लिहाज़ा अब लिबास के उस हिस्से की तरफ ध्यान देते है जिसका संबंध सिर से है और इसी लिबास की हिंदुस्तान में ज़्यादा इज्ज़त की जाती है इसलिए कि जिस तरह सिर सारे जिस्म में प्रमुख है उसी तरह उसके लिबास को भी अधिक प्रधानता मिलनी चाहिए । प्राचीन काल से हिंदुस्तान मे पगड़ी बांधने का रिवाज चला आता है । अगर्चे अरब और ईरानी भी अमामे बांधे हुए यहां आये और उनकी हुकूमत क़ायम हो जाने की वजह से यहां की पगड़ियों में बहुत-कुछ तब्दीली आ गयी लेकिन यह नहीं कह सकते कि मुसलमानों के आने से पहले यहां पगड़ी न थी ।

प्रारंभिक काल के मुसलमान शासकों के अमामे बड़े-बड़े थे और इसी लिहाज़ से उन दिनों सभी प्रतिष्ठित लोग और सामंत तथा धनिकों की पगड़ियां भी संभवत: बडी-बड़ी होंगी जिनके नीचे प्राचीन तुर्की ढंग की नौकदार और शंक्वाकार टोपियां होतीं जो अफ़ग़ानिस्तान में आजकल प्रचलित है और उन्हीं से लेकर हमारी हिंदुस्तानी फ़ौज की वर्दियों में शामिल की गयी है ।

मुग़ल शासन-काल में पगड़ियां रोज़-बरोज़ छोटी होने लगी और उसकी वजह यह है कि ठंडे देशों में जिस तरह सर्दी से बचने के लिए जो-जो ज़माना गुज़रता है, लिबास वज़नी और गंदा होता जाता है, वैसे ही गरम देशों में हल्का और कम से कम होता रहता है । प्राचीन मुसलमान विजेता जैसे भारी और मोटे कपड़े पहने हुए यहां आये होंगे, उनके वज़नी होने का अंदाज़ा तो हम सिर्फ कल्पना से कर सकते हैं, मगर अंग्रेज़ों को अपनी आंख से देख रहे हैं कि उनका और उनकी औरतों का लिबास रोज़-बरोज़ कितना कम और हल्का होता जाता है ।

इसी नियम के अनुसार यहां पगड़ियां रोज़-बरोज़ हल्की और छोटी होती गयीं और देश का यह रुझान दरबार के फैशन पर भी असर डालता गया । मुग़ल दरबार के अंतिम काल में अमीर और मंसबदारों की पगड़ियां बहुत हल्की हो गयी थीं और थोड़े लिबास की इसी प्रवृत्ति ने यह बात पैदा की कि पगड़ियों के सैकड़ों फ़ैशन हो गये और अक्सर अमीरों ने अपने लिए ख़ास बंदिश

ग्रौर खास तरह की छोटी-छोटी पगड़ियां ईजाद कर लीं।

पगड़ियों के छोटे होने ने तुर्की टोपी को छुड़वा दिया ग्रौर यह हालत हो गयी कि किसी की पगड़ी के नीचे टोपी होती ही न थी ग्रौर बाज़ पहनते भी थे तो किसी बहुत ही बारीक कपड़े की ज़रा-सी टोपी जो फूंक में उड़ जाये। इन टोपियों के बारे में हमें निश्चित रूप से नहीं मालूम है कि किस फ़ैशन की होती थीं। शायद उन टोपियों की बनावट उन टोपियों की बनावट से मिलती हुई होगी जो ग्रब शेखों ग्रौर फ़क़ीरों के सिरों पर होती हैं यानी एक छह-सात उंगल की चौड़ी पट्टी का सिर के बराबर एक घेरा बनाया जाये ग्रौर ऊपर की तरफ़ चुन्नट देकर वह समेट दिया जाये।

लेकिन चंद रोज़ में ज़रूरत महसूस हुई कि घर में ग्रौर बेतकल्लुफ़ी की महफ़िलों में पगड़ी उतारकर रखदी जाया करे। लेकिन नंगे सिर रहना चूंकि बुरा समझा जाता है इसलिए किसी क़िस्म की टोपी सिर पर ज़रूर है। इस ज़रूरत के पूरा न करने के लिए दिल्ली में ताज के ग्राकार से लेकर एक कमरखी टोपी बनायी गयी जिसमें उस गोल घेरे के ऊपर जो सिर में पहना जाता था चार कोने निकले रहते। इस फ़ैशन की टोपी ग्रब भी दिल्ली के कुछ ग्रमीरों ग्रौर शाहज़ादों के सिरों पर नज़र ग्रा जाया करती है। यह टोपी सही मानो में चौगोशिया[1] कहलाती थी। चंद रोज़ के ग्रंदर इस टोपी में भी रद्दोबदल शुरू हुग्रा ग्रौर दिल्ली में ही कमरखी कोने निकालकर एक गोल क़बानुमा टोपी ईजाद हुई जिसमें चार पान ऐसी बनावट के काटकर जोड़े जाते कि एक लबोतरा क़बा सिर पर नज़र ग्राता। यही टोपी पहने हुए लोग लखनऊ में ग्राये ग्रौर उस वक़्त से उसमें लखनऊ के दरबार का ग्रसर पड़ना शुरू हुग्रा। यहां इसमें पहली तब्दीली यह हुई कि पानों के जोड़ों पर लंबी सुराहियां बनायी गयीं ग्रौर उन सुराहियों के दरम्यान सुंदर चांद बनाये गये। ये चांद ग्रौर सुराहियां इस तरह बनायी जातीं कि बारीक तंज़ेब के पानों में नैनसुख की सुराहियां ग्रौर चांद काटकर ग्रंदर की तरफ टांक दिये जाते जो ऊपर दिखाई देते ग्रौर टोपी में एक ग्रच्छी सफाई ग्रौर सादगी पैदा करते। यह टोपी यहां बहुत पसंद की गयी। ग्राम लोगों ने यकायक पगड़ी बांधना छोड़ दिया ग्रौर हर सभ्य ग्रौर शिष्ट व्यक्ति के सिर पर यही टोपी नज़र ग्राने लगी।

इस टोपी की लोकप्रियता के कारण इसकी बनावट में ग्रौर सुधार हुग्रा।

[1] चार तिकोने टुकड़ों की बनी हुई टोपी।

लंबोतरापन खत्म होकर उसमें बहुत ही मुनासिब गोलाई पैदा की गयी और लकड़ी और तांबे के सांचे ईजाद हुए ताकि उन पर खेंचकर ये चौगोशिया टोपियां (जो दिल्ली वाली पुरानी कमरखी टोपियों का नाम अपने साथ लेती आयी थीं) खूब क़बादार और गोल कर ली जायें ।

इतने में नसीरउद्दीन हैदर का ज़माना आया जबकि लखनऊ में शीआ मज़हब काफ़ी तरक़्क़ी पर था और मज़हब, राजनीति, संस्कृति, और समाज-व्यवस्था हर चीज़ में अपनी रुचि के अनुसार कर रहा था । अरब के खलीफ़ाओं के विरोध और पंजतन[1] के प्रेम ने लखनऊ की समाज-व्यवस्था में चार की संख्या को अप्रिय और पांच की संख्या को प्रिय बना दिया था जिसका असर टोपी पर पड़ा कि कुछ प्रामाणिक हदीसों के आधार पर जहांपनाह ने खुद यह हिदायत दे दी कि उस चौगोशिया टोपी में चार की बजाये पांच पान कर दिये गये जिसकी वजह से उसमें पांच सुराहियां और पांच पान हो गये और नाम भी बजाये चौगोशिया के पंजगोशिया क़रार दिया गया । लेकिन असल टोपी में जो सुधार हुआ था वह ऐसा स्थायी हो गया कि चार पानों की टोपियां बिल्कुल नष्ट हो गयीं और किसी को याद भी न रहा कि कभी उनमे सिर्फ चार पान हुआ करते थे । मगर चौगोशिया का नाम न मिट सका । आज-तक बाक़ी है और ज़बानों पर वही है । हालांकि कुछ लोग पंचगोशिया भी कहते हैं मगर ज़्यादा लोग ऐसे ही हैं जो इस पांच पानों वाली टोपी को आज तक चौगोशिया कहते हैं ।

अवध के शासक नसीरउद्दीन हैदर ने यह पांच पानों वाली टोपी शुरू में तो खास अपने लिए ईजाद की थी और उनकी ज़िंदगी में रिआया में से किसी की मजाल न थी कि उस टोपी को पहने । मगर शहर वालों को टोपी का यह फ़ैशन ऐसा पसंद आ गया था कि उनकी आंख बंद होते ही हर छोटे-बड़े ने उसी को अपना लिया था और लखनऊ के सारे शिष्ट और सभ्य लोगों के सिरों पर यही गोल क़बानुमा टोपी नज़र आती थी ।

चंद रोज़ बाद जाड़ों की ज़रूरत से इसी क़िस्म की बड़ी सुंदर कामदार टोपियां ईजाद हो गयीं जिनमें पांचों पानों में ज़रबफ्त या ज़री बूटी की ज़मीन पर दूसरे रंग की रेशमी ज़मीन देकर फीतों से चांद और सुराहियां बनायी

---

[1] पांच व्यक्ति अर्थात हज़रत मुहम्मद, हज़रत अली, हज़रत फ़ातिमा (उनकी पत्नी) और उनके दोनों पुत्र इमाम हसन और इमाम हुसैन ।

जाती थीं और सभी फ़ैशनेबुल लोगों के सिरों पर जाड़ों के मौसम में उनके सिवा और कोई टोपी न होती थी। उसके बाद जब चिकन का रिवाज हुआ तो गर्मी के मौसम के लिए उसी काम की चौगोशिया टोपियां ऐसी उम्दा, साफ़-सुथरी और खुशनुमा बनने लगीं जो साल-साल भर की मेहनत में तैयार होतीं और दस-दस बारह-बारह रुपये तक उनकी क़ीमत पहुंच गयी।

उसी ज़माने में दिल्ली के एक शाहज़ादे लखनऊ आये जिनकी दरबार और सोसाइटी ने बड़ी इज्ज़त की। वे दुपलड़ी टोपी पहना करते थे जिसमें सिर के लंबान के अनुरूप दो लंबे पल्ले अंडाकार आकृति में काटकर जोड़ दिये जाते थे। उनकी यह सादी टोपी अक्सर लोगों को पसंद आयी इसलिए कि वह दूसरी टोपियों की बनिस्बत ज़्यादा सादी और तैयारी की दृष्टि से आसान थी। बहुत से लोगों ने यह टोपी अपना ली और जनता में इसका ऐसा रिवाज हो गया कि अज़ यही 'दुपलड़ी टोपी वाले शाहज़ादे' मशहूर हो गये और करोड़ों लोगों के सिरों पर आजकल इस काट-तराश की टोपियां देखी जा सकती हैं। यहां तक कि शाही के आखिरी दौर में इसी दुपलड़ी से लेकर यहां एक बहुत छोटी पतली टोपी ईजाद हुई जिसमें आगे-पीछे दोनों तरफ दो नोकें निकली होतीं। यह नुक्केदार टोपी कहलाती थी और इस क़िस्म की भारी काम की टोपियां खास शाहज़ादे, रईस, शाही रिश्तेदार और ऊंचे दर्जे के नवाबज़ादे ही इस्तेमाल करते थे।

ग़दर के ज़माने तक लखनऊवासियों में दो ही तरह की टोपियों का रिवाज था—एक तो चौगोशिया जिसे मुहज़्ज़ब और पढ़े-लिखे लोग पहनते थे और दूसरी दुपलड़ी जिसका शाहज़ादों से लेकर निचले वर्ग के लोगों तक थोड़ी बहुत तब्दीली के साथ रिवाज था और जो आज आम लिबास है।

संभवत: ग़ाजीउद्दीन हैदर या नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने ही से एक गोल टोपी का भी खास लोगों में रिवाज हो गया जो 'मिंदील' कहलाती। इसकी बनावट डफली की-सी होती और अक्सर कारचोब के काम की पसंद की जाती। दौलतमंदों और कुछ नवाबज़ादों ने इसको ज़्यादा शानदार समझकर अपनाया और उसको इतना महत्व दिया गया कि बादशाह और शाहज़ादों के सामने बिना पगड़ी बांधे या कारचोब की मिंदील पहने कोई शख्स न जा सकता था। ग़रज़ मिंदील को दरबार में जगह दे दी गयी। इसी मिंदील पर आधारित वह गोल टोपी थी जिसके ऊपर के कोने ज़रा गोलाई लिये हुए होते

ग्रौर 'जज़ीली टोपी' कहलाती। यह ग्रामतौर पर काले मखमल की होती ग्रौर इस पर सच्चे सुनहरे कलाबतून का सच्चा काम होता। ग्रसल में यह टोपी ग्रंग्रेज सरकार की फ़ौज में गोरों को दी गयी थी ग्रौर ज़ाहिर में इसमें वर्दी की शान भी थी, मगर ग्रंग्रेज़ों के ग्रनुकरण का संभवतः पहला नमूना यही था कि यह फ़ौजी ग्रौर जज़ीली टोपी शाहज़ादों ग्रौर खानदानी ग्रमीरों के लिबास में दाखिल हो गयी।

ग्रवध के ग्रंतिम शासक वाजिद ग्रली शाह ने ग्रपने दरबार के ऐसे सदस्यों के लिए जिन्हें खिताब मिले हुए थे, एक नयी ग्रौर ग्रजीब क़िस्म की दरबारी टोपी ईजाद की। इसमें काग़ज़ का पुट्ठा देकर एक गोल घेरा सादे ग्रतलस या कारचोबी का काम बनाया जाता जो माथे पर ज्यादा ऊंचा होता। इसमें ऊपर की तंज़ेब, ग्रंट या जाली की एक बड़ी-सी झोली बनाकर जोड़ दी जाती ग्रौर पहनने में वह झूल पीछे गुद्दी तक लटकती ग्रौर सिर के पिछले हिस्से पर पड़ी रहती। इस दरबारी टोपी का नाम बादशाह ने 'ग्रालम पसद' रखा था ग्रौर ग्रक्सर लोग उसे 'झूला' कहते। मगर यह इतनी ग्रप्रिय ग्रौर नापसंद थी कि वाजिद ग्रली शाह की ज़िंदगी में भी उनके दरबार के बाहर उन लोगों के सिरों पर भी नज़र न ग्रा सकती थी जिनको वह प्रदान की गयी थी। ग्रौर उनके बाद तो ऐसी मिट गयी कि ग्राजकल के लोगों ने शायद इसे देखा भी न होगा।

ग़दर के बाद लखनऊ मे टोपियों की दुनियां में सहसा एक इंक़लाब ग्रा गया। चंद रोज़ तक तो चौगोशिया, दुपलड़ी ग्रौर मिंदीलों या पगड़ियों के सिवा सिर का कोई लिबास न था। उसके बाद यकायक चौगोशिया टोपी का रिवाज छूटना शुरू हुग्रा यहां तक कि ग्रब उसके लिए चंद पुराने फ़ैशन को पसंद करने वाले सिर रह गये हैं। इन टोपियों से जो सिर खाली हो गये उनमें से ज़्यादातर ने दुपलड़ी टोपी ग्रपनायी लेकिन कुछ ऐसे थे जो उसमें भी नयापन पैदा करने लगे। चद रोज़ तक मेरठ की सिली हुई मिंदीलनुमा टोपियों का दौर रहा, उसके बाद ग्रंग्रेज़ों का नाइट कैप या कश्मीर की ऊनी, लंबी चंदवेदार टोपियां प्रचलित हुयीं। फिर उन्हीं की बनावट के ग्रनुरूप ग्रंट या साटन की पतली-पतली टोपियां इख्तियार की गयीं जो छोटी होते-होते दुपलड़ी के क़रीब पहुंच गयी थीं। ग्रब ग्रंग्रेजी दौर के फैशन शुरू हुए ग्रौर सिर के लिए उनके लिबास से मिलता-जुलता लिबास ढूढा जाने लगा। बाज़ बुज़ुर्गों ने तो हर तरफ से

आंखे बंद करके बिना झिझक के हैट या अंग्रेजों की नाइट कैंप पहनना शुरू कर दीं।

लेकिन अब तुर्की टोपी का दौर शुरू हो गया था। इस टोपी को सर सैयद एहमद खां ने अपनाया था और मुसलमान जैंट्लमैन के लिए कोट-पतलून में उसका जोड़ लगाया था इस वजह से शुरू में यह टोपी बहुत ही नफ़रत की निगाह से देखी गयी। उसका नाम 'नेचरियों की टोपी' पड़ गया[1]। अखबारों में उस पर हज़ारों फब्तियां कही गयीं, मगर सर सैयद की दृढ़ता ने उसे प्रचलित करके ही छोड़ा। उनकी जिंदगी में ही लाखों आदमी इसे पहनने लगे, यहां तक कि लखनऊ में भी आ पहुंची। बहुतों ने विरोधियों की होड़ में यहां भी इसे पहनना शुरू कर दिया, लेकिन अंदर-ही-अंदर इसकी तरफ लोगों का रुझान इतना बढ़ा कि अब सारे हिंदुस्तान में अक्सर पढ़े-लिखे और सभ्य मुसलमान इसी टोपी का इस्तेमाल कर रहे हैं।

लखनऊ में प्रतिष्ठित, सुशिक्षित और शिष्ट शीआ हिंदुस्तान के तमाम शहरों से ज्यादा हैं और उनमें इस बात का विचार सुन्नियों की अपेक्षा अधिक है कि हर बात में अपने को सुन्नियों से अलग करें और अपना आचार-व्यवहार भी उनसे भिन्न रखें। इसके साथ ही यह भी है कि जिस तरह सुन्नी लोग पश्चिमी तुर्की के शासन के पक्षपाती है, शीआ ईरान के काचर वंश के शासन के समर्थक और अनुयायी है। लिहाज़ा जब लखनऊ में तुर्की टोपी का रिवाज बढ़ना शुरू हुआ तो जो तुर्कों की टोपी है तो फैशनेबुल शीओं को ख़याल हुआ कि बजाये तुर्की टोपी के ईरानी दरबार की कुलाहे-पापाख़ (काली टोपी) को अपने लिए पसंद करें। यह प्रवृत्ति अपना काम कर गयी और अब यह हालत है कि जो मुसलमान अपनी पुरानी टोपियों को छोड़कर नयी टोपी अपनाते हैं वे अगर सुन्नी हैं तो तुर्की टोपी पहनने लगते हैं और अगर शीआ है तो ईरान की पर्शियन कैप ही इख़्तियार करते है। लेकिन इन दोनों गिरोहों में बाज़ ऐसे रोशन ख़याल भी मौजूद हैं जो मुसलमानों के अंदरूनी मतभेद को मिटाना चाहते हैं और सुन्नी होने के बावजूद ईरानी या बावजूद शीआ होने के तुर्की टोपी पहनते हैं, मगर ऐसे लोग कम हैं। शहर के मुसलमानों के आधुनिक रुचि

[1] सर सैयद एहमद खां के क्रांतिकारी सुधारों के विरोध में मौलवियों ने उन्हें दहरिया (नास्तिक) नेचरी (भौतिकवादी) आदि नामों से अभिहित किया था।

के लोगों का ग्राम चलन यही है कि शीग्रा ईरानी ग्रौर सुन्नी तुर्की टोपी पहनते हैं।

मुसलमानों का यह ग्रापसी बैर देखकर हिंदू शिक्षित लोगों ने ग्रामतौर पर गोल मिंदीलनुमा फेल्ट कैप इख्तियार कर ली। इसे कुछ मुसलमान भी पहनते हैं। मगर हिंदू ग्रंग्रेज़ी दोनों के फ़ैशन में चूंकि इसका दखल हो गया था इसलिए ग्रंग्रेज़ों ने इसका नाम 'बाबूज़ कैप' रख दिय है। मगर ग्राम जनता चाहे हिंदू हो या मुसलमान, शीग्रा हो या सुन्नी दुपलड़ी ही पहनते हैं।

ग़दर के बाद जो जमाना गुज़रा वह लखनऊ की सोसाइटी के लिए उपद्रव का ज़माना था। ग्राचार-व्यवहार ग्रौर स्वभाव के साथ लोगों की वेशभूषा ग्रौर रहन-सहन में भी परिवर्तन होने लगा ग्रौर शिक्षित समाज में ऐसे लोग खासी बड़ी संख्या में पैदा हो गये जिन्होंने ग्रपने रहन-सहन के साथ ग्रपनी वेशभूषा भी बिल्कुल छोड़ दी। न उनकी टांगों में पायजामा रहा, पिंडे पर ग्रंगरखा, न पांव में चढ़ौवा जूता रहा, न सिर पर टोपी या पगड़ी, बल्कि एक ही छलांग में वे सातों समुद्र फांदकर हिंदुस्तान से इंग्लिस्तान में कूद पड़े ग्रौर कोट-पतलून, बूट ग्रौर हैट उनका लिबास हो गया। लेकिन ग्राबादी के ग्रधिकांश लोगों ने ग्रपना चलन बाक़ी रखना चाहा, लेकिन इसके बावजूद उन्हें चाहे महसूस हुग्रा हो या नहीं, उनकी वेशभूषा में भी परिवर्तन ग्राया ग्रौर ग्रंगरखे की बजाये शेरवानी उनका क़ौमी लिबास बन गयी। लेकिन सिर के लिए मालूम होता है कि जैसे ग्रभी तक कोई ऐसी टोपी नहीं चुनी जा सकी जिसे सभी निस्संकोच ग्रपना लें।

इस झगड़े-फ़साद ग्रौर रद्दोबदल के ज़माने में लखनऊ में बीसियों टोपियां पैदा हुईं जो खुद यहीं की ईजाद थीं या किसी ग्रौर जाति या स्थान से ली गयी थीं। उनमें से जो चंद रोज़ तक ठहर सकीं उनमें लखनऊवालों ने ग्रपनी रुचि के ग्रनुसार बहुत कुछ परिवर्तन भी किया लेकिन धीरे-धीरे वे समाप्त हो गयीं। लखनऊवालों की स्वाभाविक वृत्ति इस ग्रोर है कि हर चीज़ जहां तक मुमकिन हो सके नाज़ुक, नफ़ीस, छोटी, चुस्त ग्रौर हल्की हो। हर क़िस्म के तौर-तरीके ग्रौर वेशभूषा में उन्होंने इसी प्रकार की तब्दीली की ग्रौर ग्रधिकांश टोपियों में भी इसी प्रकार का परिवर्तन हुग्रा मगर तुर्की टोपी, ईरानी टोपी ग्रौर हैट के ग्राकार-प्रकार में ये लोग कोई तब्दीली न ला सके। इसकी वजह यह है कि ये टोपियां दूसरों से बनी-बनायी ली जाती हैं ग्रौर बाहर से

आती हैं तब्दीली न हो सकने की वजह से हमारा ख़याल है कि इन टोपियों में से एक भी यहां का क़ौमी लिबास न बन सकेगी क्योंकि इनका रिवाज तो यहां बहुत हुआ मगर ये लखनऊ की रुचि से बिल्कुल भिन्न हैं। यही कारण है कि टोपी के मसले पर लिबास के बनाने वाले अब तक ग़ौर कर रहे हैं।

[ 32 ]

अगर्चे हिंदुस्तान में और खासतौर से लखनऊ में सिर का लिबास टोपी है, मगर यह न समझना चाहिए कि यहां की नज़ाकत-पसंदी ने पगड़ी को मिटा दिया। दरबार में तो आमतौर पर पगड़ियों का रिवाज था। दिल्ली की वे सम्मानित सामंती पगड़ियां तो बेशक यहां नहीं रहीं और अमीर तथा शाही खानदानवालों के सिरों पर सिर्फ़ टोपियां ही रह गयीं। मगर दरबार के लिए आखिरी दौर तक पगड़ियां ज़रूर थीं और आम नौकरों का यह नैतिक कर्त्तव्य था, और अब भी बहुत हद तक है, कि आक़ा के सामने जायें तो सिर पर पगड़ी बांधकर जायें।

ख़ुद शासकों के सिरों पर पुरानी पगड़ी नवाब सआदत अली खां के ज़माने तक रही। नवाब बुरहान-उल-मुल्क नवाब शुजाउद्दौला और नवाब आसफ़-उद्दौला के सिरों पर वही दिल्ली के सरकारी ओहदेदारों की-सी सफेद पगड़ी हुआ करती जिस पर बड़े दरबारों के अवसर पर जवाहिरात की कलग़ियां, सजे-धजे जीग़े और सफ़ेद होती थीं। मगर नवाब सआदत अली ख़ां के सिर पर हमें एक नयी क़िस्म की पगड़ी नज़र आती है जिसे लखनऊवासी अपनी ज़बान में 'शमला' कहते थे। यह शमला यहां इस तरह बनाया जाता कि भराव में कपड़े का एक चौड़ा और पतला गलरदार घेरा सिर की नाप के बराबर बनाया जाता जो बीच में खाली और खुला रहता। फिर किसी नफ़ीस रेशमी या शाली कपड़े की पतली-पतली, बहुत लंबी बत्ती बनाकर उसके बीसों पेच उस कपड़े के घेरे पर नीचे और ऊपर बराबर-बराबर लपेटकर टांक दिये जाते। उस घेरे में ऊपर की तरफ एक चौड़ी पट्टी वैसे ही रेशमी या शाली कपड़े की जोड दी जाती ताकि वह उस घेरे को नीचे उतारने से रोके रहे। मगर इससे पूरी चांदिया ढंक न पाती थी इसलिए उसके नीचे कोई मामूली दुपलड़ी

या चौगोशिया टोपी ज़रूर रहती। यह था लखनऊ का असली शमला जिसको पहले-पहल नवाब सआदत्त अली खां ने पहना और शायद वह मध्य भारत के हिंदू और मुसलमान दरबारों की उन पगड़ियों को देखकर बनाया गया था जो किसी बारीक रंगीन कपड़े की सैकड़ों गज़ की बत्तियों को खास-खास क्रम से लपेटकर बनाई जाती थीं। नवाब सआदत अली खां ने इस शमले को खुद ही नहीं पहना बल्कि दरबार के प्रतिष्ठित सदस्यों और वज़ीरों आदि को भी वही दिया गया।

गाजीउद्दीन हैदर को अंग्रेज सरकार ने बादशाह बना कर ताज पहना दिया जो दरअसल हिंदुस्तान और एशिया का शाही ताज न था बल्कि एक क़िस्म का योरुप का ताज था। उस वक्त से लखनऊ के शासकों ने शमले या दस्तार को बिल्कुल छोड़ दिया और उनके साथ तमाम शाहज़ादों और शहर के प्रतिष्ठित लोगों ने भी पगड़ी से विदा ली। शाहज़ादे खास मौक़ों पर तो ताज पहनते मगर आमतौर पर मसालेदार भारी काम की नुक्केदार टोपियां पहनते और उन्हीं का अनुकरण शहर के दूसरे सम्मानित लोग भी करते। लेकिन सल्तनत के ओहदेदारों, वज़ीरों और दीगर कर्मचारियों को हुक्म था कि शमला पहनकर सुल्तानों और वज़ीरों के दरबार में आयें। ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के ज़माने से अमजद अली शाह के शासन-काल तक तमाम ओहदेदारों के सिर पर वही शमला रहा करता था जिसकी शाब्दिक तस्वीर अपने पाठकों को हम दिखा चुके हैं। वाजिद अली शाह ने जब अपने दरबार की ख़ास टोपी 'आलम पसंद' (झूला) ईजाद की तो यह नियम बन गया कि जिन लोगों को दरबार से ज़्यादा घनिष्टता होती और 'दौला' का खिताबमिल जाता उनको 'आलम पसंद' भी प्रदान की जाती। उनका फर्ज था कि 'आलम पसंद' पहनकर दरबार में आयें। उनसे नीचे दर्जे के लोग जिनकी दरबार तक पहुच होती और जो किसी कारख़ाने या महक्मे के दारोगा होते उनको दारोग़ा के खिताब के साथ शमला दिया जाता और वही पुराना शमला पहनकर हाजिर होते जो पहले-पहल नवाब सआदत अली ख़ां के सिर पर लोगों को नज़र आया था। बाक़ी तमाम लोगों को हुक्म था कि किसी किस्म की पगड़ी बांधकर दरबार में आयें और पगड़ी न हो तो टोपी उतार लें। अहलकारों के जिस शमले का हमने जिक्र किया है उसी क़िस्म का शमला संभवतः मुर्शिदाबाद के दरबार में भी था और उसी का असर था कि आज से पचास बरस पहले हम कलकत्ता हाई कोर्ट

के बंगाली वकीलों को उसी तरह का शमला पहनते देखते थे लेकिन वह शमला अवध के दरबार के शमलों से हल्का और हमारी नज़र में ज़रा ओछा होता।

अब पगड़ी को सिवा ओहदेदारों के तमाम शौक़ीन लोगों और शहर के प्रतिष्ठित लोगों ने त्याग दिया था, लेकिन इस पर भी दरबार में और आम जनता में पगड़ी की जो इज़्ज़त दिलों में क़ायम थी और है, उसका सबूत इससे ज़्यादा क्या होगा कि शादियों के मौक़े पर हर निचले वर्ग मे दूल्हा के सिर पर पगड़ी हुआ करती है और लखनऊ के शरीफ़ लोगों में तो आमतौर पर भारी कमख़्वाब के शमले का रिवाज है।

यहां के दरबार ने ऊपर बताई गयी पगड़ियों के अलावा कर्मचारियों के विभिन्न वर्गों के लिए अलग-अलग ढंग की पगड़िया भी नियत कर दी थी। मुहर्रिरों के लिए उसी उपरिलिखित शमले की-सी सफेद मलमल की पगड़ी निश्चित थी। दरबार के हरकारे और चौबदार भी उसी बनावट की पगड़ियां पहनते (इसलिए कि वे पगड़िया बांधी नहीं बल्कि टोपी की तरह पहनी जाती थी) फ़र्क़ यह था कि हरकारों की पगड़ियां सुर्ख़ होतीं और चोबदारों की सफेद बुर्राक़ जिन पर आगे दाहिनी तरफ मुकैश का एक फूल भी टंका होता। हरकारों की पगडियों से मिलती-जुलती पगडियां कहारों की होतीं। उनकी पगड़ियों में दाहिनी ओर की कोर पर चांदी की मछलिया टंकी होतीं और जिस्म पर सुर्ख़ बानात के ढीले-ढाले चुग़े होते थे।

इनके अलावा तमाम फ़ौजों और प्रतिष्ठित लोगों के सेवकों में भी पगड़ियों का रिवाज था जो अपने-अपने ढंग की अलग होती थी।

सबसे ज़्यादा आदर-सम्मान विद्वानों के अमामों का होता था और मुनासिब मालूम होता है कि इस मौक़े पर पगड़ियों के सिलसिले में हम विद्वानों का ज़िक्र करें। लखनऊ में मुसलमानों के दो संप्रदायों के विद्वान हैं: एक सुन्नियों के उलमा और दूसरे शीओं के मुज्तहिद। इन दोनों का आचार-व्यवहार भिन्न है। सुन्नियों को अरबवालों की वेशभूषा में धार्मिक पवित्रता और श्रेष्ठता नज़र आती है और शीओं को फ़ारस के उलमा के लिबास में और इसी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार ही दोनों संप्रदायों के विद्वानों का लिबास भी है।

आंहजरत सल्लम (हज़रत मुहम्मद साहब) के काल में अरबों का अमामा केवल इतना होता था कि कोई छोटा-सा कपड़ा सिर पर लपेट दिया जाये

जिसमें न कोई काट-तराश होती थी और न कोई फैशन। मगर जब अब्बासी खलीफ़ाओं के काल में इराक़ खिलाफ़त का केंद्र निश्चित हुआ तो ईरानी और सासानी लिबास का प्रचलन अरब के नेताओं और प्रतिष्ठित लोगों में शुरू हो गया। बहरहाल जो बड़े-बड़े शानदार अमामे और तैलिसान[1] वग़ैरा अरब के खिलाफ़त के ज़माने के विद्वानों ने अपनाये उनको अरबी लिबास मुश्किल से कहा जा सकता है। हिंदुस्तान के सुन्नियों के उलमा ने पुराने ज़माने में अरबी लिबास छोड़कर दिल्ली का दरबारी चलन अपना लिया था और ऐसी निष्ठा से वहां के लिबास को निबाहा कि आज हिंदुस्तान के सभी लोगों ने इसे छोड़ दिया मगर वे अभी तक उसी को अपनाये हुए हैं।

चुनांचे आज तक फ़िरंगी महल के उलमा की असली वेशभूषा यह है कि एक सीधा गोल अमामा बांधते हैं जिसकी बंदिश में इसकी बिल्कुल कोशिश नहीं की जाती कि पेशानी पर मेहराब की-सी आकृति बन जाये। जिस्म में पुराने ज़माने का जामा होता है जो सब जगह बिल्कुल सपना बन गया। पांवों में चौड़े अर्ज़ के पांयचों का टखनों से ऊंचा पायजामा होता है और गले में एक पतला-सा दुपट्टा पड़ा होता है। इसी लिबास में हमारे फ़िरंगी महल के दो-एक बुज़ुर्ग आज भी जुमे की नमाज़ पढ़ाने को आते हैं। मगर घरों में वे मामूली सादी दुपलड़ी या चौगोशिया टोपी, लंबा कुर्ता जिसमें गरीबान का चाक बीच में हो या अंगरखा और अर्ज़ के पांयचों का पायजामा पहनते हैं। फिलहाल फ़िरंगी महल के उलमा ने अब इस लिबास को छोड़कर हरमैन के उलमा और शाम तथा मिश्र के नेताओं की वेशभूषा अपनाना शुरू कर दी है जिसे आख़िर में मौलाना शिब्ली नोमानी ने भी क़ौमी और सरकारी दरबारों के लिए नियत किया था। इन बुज़ुर्गों का जूता भी उन दिनों गठीला था, मगर अब या तो ज़ेरपाइयां हैं और या लखनऊ या दिल्ली का चढ़ौवां जूता।

शीआ उलमा का लिबास इससे बिल्कुल भिन्न है। वे पहले तो सिर पर दुपलड़ी टोपी पहनते है, मगर आम लोगों के खिलाफ़ उसकी सीवन बजाये आगे से पीछे की तरफ रहने के आड़ी यानी एक कान से दूसरे कान तक रहती है। उस पर बुलंद ऊंचे कुब्बे का अमामा ईरानी अमामे की बंदिश से मिलता होता है। बदन में लंबा कुर्ता मगर उसके गरीबान का चाक बजाये इसके कि सीने के

---

[1] चादर या दुपट्टा जो व्याख्यानदाता व्याख्यान देते समय कंधे पर डाल लेते हैं।

बीच में हो, बायें कंधे के पास होता है। पुराने ज़माने में शीश्रों के उलमा के कुर्तों में गरीबान की जगह दोनों कंधों पर हुग्रा करती थी, मगर वह बनावट ग्रब छोड़ दी गयी है। जो उलमा ईरान ग्रौर कर्बला हो ग्राये हैं वे कुर्ते के ऊपर ग्रगली तैलिसान पहनते हैं जो यहां क़बा कहलाती है, पावों में चौड़े पांयचे का पायाजामा होता है ग्रौर ग्रामतौर पर जूतियां पहनते है जिनका ज़िक्र जूतों के बयान में ग्रायेगा।

[ 33 ]

सिर ग्रौर जिस्म के दरम्यानी हिस्से के लिबास का हाल हम पूरे विवरण के साथ बयान कर चुके, ग्रब जिस्म के निचले हिस्से की ग्रोर ग्राते हैं फिर उसके बाद ग्रन्य ग्रतिरिक्त वेश ग्रौर विभिन्न गिरोहों के खास-खास लिबासों का ग्रौर उसके बाद ग्रौरतों के लिबास का उल्लेख करेंगे।

जिस्म के नीचे के हिस्से के लिए ग्ररबों में सिवाय तहमत के कुछ न था। ग्ररबी तहमत ग्रौर हिंदुग्रों की धोती दोनों बिना सी हुई पतली चादरें होती हैं। फ़र्क़ यह है कि तहमत सिर्फ कमर में लपेटकर ग्रटका लिया जाता है। धोती हिंदुस्तान की विभिन्न जातियों में खास-खास तरीक़े से बांधी जाती है। इसका एक सिरा नीचे से फेर देकर पीठ के नीचे घुरस लिया जाता है ग्रौर दूसरे को बाज़ लोग कमर में लपेट लेते हैं। ग्ररबों के तहमत ने बाद के ज़माने में यह तरक़्क़ी की कि उसके दोनों सिरे सी कर एक घेरा बना लिया जाता है ग्रौर उसमें दोनों पांव डालकर ग्रौर कमर के पास उसे समेटकर बांध दिया जाता है।

इस्लाम के प्रादुर्भाव के समय ग्रौर उससे मुद्दतों पहले ग्ररबों का नीचे का क़ौमी लिबास यही था। ग्रमीर-ग़रीब, बादशाह-वज़ीर सब तहमत बांधते, फ़र्क़ सिर्फ इतना था कि ग्ररब के ग्रमीर ग्रौर बड़े-बड़े लोग ग्रपने गर्व ग्रौर दंभ को इस प्रकार प्रकट करते कि यह तहमत बहुत नीचा ग्रौर ज़मीन से मिला हुग्रा होता जिसमें सारे पांव छिप जाते ग्रौर उसके दोनों सिरे ज़मीन पर लोटते ग्रौर रगड़ते हुए चलते। चूंकि इस लिबास से दंभ की गंध ग्राती थी ग्रौर जो शख़्स एसा तहमत बांधकर निकलता दूसरों को ग्रपने सामने हेय ग्रौर घृणित

समझता इस वजह से इस्लाम ने इस लिबास को निषिद्ध कर दिया और हुक्म दे दिया कि इज़ार (तहमत) टखनों से नीची न रहे। उलमा ने इसी हुक्म के आधार पर फ़िलहाल यह फ़तवा दे रखा है कि पायजामा या टांगों का कोई लिबास टखनों से नीचा न हो, हालांकि पायजामा न उन दिनों था और न इस हुक्म में शामिल हो सकता है इसलिए कि नीची और ज़मीन पर लोटती हुई इज़ार बांधने से जिस घमंड का खयाल अरब के अमीरों में पैदा होता था हिंदुस्तान के नीचे पायजामे पहननेवालों में हरगिज नहीं होता।

हज़रत मुहम्मद साहब के ज़माने में ही पायजामा दूसरे मुल्कों से अरब में पहुंच गया था और बाद के ज़माने में बग़दाद के दरबार का, और उन अरबों का जो अरब से निकलकर दूसरे देशों में जा बसे थे, क़ौमी लिबास बन गया। हिंदुस्तान में मुसलमानों से पहले धोती के सिवा पायजामा न था। मुसलमान विजेता उसे अपने साथ हिंदुस्तान में लाये जिनमें मिले हुए चंद ऐसे संयमी, भक्त और धार्मिक नेता थे जो हज़रत मुहम्मद साहब के आदेश का पालन करते थे और तहमत बांधे हुए इस भूमि पर आ गये। तहमत चूंकि सुन्नत[1] थी इसलिए एक ख़ालिस मज़हबी लिबास था और यह निस्वार्थ और धर्मपरायण मुसलमानों या विद्यार्थियों के ही लिए नियत था। मगर पायजामा यहां की सोसाइटी में इतना आम हो गया कि मुसलमान तो दूर हिंदुओं और यहां की दूसरी जातिओं में भी इसका रिवाज हो गया।

लेकिन ग़ौर करने की यह बात है कि मुसलमानों का पहला और असली पायजामा किस काट-तराश का था। संभवत: वह तंग मोहरी का उटंगा पायजामा, जो शरई पायजामा कहलाता है और सुन्नियों में प्रचलित है, मुसलमानों का पहला पायजामा है। यही बग़दाद में प्रचलित था और इसी का रिवाज ईरान और तुर्किस्तान में हुआ और इसी को पहने हुए मुसलमान हिंदुस्तान आये।

हिंदुस्तान के अंतिम काल में इसकी बनावट में इतना परिवर्तन हुआ कि पांयचे या मोहरी पिंडली से लिपटी रहती। मगर ऊपर का घेर क़रीब-क़रीब उतना ही होता जितना कि पुराने शरई पायजामे का था। चंद रोज़ बाद मोहरी कुछ लंबी और नीची हो गयी मगर टखनों से आगे नहीं बढ़ी। दिल्ली

[1] वह तरीका जिस पर हज़रत मुहम्मद साहब और उनके साथियों ने अमल किया हो।

के आखिरी दौर तक वहां और सारे हिंदुस्तान में मुसलमानों का यही पायजामा था। अगर्चे निचले वर्ग के मुसलमान हिंदुओं के साथ मेलजोल के कारण धोतियां बांधते थे और प्रतिष्ठित वर्ग के हिंदू अपने घरों में चाहे धोतियां बांधे रहें मगर शिष्ट मंडली में आते तो पायजामा पहन कर आते।

उन्हीं दिनों काबुल और क़ंदहार में दो भिन्न प्रकार के पायजामे प्रचलित थे। काबुलवालों का पायजामा नीचे मोहरी के पास तंग और ऊपर घेर के पास इतना ढीला होता कि नीचे का जिस्म एक बहुत बड़े भूलदार गुब्बारे में ग़ायब हो जाता और एक-एक पायजामे में एक-एक और दो-दो थान खर्च हो जाते। यह आज भी अफ़ग़ानियों की टांगों में नजर आ सकता है। इसके विपरीत क़ंदहारवाले ऐसा पायजामा पहनते जिसके ऊपर का घेर तो ज़्यादा न होता मगर दोनों पांयचे कलियां जोड़-जोड़ कर इतने बड़े और इतने घेर के बना लिये जाते कि जब तक इंसान उनको घुरस न ले या हाथ से संभाले न रहे, चलना दुश्वार था।

दिल्ली दरबार में क़ंदहारी भारी संख्या में आ-आकर फ़ौज में नौकर हुए। वे लोग चूंकि बड़े बहादुर समझे जाते इसलिए यहां के आम फ़ौजियों में उनका रहन-सहन, लिबास और उनकी आदतें वग़ैरा रिवाज पाने लगे और यह उन्हीं की बरकत और उन्हीं की सोहबत का असर था कि दिल्ली में बांके बड़े-बड़े कलियांदार पांयचों के पायजामे पहनते, दिल्ली के आखिरी दौर में बांकों की वज़ादारी और बहादुरी इतनी पसंद की गयी कि सैकड़ों शरीफ़-ज़ादों ने बांकों में दाखिल होकर उनका फ़ैशन अपना लिया और शरीफ़ लोग जिनमें अधिकतर अपनी असली रीति पर चल रहे थे और बहुत से बांके बने हुए थे लखनऊ में आये।

लखनऊ में आकर यकायक एक ढीले अर्ज़ के पांयचों का पायजामा पैदा हो गया। शुजाउद्दौला, आसफउद्दौला और सआदत अली खां के ज़माने तक तो इसका पता नहीं चलता, मगर मालूम होता है ग़ाज़ीउद्दीन हैदर या उनके पुत्र नसीरउद्दीन हैदर के ज़मानों में जबकि यहां लिबास और आचार-व्यवहार में परिवर्तन हो रहा था बांकों के इसी कलियोंदार पायजामे से छोटा करके यह पायजामा बना लिया गया जो न इतना ढीला था कि एक-एक थान खर्च हो जाये और न तंग और न चुस्त मोहरी वाले पुराने पायजामे की तरह इतना तंग कि पांयचे ऊपर चढ़ाना नामुमकिन हो। यह नया पायजामा हल्का-फुलका और हिंदुस्तान की गर्मियों

में बहुत ही ग्रारामदेह था। चंद ही रोज में ग्रमीरों ग्रौर सभ्य लोगों में इतना लोकप्रिय हुग्रा कि सिवा उन लोगों के जो बांकपन का दावा रखते थे सभी विद्वान, संयमी ग्रौर सदाचारी तथा कुलीनों ग्रौर सामंतों के लिबास में यही पायजामा शामिल था।

ग्रब लखनऊ में सिर्फ दो पायजामे थे : एक तो वही बांकों का कलियोंदार पायजामा, दूसरा ग्रर्ज़ के पांयचों का पायजामा जो सारे शहर के शिष्टजनों की वेशभूषा बन गया था ग्रौर इस शान के साथ कि ग्रधिकतर सभ्य ग्रौर शिक्षित लोग भी गुलबदन ग्रौर मशरूग्र का सिलवाते ग्रौर उसके पांयचों में चौड़ी गोट लगायी जाती। बांकों वाले पहले पायजामे को खुद नसीरउद्दीन हैदर ने ग्रपनी वेशभूषा में शामिल कर लिया। उन्हें ग्रंग्रेज़ी लिबास का भी शौक़ था इसलिए या कोट-पतलून पहनते या कलियोंदार पायजामा जिसको फ़िलहाल पंजाबवाले ग़रारेदार पायजामा कहते हैं। नसीरउद्दीन हैदर को यह पायजामा इतना प्रिय था कि ग्रंग्रेज़ों के गाउन के समान देखकर उसे उन्होंने ग्रपने महल की बेगमों को पहनाना शुरू किया ग्रौर महल के लिबास में शामिल हो जाने का यह ग्रसर हुग्रा कि शहर की तमाम ग्रौरतें उसी को पहनने लगीं जिसका ज़िक्र ग्रौरतों के लिबास के संबंध में किया जायेगा।

शाही में ग्रवध की फ़ौज पंजाब-विजय के मौक़े पर ग्रंग्रेज़ों के साथ जाकर सिखों से लड़ी थी। सिख लोग एक नयी तरह का ग्रौरेबी तिरछी काट का तंग ग्रौर चुस्त पायजामा पहनते थे जो घुटन्ना कहलाता है। बहुतसे पंजाब जाने वालों ने इस काट को बहुत पसंद किया ग्रौर घरों में वापस ग्राये तो वही ग्राड़ी काट के घुटन्ने पहने थे। यहां के ग्रक्सर लोगों ने यह पायजामा बहुत पसंद किया ग्रौर यकायक ऐसा रिवाज हुग्रा कि लखनऊ के तमाम बांके-तिरछे शौक़ीन ग्रौर ग्रमीरज़ादे घुटन्ना पहनने लगे जो खूब चुस्त ग्रौर खूब खिचा होता ग्रौर गट्टे पर उसकी शिकनों की बहुत-सी चूड़ियां रखी जातीं।

लखनऊ में यही तीन पायजामे थे कि ग्रंग्रेज़ी हुकूमत हो गयी। बड़े पांयचों का कलियोंदार पायजामा तो बांकों ग्रौर हथियारों के साथ मर्दों में से फ़ना हो गया। नसीरउद्दीन हैदर की कृपा से सिर्फ ग्रौरतों में बाक़ी है। मर्दों में केवल दो पायजामे थे यानी ग्रर्ज़ का पायजामा ग्रौर घुटन्ना या सुन्नी धर्मपरायण लोगों में से बाज़ पुराना शरई पायजामा पहन लिया करते। ग्रंग्रेज़ी दौर ने पहला ग्रसर यह किया कि पायजामों की काट-तराश तो वही रही मगर ग्रतलस,

गुलबदन और मशरूअ के या रंगीन सूती पायजामे मर्दों से बिल्कुल छूट गये। चंद रोज़ बाद अलीगढ़ कालेज के सोशल स्कूल से अंग्रेज़ी पतलून की नक़ल के पायजामे ईजाद हुए जो न इतने तंग होते हैं कि पिंडली से लिपटे रहें और न इतने ढीले कि पांयचा ऊपर तक चढ़ा लिया जा सके। अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने वालों और सारे हिंदुस्तान के अक्सर शरीफ़ज़ादों में अब इसी पायजामे का रिवाज बढ़ता जाता है। हालांकि अधिकतर शिक्षित लोग जो आधुनिक सभ्यता की चरम सीमा तक पहुंच गये हैं, अपना सारा लिबास छोड़कर कोट-पतलून पहनने लगे हैं, लेकिन लखनऊ में आज भी बाज़ गिनती के ऐसे प्रतिष्ठित लोग नज़र आ सकते हैं जो पुरानी बनावट के अर्ज़ के पायजामे पहनते हैं और अपना चलन नहीं छोड़ते।

## [ 34 ]

अंगरखे या चपकन वग़ैरा के ऊपर पुराने ज़माने में दुशाले का रिवाज ज़्यादा नज़र आता है और यही शाही दरबारों से ख़िलअत के रूप में मिला करता था। उसके साथ शाही रूमाल ओढ़ने का भी एक मामूली हद तक रिवाज था। यही दोनों चीज़ें दिल्ली से लखनऊ आयीं, मगर लखनऊ में ज़्यादा रिवाज रूमाल ओढ़ने का था। जाड़ों में अक्सर शाली रूमाल और सर्दी के वक़्त दुशाला ओढ़ा जाता। लखनऊ में दरबार क़ायम होने के बाद जब गर्मियों के लिए लिबास में सफ़ाई, आरामदेही और हल्कापन पसंद किया जाने लगा तो बाबरलेट और लिंकन के रूमाल ईजाद हुए और तमाम सफेदपोश शरीफ़ों का यह लिबास हो गया कि सिर पर क़ालिब चढ़ी चिकन की चौगोशिया टोपी, बदन में अंगरखा, पांव में अर्ज़ के पांयचों का पायजामा और कंधे पर हल्का चिकन या जाली का रूमाल लखनऊ के शरीफ़ों की यह पहली सामान्य वेश-भूषा थी जिसे 'मीर' अनीस का खानदान इन्हीं तकल्लुफ़ों की वजह से आज तक निबाह रहा है।

लिबास में सबसे आखिरी और बड़ी महत्वपूर्ण चीज़ जूता है। मुसलमानों के आने से पहले हिंदुस्तान में जूते का बिल्कुल रिवाज न था इसलिए कि चमड़े के इस्तेमाल से हिंदू लोग धार्मिक दृष्टि से बचते थे, बल्कि जूते के बदले

यहां लकडी की खड़ावें पहनी जाती थीं जो आजकल के कुछ फ़कीरों और ऋषियों के अलावा प्राचीन राजाओं में भी प्रचलित थीं। मुसलमान अपने साथ यहां सिले हुए लिबास के साथ चमड़े के जूते भी लाये।

मुसलमानों का पहला जूता अरबों में सिर्फ एक चमड़े का तला था जो पट्टे या बंधनों के जरिये से पांव में अटका लिया जाता। ईरानियों और रोमियों का चमड़े का मौज़ा जूते से पहले अरब में पहुंच गया था। फिर अब अरबी दरबार शाम और इराक़ यानी रोम की छत्रछाया मे क़ायम हुए तो चमड़े के जूतों का रिवाज शुरू हुआ। मगर ये पहले जूते सीधी-सादी जूतियां मात्र थे। उन्हीं को पहने हुए मुसलमान हिंदुस्तान में आये।

दिल्ली के अमीर और बादशाह पुराने ज़माने में अपनी तसवीरों में ऊंची एड़ी की जूतियां पहने नज़र आते हैं। दिल्ली के अंतिम काल में चढ़ौवां जूता ईजाद हुआ जिसकी शुरू में बनावट यह थी कि आधा पंजा और गट्टे से नीचे तक पांव उसमें छिप जाता। उसके सिरे पर चौड़ी नोक पंजे पर झुकाकर बिठा दी जाती। यह पहला दिल्लीवाला जूता था जिसका पचास साल पहले ज़्यादा रिवाज था। उसके बाद सलीमशाही जूता निकला जो शायद जहांगीर के ज़माने में ईजाद हुआ। उसकी नोक आगे निकली और उठी हुई होती और नोक का थोड़ा-सा बारीक सिरा ऊपर मोड़ दिया जाता। ईजाद के बाद उस पर कलाबतूं का मज़बूत काम बनने लगा जो बिल्कुल सच्चा और क़ीमती होता। अगर्चे यह काम दिल्लीवाल और सलीमशाही दोनों क़िस्म के जूतों पर बनाया जाता, मगर सलीमशाही जूते का बहुत ज़्यादा रिवाज हुआ और उसने चंद रोज़ में पुराने दिल्लीवाल को मिटा दिया और उसकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि अब जबकि अंग्रेज़ी फ़ैशन ने हमारे सारे लिबास और हमारी तमाम चीज़ों को मिटा दिया वह आज तक बाक़ी और सबमें लोकप्रिय है और अधिकतर हिंदुस्तानी फ़ैशन पसंद करने वाले भारी से भारी लिबास पर उसी को पहनते हैं और फ़िलहाल लखनऊ में भी बहुत से लोग उसको पहनते हैं।

मगर लखनऊ में शाही दौर में एक नयी बनावट का छोटी नोक का जूता ईजाद हुआ जिसको यहां के फ़ैशनपसंदों ने शुरू में बहुत पसंद किया था। उसमें नोक दिल्लीवाल और सलीमशाही में ऊपर निकाली जाती, उसमें सीने के बाद उलटकर अंदर कर दी जाती। नोक के पास सिर्फ़ एक ज़रा-सा उभार रहता। ये जूते लाल नरी के बहुत ही हल्के और साफ बनाये जाते और पुरानी रुचि

ने इसे इतना हल्का बना दिया कि बाज़ मोचियों के हाथ का जोड़ा चार-पांच पैसों भर से ज़्यादा न होता। अगर्चे आम जनता और देहातियों के लिए इसी बनावट के चमरौधे जूते इतने भारी होते कि सेर-सेर, डेढ़-डेढ़ सेर से कम न होते और फिर कड़वा तेल पिला-पिलाकर और भारी कर लिये जाते।

थोड़े दिनों बाद लखनऊ में इस छोटी नोक के जूते की सजावट की तरफ ध्यान दिया गया। पहले जाड़े-गर्मियों के सूखे मौसम के लिए काशानी मखमल के और बरसात के लिए कीमुख़्त के बनना शुरू हुए और इसमें कोई शक नहीं कि बानात का जूता बहुत ही बढ़िया, सादा, हल्का और सुंदर होता। कीमुख़्त हरे रंग का होता जो घोड़े या गधे की खाल से बनता और उसमें कटहल के कांटों की तरह दाने उभारकर पैदा किये जाते और तारीफ़ यह थी कि बरसात में चाहे कितना ही भीगे उसके रंग-रूप में फर्क न आता। ख़ुद कीमुख़्त के बनाने का हुनर हालांकि बाहर से आया था मगर लखनऊ में इसके बहुत से कारखाने जारी हो गये और सब जगहों से अच्छा बनने लगा।

चंद दिन बाद जूतों की सजावट में और तरक्की हुई और मनमे-सितारे के कारचोबी काम के जूते बनने शुरू हुए। जिनमें मुक़ैश के [illegible] लगाकर अजब चमक-दमक और आब-ताब पैदा कर दी जाती। उसके बाद जब छोटा सलमा और कलाबत्तू आया तो झूठे काम के चढ़ौवे जूते बनने लगे जो बहुत सस्ते दामों में अजब बहार दिखा दिया करते थे।

लेकिन चढ़ौवें के साथ-ही-साथ यहां घीतला जूता प्रचलित था जो दरअसल पुराने जूतों से बनाया गया था और बड़े-बड़े अमीरों और ऊंचे वर्ग के शरीफ़ों में आमतौर पर पहना जाता था। दरअसल यही हिंदुस्तान का पुराना क़ौमी जूता था और इसी की यादगार हैदराबाद की चप्पल और दूसरे स्थानों के देसी जूते हैं और यही पुराने दरबारियों और दूसरे बुज़ुर्गों के पांव में नज़र आता है। घीतले में इतनी तरक़्क़ी हुई कि उसकी नोक बजाये छोटी-छोटी रहने के हाथी की सूंड की तरह बहुत बढ़ाकर और फैलाकर पंजे के ऊपर एक बड़े घेरे की सूरत में लपेट दी गयी। यह जूता अवध के पिछले बादशाहों और वज़ीरों तथा अमीरों सबके पांव की शोभा हुआ करता था। चढ़ौवें जूते ने ईजाद होने के बाद उसकी जगह लेना शुरू की। यहां तक कि गदर होते-होते घीतला सिर्फ औरतों के पांव में रह गया जिनके नाज़ुक पांव का वह आम लिबास था और मर्दों की पोशाक से वह बिल्कुल ख़ारिज

हो गया, लेकिन जूतियां अपनी असली सूरत पर आज तक बाक़ी हैं और शीआ धर्मगुरुओं तथा विद्वानों के लिए आज भी नियत हैं।

घीतले जूतों, जूतियों और उन पर जो कारचोबी का काम बनाया जाता है उसने लखनऊ के मुसलमानों में दो ख़ास पेशे पैदा कर लिये जिन पर बहुतसे लोगों की जीविका का दारोमदार हो गया। पहले तो मुसलमान मोची जिनकी यहां एक स्थायी जाति और बिरादरी है ये लोग सिवा घीतले जूते बनाने के और किसी प्रकार का जूता बनाना अपनी शराफ़त के खिलाफ़ जानते हैं। लखनऊ में उन लोगों के बहुतसे घर थे और सब सच्चे मुसल-मान, सफ़ेदपोश और दूसरे निचले वर्ग के लोगों की बनिस्बत ज़्यादा प्रतिष्ठित थे और उन दिनों बड़ी ख़ुशहाली के साथ ज़िंदगी बिताते थे। लेकिन अब पुरानी रीति और लिबास बदलने का नतीजा यह हुआ कि मर्दों के बाद औरतों ने भी घीतला जूता बिल्कुल छोड़ दिया और बाज़ार जो उम्दा क़िस्म के घीतले जूतों से भरा रहता था, उसमें अब अगर किसी दुकान पर उस क़िस्म का एकाध जोड़ा मिल भी जाता है तो बहुत ही घटिया और पुराना पड़ा हुआ और मैला-कुचैला होता है। नतीजा यह हुआ कि मुसल-मान मोचियों का गिरोह बिल्कुल तबाह हो गया, उनके बीसियों घर उजड़ गये और जो बाक़ी हैं विनाश के कगार पर खड़े हैं। लेकिन उन लोगों की दृढ़ता की प्रशंसा करनी चाहिए कि लुट गये और तबाह हो गये मगर यह बर्दाश्त न किया कि घीतले जूतों के बजाये स्लीपर या बूट बनायें और ज़माने की रफ़्तार का साथ देकर पहले से ज़्यादा तरक्की करें।

दूसरा गिरोह शिल्पकारों का जो उनकी जूतियों के सदक़े में पैदा हुआ, जूतों की झूठी औधियां बनाने वालों का है। औधी कारचोबी काम के उन विभिन्न प्रकार के टुकड़ों को कहते हैं जो ज़नाने या मर्दाने जूतों पर लगाये जाते हैं। औधियां यहां बहुत ही सुंदर और चमकीली और ऐसी ऊंचे दर्जे की नफ़ीस बनती थीं जैसी कहीं न बन सकती थीं और उनकी मांग ऐसी बढ़ी हुई थी कि आबादी का एक बड़ा हिस्सा उन्हीं की तैयारी पर ज़िंदगी बसर कर रहा था।

बहरहाल घीतले जूतों का रिवाज खत्म हो जाने से इन दोनों गिरोहों को नुक़सान पहुंचा। अब घीतले के बजाये औरतों में आमतौर पर स्लीपरों का और ख़ास घरानों या ख़ास मौक़ों के लिए तमाम शरीफ़ बीबियों में बढ़िया

क़िस्म के पंप शूज़ का रिवाज है। दौलतमंद घरानों में घीतला जूता छोड़कर टाट बाफ़ी (यानी कारचोबी काम के) बूट पहनना शुरू किये थे। उनके चंद ही रोज़ बाद चमड़े के बूट जो बिना खोले पांव से उतर सकें, पहने जाने लगे और अब तो आमतौर से पंप शूज़ और जिन लोगों ने पूरा अंग्रेज़ी चलन अपना लिया है उनकी बेगमें तो हर तरह के लैडीज़ शूज़ पहनने लगी हैं।

मुनासिब मालूम होता है कि इसी सिलसिले में औरतों के आम लिबास को भी बयान करके हम रहन-सहन और वेषभूषा की चर्चा समाप्त कर दें।

हिंदुस्तान में औरतों का पुराना लिबास सिर्फ एक बिना सी हुई लंबी चादर थी जो आधी कमर से लपेट कर बांध ली जाती और आधी कंधे या सिर पर डाल कर ओढ़ ली जाती। उसके साथ सीने का एक लिबास भी हिंदुओं में पुराने ज़माने से चला जाता है जो उत्तर भारत में अंगिया और दक्षिण भारत में चोली कहलाता है। यह लिबास श्रीकृष्णजी के ज़माने में भी मालूम होता है कि मौजूद था। आखिर ज़माने में चोली और अंगिया में फ़र्क़ इसलिए हुआ कि दक्खिन में एक झूलदार पट्टी से पीछे से आगे की तरफ ला कर दोनों छातियों के दरम्यान में गिरह देकर या बुताम लगाकर कस दी जाती है और दोनों छातियां इस झूल में कुछ उभार के साथ दबी और कसी रहती हैं, यही दक्खिन की चोली है। इसके बरख़िलाफ़ उत्तर भारत में अंगिया यों बनती है कि उरोजों के नाप के कपड़े की दो कटोरियां बनायी जाती हैं जो दो-तीन अंगुल तक सी कर एक-दूसरे से जोड़ दी जाती हैं और उनके ऊपरी कोनों पर जाली की दो छोटी-छोटी आस्तीनें लगा दी जाती हैं और इन आस्तीनों के नीचे दोनों पहलुओं पर दो-दो बंद लगा दिये जाते हैं। इस तरह तैयार करके और दोनों हाथों की आस्तीनों में डालकर यह अंगिया पहन ली जाती है। आस्तीनें बहुत ही छोटी, आधे बाजुओं से भी कम रहती हैं और छातियों की कटोरियों में डालकर पीठ पर बंद खींचकर नीचे-ऊपर दो गांठें लगा दी जाती हैं। चोली के विपरीत अंगिया छातियों को असल से ज़्यादा उभार कर स्पष्ट कर देती है।

बहरहाल यह पुराना हिंदू लिबास है और हम नहीं जानत कि गुज़रे हुए ज़माने से इसमें क्या सुधार या उन्नति हुई। वैसे देखने में अंगिया अधिक प्रगतिशील और बाद की मालूम होती है।

उसके बाद हिंदू ज़माने में औरतों का और कोई लिबास नहीं मालूम होता। सिये हुए कपड़े और कुर्ता-पायजामा मुसलमान अपने साथ लाये। मुसलमानों की औरतें ईरान से अर्ज़ के ढीले पांयचों के पायजामे पहने हुए यहां आयीं जो टखनों पर चुन्नट देकर बांध दिये जाते थे। चंद रोज़ बाद वे पायजामे तंग मोहरी के घुटन्ने हो गये जिनका घेर ऊपर से ढीला-ढाला होता। रफ़्ता-रफ़्ता उसमें खिंचाव का शौक़ बढ़ता गया यहां तक कि ऊपर का घेर भी कम हो गया और पांयचों की मोहरियां तो इतनी तंग हो गयीं कि पहनने के बाद कसकर सी ली जातीं और उतारते वक़्त मोहरी के टांके तोड़ने की ज़रूरत पेश आती जैसे पायजामे आज भी बहुत से शहरों में प्रचलित हैं।

लखनऊ में मुसलमान बेगमों का लिबास शुरू में तो यही तंग मोहरी का खिंचा हुआ पायजामा, सीने पर छोटी और तंग आस्तीनों की खिंची हुई अंगिया और पेट और पीठ छिपाने के लिए एक अजीब-सी कुर्ती जो आगे की तरफ इस हद तक काट दी जाती जहां तक जिस्म पर अंगिया रहती। इसमें न आस्तीनें होतीं और न सीने पर उसका कोई हिस्सा रहता। दो लंबे बंदों के ज़रिये से जो कंधों पर से होकर आते पेट और पीठ पर लटकी रहती। उसके ऊपर तीन गज़ का चुना हुआ बारीक दुपट्टा जो सिर से ओढ़ा जाता लेकिन आखिर में सिर्फ कंधों पर पड़ा रहने लगा।

हिंदुस्तान के मौसम और यहां के लोगों के स्वभाव की कोमलता ने अंगिया और दुपट्टे सबको रोज़-बरोज़ हल्का करना शुरू किया, यहां तक कि काही की अंगिया और क्रेब के दुपट्टे फ़ैशनेबुल अमीरज़ादों में दाख़िल हो गये। नसीरउद्दीन हैदर बादशाह के ज़माने से घुटन्ने रुख़सत हो गये और उनकी जगह बड़े-बड़े घेरदार पांयचों के कलियोंदार पायजामे, जो कमर के पास बहुत ही तंग होते और चोर कली यानी म्यानी खूब खिंची रहती, आमतौर से रिवाज पाकर औरतों का ख़ास लिबास क़रार पा गये। ये पांयचे आगे की तरफ बड़ी ख़ूबसूरती के साथ नाभि के नीचे घुरस लिये जाते ताकि चलने-फिरने में ज़मीन पर लोटकर ख़राब न हों। ग़दर के आसपास के ज़माने या शाही के अंतिम काल में बारीक कपड़ों और आधी आस्तीनों के तंग शलूकों का रिवाज हो गया जो कुर्ती के बजाये पहले तो अंगिया के ऊपर पहने जाने लगे और चंद रोज़ बाद उन्होंने अंगिया की ज़रूरत भी उड़ा दी। मगर अब

भी बहुत ही बारीक कपड़ों के इस्तेमाल किये जाने की वजह से यह लिबास नंगा मालूम होता, ख़ासतौर से इसलिए कि बाहें बिल्कुल नंगी रहतीं। नतीजा यह हुआ कि शलूकों की जगह कुछ-कुछ ढीले कुर्तों का रिवाज होने लगा। लेकिन अब यकायक कुर्तों की जगह अंग्रेज़ी जाकेट और बाडिस पहने जाने लगे।

अब हर सूबे और हर शहर की वेशभूषा की तुलना उसके साथ परस्पर मेलजोल से की जाती है। कुछ मुसलमानों या खुद महिलाओं को साड़ी ज़्यादा सुंदर दिखायी देने लगी जिसकी वजह से लखनऊ की औरतें आधे के क़रीब पुरानी वेशभूषा छोड़कर साड़ियां बांधने लगी हैं। और कहा जाता है कि इसमें ज़्यादा सादगी है। मैं हालांकि इसके खिलाफ़ नहीं हूं कि औरतें अपनी सुंदरता में नयापन और ताज़गी पैदा करने के लिए विभिन्न वस्त्र पहनें और नयी-नयी धजों से अपने पतियों को आकृष्ट करें, लेकिन मैं इसके सख़्त ख़िलाफ़ हूं कि अपना राष्ट्रीय रहन-सहन या वेशभूषा बिल्कुल छोड़ दी जाये और अपनी सांस्कृतिक विशेषताएं बिल्कुल नष्ट कर दी जायें। साड़ी एक बिना सिला कपड़ा और मानव-सभ्यता के प्रारंभिक काल की यादगार है। सादगी बेशक बड़ी दिलकश चीज़ है मगर बहुत-सी सीमाओं और विशेषताओं के साथ, वर्ना पूरी सादगी तो नग्नता में है। खुद लिबास इंसान के स्वभाव को अपनी रुचि का कपड़ा पहनाता है इसलिए मेरी समझ में नहीं आता कि साड़ी में क्या ख़ास ख़ूबसूरती है।

जिस तरह पुरुष के स्वभाव की यह विशेषता है कि अपनी सुंदरतम विवाहिता पत्नी से ऊबकर दूसरी जवान औरतों की तरफ प्रवृत्त होता है उसी तरह हमारे नौजवान अपनी बीबियों के लिबास से उक्ताकर दूसरी जातियों की स्त्रियों के लिबास पर मोहित हो जाते हैं। मगर ख़ूब याद रखिये कि जिस तरह आप उनके लिबास से आकृष्ट हुए हैं उसी तरह दूसरी जातियों के पुरुष आपकी स्त्रियों की प्रगतिशील वेशभूषा पर मोहित हो सकते हैं। यह कामवासना मात्र है जो फ़िलहाल आपकी दृष्टि में अपनी स्त्रियों की वेशभूषा को दोषपूर्ण साबित करके बार-बार देश में यह बहस पैदा कराती है कि हिंदुस्तानी मुसलमानों की स्त्रियों के लिए उचित क्या है।

हम इस मसले पर अच्छी तरह बहस करते अगर हमें विश्वास होता कि यह समस्या सिर्फ स्त्रियों के नैतिक और सामाजिक सुधार के उद्देश्य से पैदा

हुई है। दरअसल यह मसला उनके स्वभाव की अस्थिरता से पैदा हुआ है जिसने नवयुवकों को कोट-पतलून पहनाया, हैट से उनके सिरों की शोभा बढ़ाई और सिवा रंगत के उनमें कोई चीज़ अपनी नहीं बाकी रखी। लिहाज़ा हमको यक़ीन है कि यह मसला सिर्फ इस जोश में पैदा हुआ कि मर्दों की तरह औरतें भी अंग्रेज़ी वेशभूषा अपना लें। हम खूब जानते हैं कि इस बारे में लिखना-पढ़ना और कहना-सुनना सब बेकार है इसलिए कि जब तक अंग्रेज़ी साए और स्कर्ट और बानेट पहनने का फैसला न कर दिया जायेगा हमारे समाज सुधारकों और नक्काल फ़ेशननिर्माताओं को चैन न आयेगा। इसके सिवा चाहे और कैसा ही अच्छा सुधार किया जायेगा उनको संतोष न होगा।

ग़रज़ इस नतीजे को सोचकर इस बारे में अख़बारों और पत्रिकाओं के पन्ने काले करने का कोई फ़ायदा नहीं।

## [ 35 ]

लिबास के बारे में लखनऊ में काट-तराश और कपड़ों की बनावट में रोज़-बरोज़ तरक्की होती रही। गर्म देश होने की वजह से हिंदुस्तान के निचले वर्गवाले सिवा शरीर ढकने के अपना सारा पिंडा नंगा रखते हैं। ऐसा सिर्फ़ उनकी ग़रीबी या देशवासियों की निर्धनता के कारण नहीं बल्कि मौसम और आबो-हवा के कारण है। इसी का असर दिल्ली में भी यह था कि बजाये मोटे और भारी कपड़ों के हल्के और नाज़ुक कपड़े अपनाये गये। यहां इससे भी बढ़कर तरक़्क़ी हुई और चूंकि अब सिपहगरी और लड़ाई की बहुत ही कम ज़रूरत बाक़ी थी, ऐशपरस्ती और औरतों की संगत बहुत बढ़ती जाती थी, इसलिए कि मर्दों पर औरतों के लिबास क़ा असर पड़ने लगा जो हद से बढ़ गया और जिस तरह की बनावट और शृंगार स्त्रियों के लिए उचित है पुरुषों ने भी उसी का अनुकरण करना शुरू कर दिया।

खासतौर से उस जमाने से जबकि यहां के शासकों ने अपने नवाब का शब्द छोड़कर बादशाह की उपाधि ग्रहण की। नैशापुरी और सालारजंगी ख़ानदान के लोग जो उस समय वज़ीफ़े और पेंशनें पाते थे बिल्कुल मुअत्तल कर दिये गये तो उन्हें सिवा औरतों के किसी की सोहबत ही नसीब न होती

थी। इसका लाज़िमी नतीजा था कि उनके रहन-सहन और लिबास में ही ज़नानापन नहीं पैदा हुआ बल्कि उनकी ज़बान भी औरतों की-सी हो गयी और चूंकि वही शहर के रईस और प्रतिष्ठित लोग माने जाते थे लिहाज़ा अक्सर जनता ने भी उनका अनुकरण शुरू कर दिया और दूसरे स्थानों के रईसों के विपरीत यहां लखनऊ में यह आम चलन हो गया कि सिर पर मांग, उस पर भाले की कामदार टोपी, कानों तक बाल जिनकी कंघी करने में माथे पर दोनों ओर पट्टियां जमायी जातीं, मुंह में पान, होठों पर लाखा, पिंडे पर तीन-तीन कमरतोइयों का चुस्त अंगरखा, उसके नीचे गुलबदन का रेशमी खिचा हुआ घुटन्ना, हाथों में मेंहदी, पांव में टाटबाफ़ी या कामदार बूट, जाड़ों में अंगरखे की जगह नीले, पीले, या हरे और लाल अतलस या ग्रंट का रुईदार दगला।

जाड़ों में यहां के कुछ प्रतिष्ठित लोग आमतौर पर शाल की क़बाएं पहनते, मगर दुशाले और शाली रूमाल को सब पसंद करते। इसी का नतीजा था कि जैसा शाल लखनऊ वालों में अब भी कहीं-कहीं निकल आता है वैसा शाल हिंदुस्तान क्या मानी शायद ख़ुद कश्मीर में भी अब नसीब न हो सकेगा।

शाल का शौक़ यहां तक बढ़ा कि बहुत से शाल बुनने वाले और हज़ारों रफ़ूगर और शाल के धोनेवाले कश्मीरी अपना वतन छोड़-छोड़कर लखनऊ में आ बसे जिनका पिछले पचास साल में अब नामोनिशान भी बाक़ी न रहा। उनमें से कोई बचा भी तो उसने कोई और पेशा इख़्तियार कर लिया।

मुहर्रम चुंकि लखनऊ में एक बड़ी महत्वपूर्ण चीज़ और मातमदारी का ज़माना था इसलिए सौगवारी और नफ़ासत और नज़ाकत का लिहाज़ रखकर यहां मुहर्रम के लिए खास लिबास और ख़ास ज़ेवर ईजाद हो गये। सियाह और नीले रंग ग़म और सौगवारी के रंग समझे गये और हरा रंग इसलिए कि अब्बासियों के काल में उनके सियाह रंग के मुक़ाबिले में बनी फ़ातिमा का रंग हरा था। चुनांचे आज भी ईरान और हिंदुस्तान के बाज़ फ़ातिमी अपने हरे अमामों से सैयदों की इस पुरानी रीत का सबूत दे दिया करते हैं। बहरहाल मुहर्रम में लाल रंग निषिद्ध कर दिया गया। हरा, नीला और काला रंग और उनके साथ पीला रंग भी उस मौसम के लिए मुनासिब समझे गये। चुनांचे यहां मुहर्रम में तमाम औरतों का लिबास इन्हीं ऊपर लिखे रंगों से मिलाकर चुना जाता। सारा ज़ेवर बढ़ा दिया जाता, यहां तक कि चूड़ियां भी उतार दी

जातीं जिनके बदले कलाईयों के लिए रेशम की काली और हरी पहुंचियां और कानों के लिए काले और पीले रेशम के करनफूल ईजाद हुए जो सोने-चांदी के ज़ेवर से भी ज़्यादा नफ़ासत के साथ उनके शृंगार को बढ़ा दिया करते हैं।

मुहर्रम तो बहुत ही महत्वपूर्ण महीना था। यहां हर मौसम और हर ज़माने के अनुसार ऐसी-ऐसी ईजादें औरतों के लिवास में रोज़ होती रहती थीं जिनको सारा हिंदुस्तान ताज्जुब की निगाहों से देखता था। और सच यह है कि आज से पचास साल पहले लखनऊ में औरतों के लिबास की काट-तराश और रोज़-रोज़ की नवीनताओं को जो देखता वह फ्रांस और लंदन के फ़ैशन-परिवर्तन को भूल जाता और इसी कारण से अधिकतर ज़बानों पर जारी हो गया कि लखनऊ पूर्व का पेरिस है। आज बहुत से सादगीपसंद और प्रगतिशील समाज-व्यवस्था से वंचित लोग इन बातों पर एतराज़ करते है और यह नहीं देखते कि जिन दरबारों और शहरों में संस्कृति का विकास होता है वहां समाज के हर वर्ग में ऐसी ही बातें पैदा हो जाया करती हैं जो एक दार्शनिक की दृष्टि में चाहे व्यर्थ हों मगर प्रतिष्ठित लोगों की गोष्ठियों और सभ्य लोगों की महफ़िलें इन्हें बहुत ही ज़रूरी और महत्वपूर्ण समझती हैं।

मर्दों पर औरतों के लिबास के हावी आने का असर कपड़ों की नज़ाकत और तेज़ भड़कीले रंगों तक सीमित रहता तो बहुत ग़नीमत होता, यहां तो बहुतसे लोगों की यह हालत हो गयी कि मियां-बीबी के दगलों, दुपट्टों, दुलाइयों, रज़ाइयों और पायजामों में किसी क़िस्म का फ़र्क़ ही नहीं रहा सिवाय इसके कि गोटा-टप्पा और ज़ेवर औरतों के लिए नियत था। मर्द शोख़ रंगों के नाज़ुक रेशमी कपड़े बिना गोटे-ठप्पे के पहनते, मगर यह रुचि ग़दर के बाद अंग्रेज़ी असर के कारण घटने लगी और अब सिर्फ़ कुछ गिनती के लोगों के सिवा किसी में बाक़ी नहीं रही।

मर्द सेवकों और उनके विभिन्न वर्गों की तरह यहां औरतों के विभिन्न वर्गों की भी ख़ास-ख़ास वेशभूषा निश्चित हो गयी। अंग्रेज़ों के ख़ानसामां, कोचमैन और साईस विभिन्न प्रकार की वर्दियों में रहते हैं मगर वे वर्दियां उनका असली लिबास नहीं बन सकीं जिन्हें वे अपने घरों में भी पहन सकते। इसके विपरीत लखनऊ में ज़नाने और मर्दाने नौकरों और अंदर-बाहर के तमाम कर्मचारियों के लिए जो ख़ास-ख़ास लिबास मुक़र्रर हो गये थे वही उनके असली लिबास बन गये। मिसाल के तौर पर जैसे ड्योढ़ियों के पहले वाले

सिपाहियों और चोबदारों, हरकारों वग़ैरा के खास और अलग-अलग पहनावे थे, वैसे ही ज़नानी महल सराओं में महलदारों, मुग़लानियों[1] और कहारियों[2] के पहनावे इतने भिन्न थे कि दूर से देखते ही इंसान समझ जायेगा कि वह औसत महलदार है, यह खवास[3] है, यह मुग़लानी है और यह कहारी है और फिर लुत्फ़ यह है कि उनके लिबास में वर्दी की शान नहीं पैदा होने पायी।

ख़िदमतगारों और उन्हीं की तरह अर्दलियों का अलबत्ता वही लिबास था जो खुद मियां-बीबियों का लिबास था। इसकी वजह यह थी कि ये दोनों गिरोह अपने मालिक या मालिकिन का उतारन यानी उनके उतरे हुए कपड़े पहना करते हैं।

लिबास के बाद औरतों के लिए सबसे महत्व की चीज़ ज़ेवर है और औरतें अक्सर अपनी पूंजी और जायदाद अपने ज़ेवर को समझती हैं जिसका लाज़िमी नतीजा यह है कि भारत के अनेक प्रांतों में भारी और भद्दे ज़ेवर का ज़्यादा रिवाज है ताकि वे कीमत में ज़्यादा हों। ज़ेवर के भारी होने का शौक़ अवध के देहात में और आमतौर पर हिंदुस्तान के तमाम शहरों में रोज़-बरोज़ बढ़ता जाता है। मगर लखनऊ में दिल्ली के शरीफ़ खानदानों की महिलाएं आयीं तो शुरू में वही जेवर जिसका सारे हिंदुस्तान में और खुद दिल्ली में रिवाज था पहने हुए थीं। मगर यहां आने के चंद रोज़ बाद जब यहां की उन्नत समाज-व्यवस्था स्थापित हुई तो ज़ेवर सिर्फ़ श्रृंगार का साधन मात्र समझा जाने लगा और हर प्रकार का ज़ेवर रोज़-बरोज़ हल्का, नाज़ुक और ख़ूबसूरत होता गया, यहां तक कि अंतिम काल में अमीरों और धनिकों के घरानों की स्त्रियों का पहनावा यह हो गया कि सादे, बिना मसाले और गोटे-ठप्पे के कपड़े पहनतीं और ज़ेवर की किस्म की दो ही एक चीज़ों पर जो बहुत ही नाज़ुक, हल्की और क़ीमती होतीं संतोष करतीं। और अगर गले और नाक-कान में कई चीज़ें पहनतीं भी तो वे बहुत ही हल्की होतीं। इसका नतीजा यह हुआ कि जैसा हल्का जेवर लखनऊ में बनने लगा, कहीं न बन सकता था।

नाक में नथ हिंदुओं के काल से बहुत ही ज़रूरी ज़ेवर और सुहाग की निशानी समझी जाती थी और यही ख़याल आपसी मेलजोल के कारण

[1] सीने-पिरोनेवाली स्त्री।

[2] मेहरी, बर्तन मांजनेवाली।

[3] खास नौकर, मुसाहिब।

मुसलमानों में भी पैदा हो गया। चुनांचे देहातवाली आज भी इसके भारी करने में यहां तक ज़्यादती करती हैं कि चार-चार पांच-पांच तोले की नथें पहन लेती हैं जिनसे अक्सर नथने फट जाते हैं और दुबारा नाक छिदवायी जाती है ताकि नाक नथ से खाली न रहे। लखनऊ की स्त्रियों ने नथ को उड़ा ही दिया और उसकी जगह सोने की कील पहनने लगीं जो बहुत ही नफ़ीस और ख़ूबसूरत ज़ेवर साबित हुई और नज़ाकतपसंदी ने उन कीलों को भी इतना छोटा और हल्का कर दिया कि नाक की पतली कीलें लखनऊ के सुनारों और सादाकारों के सिवा और कहीं के कारीगर नहीं बना सकते।

अब इधर पच्चीस-तीस साल से बुलाक़ का रिवाज बहुत ज़्यादा बढ़ गया है अगर्चे यह कोई बहुत पसंदीदा चीज़ नहीं मगर ज़ेवर के थोड़े और आम लोगों को पसंद होने के कारण ही इसे इतनी तरक़्क़ी दी है कि अब बहुत कम औरतें हैं जो बुलाक़ न पहनती हों।

फ़िलहाल विभिन्न शहरों के आपसी मेलजोल से ज़ेवर बनाने के हुनर में हर तरह तरक़्क़ी हो रही है और ख़ास-ख़ास ज़ेवरों के लिए ख़ास-ख़ास शहर मशहूर हो गये है। मगर ग़दर से पहले जब रेलवे ने हिंदुस्तान के शहरों में यह परस्पर मैत्री और एकरूपता पैदा नहीं की थी, लखनऊ से अच्छे सुनार और कारीगर कहीं न मिल सकते थे। लेकिन अब बहुतसे शहर इस हुनर में लखनऊ से बढ़ते जाते है, खासतौर से दिल्ली शहर अशुद्ध चांदी के हल्के ज़ेवर बनाने मे हिंदुस्तान के तमाम शहरों से आगे बढ़ गया है। मगर फिर भी बहुत-सी ऐसी जगहें हैं जहां के नफ़ासतपसंद घराने लखनऊ ही के बने हुए ज़ेवर और यहां के चांदी के बर्तनों को ज्यादा पसंद करते हैं। यह बहस लखनऊ के उद्योगों में हमे बार-बार छेड़ना पड़ेगी इसलिए यहां इतने पर ही संतोष करते है।

[ 36 ]

खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की बहस ख़त्म करके अब हम उन चीज़ों की तरफ़ आते हैं जिनका सोसाइटी और मेलजोल से संबंध है और जिनमें उचित तथा अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तन करके लखनऊ ने उन्हें अपना लिया।

दुनिया के हर देश में मेलजोल और रहन-सहन का एक तरीक़ा क़ायम हो जाता है जिसमें रहन-सहन, पहनावा, आचार-व्यवहार, स्वभाव, शिष्टाचार, बोलचाल के ढंग, रुचि, मकान और फर्नीचर आदि का बड़ा महत्व होता है। इन बातों के बाद जिंदगी के इस जरूरी सामान को जिसकी इस सोसाइटी को ज़रूरत हो स्वाभाविक रूप से ये चीज़ें हर गिरोह, हर वर्ग और हर शहर तथा कस्बे में पैदा हो जाती हैं और आज भी दुनिया में घूमकर देखिये तो हर जगह समाज का एक ख़ास रूप और उसकी विशेषताएं नज़र आ जायेंगी। मगर जिन स्थानों में कोई सम्मानित दरबार क़ायम हो जाता है और शिक्षा की उन्नति होती है वहां का समाज देश के एक बड़े भाग को अपने वश में करके उसके हर शहर और गांव की संस्कृति और सभ्यता का केंद्र बन जाता है।

हिंदूस्तान में सभ्यता और संस्कृति तथा समाज के नियमों का मूल केंद्र निश्चित रूप से दिल्ली थी, इसलिए कि कई सदियों तक वह हिंदुस्तान का शासन-केंद्र और विधाओं का आसन रह चुकी है। सारा हिंदुस्तान उसके अधीन था और तमाम सूबों के हाकिम और अदब सिखाने वाले वहां के वातावरण में फले-बढ़े होते थे। उसके मुक़ाबिले में लखनऊ की न तो कोई विशेषता है और न ही उसे कोई प्रतिष्ठा मिल सकती है। मगर इस मौक़े पर लखनऊ के नाम लिये जाने की अगर कोई वजह हो सकती है तो यह है कि ज़माने के इत्तिफ़ाक से पिछली सदी में वही दिल्ली की संस्कृति पूरी-पूरी लखनऊ में आ गयी और वहीं के अमीर और शरीफ़, विद्वान लोग और कवि, धर्मपरायण लोग और सुधारक सब-के-सब लखनऊ चले आये। और जो भी दिल्ली दरबार में उजड़ता था लखनऊ में आकर जमा हो जाता था, इसलिए वहां के तमाम प्रतिष्ठित लोग एक-एक करके सब यहीं चले आये और यहां चूंकि उन्हें संतोष प्राप्त हुआ इसलिए उन्होंने अपनी उन्नत संस्कृति का और भी विकास करना शुरू कर दिया। इसमें मज़े की बात यह है कि दिल्ली वालों की जो संस्कृति अवध में आकर स्थापित हुई थी उसमें सिवा दिल्ली वालों के कोई और व्यक्ति न था। यहां तक कि लखनऊ के पुराने बाशिंदों को भी इसमें बिल्कुल जगह नहीं मिली।

लिहाज़ा लखनऊ की संस्कृति दरअसल दिल्ली की संस्कृति और वहीं के उन्नत समाज का अंतिम नमूना है। इस पिछली सदी में दिल्ली की प्राचीन

संस्कृति के दो स्कूल हो गये थे: एक वह जो खास दिल्ली में मौजूद था और दूसरा वह जो लखनऊ में आ गया था। लेकिन इसमें शक नहीं की पतन से पहले की आखिरी सदी में इस स्कूल के लिए, जो दिल्ली में था, मुग़ल दरबार के कमज़ोर पड़ जाने और धनिकता के मिट जाने के कारण प्रगति-पथ पर आगे बढ़ने का वैसा मौक़ा नहीं मिला जैसा कि लखनऊवाले दिल्ली स्कूल को हासिल था और यही वजह हुई कि उस ज़माने में लखनऊ की संस्कृति प्रगति कर रही थी और दिल्ली की प्राचीन संस्कृति की प्रगति रुक गयी थी। कहना चाहिए कि यही प्रगति लखनऊ के समाज की विशेषता है। गौर करने से यह नजर आता है कि दिल्ली की संस्कृति का जो विकास हुआ उसमें शाही दरबार का संरक्षण प्राप्त था लेकिन पिछले दौर में चूंकि जाहिल व्यापारी वर्ग का समाज में बाहुल्य हो गया था और पुराने ख़ानदानी शरीफ़ लोग दूसरे शहरों में जा बसे थे या घरों में बंद हो गये थे इसलिए वह संस्कृति भी नष्ट हो गयी और सच यह है कि अवध के शाही दरबार के टूट जाने के बाद से बाहर के लोगों में मेल-जोल और पुराने सभ्य परिवारों और उनके प्रभाव के मिट जाने से जो संस्कृति लखनऊ में पैदा हुई थी वह भी रोज़-बरोज़ ख़त्म होती जाती है।

मगर हमें उस बदनमीर्ज़ा की सोसाइटी और विद्रोहपूर्ण शिष्टाचार से बहस नहीं जो ग़दर के बाद से लखनऊ में पैदा होना शुरू हुआ और तरक्की करता जाता है। हमारा उद्देश्य सिर्फ उस संस्कृति के बारे में बताना है जो लखनऊ के शाही दरबार के संरक्षण में प्रगति करके यहां के समाज में फैल गयी थी।

यहां की संस्कृति के बारे में अपने इस लेख में हम नीचे लीखी बातें बयान करना चाहते हैं (1) मकान, (2) फर्नीचर, (3) वेशभूषा, (4) शिष्टाचार, (5) शालीनता, (6) अभिवादन, (7) संबोधन और कुशल-क्षेम पूछना, (8) हास्य का ढंग, (9) शादी-ग़मी की महफ़िलें, (10) मजलिसें (11) मौलूद शरीफ[1] की महफीलें। फिर इनके बाद हम उन चीज़ों का बयान करेंगे जो समाज के लिए अनिवार्य हैं।

**1—मकान**

दिल्ली और लखनऊ में मकानों के बारे में पुरानी रुचि यह थी कि बाह्य प्रदर्शन और शानदारी सिर्फ शाही महलों और प्रासादों तक

---

[1] वह समा जिसमें हज़रत मुहम्मद साहब के जीवन और उनके कार्यों का वर्णन किया जाता है।

ही सीमित थी। अमीर और व्यापारी अपने रहने के लिए जो मकान बनवाते वे अंदर-अंदर से चाहे कैसे ही विशाल और बढ़िया हों मगर उनकी ज़ाहिरी हालत बिल्कुल मामूली मकान की-सी होती और उसमें रहस्य यह था कि जो मकान ज़ाहिर में शानदार होते अक्सर बादशाहों को पसंद आ जाते और बनवानेवालों को उनमें रहना बहुत कम नसीब होता। साथ ही यह भी था कि रिआया में से किसी का मकान बनवाने में शाही ठाट-बाट दिखाना विद्रोह समझा जाता और उसे अमन चैन से ज़िंदगी बिताना मुश्किल हो जाता।

इसी वजह से आपको दिल्ली में मक़बिरों के अलावा पुराने ज़माने की एक भी ऐसी इमारत नज़र न आयेगी जो अलीशान हो और रिआया में से उच्च-कोटि के सामंत या धनी व्यापारी की बनवाई हुई हो। लखनऊ में भी शुरू-शुरू में यही हाल था। नवाब आसफ़ उद्दौला और नवाब सआदत अली ख़ां के ज़मानों में धनिक फ्रांसीसी व्यापारी मोसियो मार्टिन ने दो-एक आलीशान इमारतें बनवायीं मगर उनके बनवाने में असली मक़्सद यह था कि शासक को वे पसंद आ जायें और उसके हाथ बेच डाली जायें। इन्हीं इमारतों में ला मार्टिन कालेज है जिस पर नवाब सआदत अली ख़ां की कंजूसी की वजह से स्टेट का क़ब्ज़ा न हो सका। यह वही कोठी है जो फ़िलहाल जनता में 'मारकीन साहब की कोठी' के नाम से मशहूर है।

उसके बाद यहां के एक वज़ीर रौशनउद्दौला ने अपने रहने के लिए एक बढ़िया इमारत बनवायी थी जिसका अंजाम यह हुआ कि सल्तनक के हुक्म से ज़ब्त कर ली गयी और सल्तनत के समाप्त होने के समय उसकी गिनती शाही इमारतों में होती थी। चुनांचे अंग्रेज़ी दौर में वह सरकारी जायदाद होने के कारण गवर्नमेंट के क़ब्जे में आ गयी और रौशनउद्दौला के वारिसों को नहीं दी गयी, मगर वह आज तक रौशनउद्दौला ही की कोठी कहलाती है गो कि उसमें साहब डिप्टी कमिश्नर बहादुर और उनके असिस्टैंट इजलास करते हैं।

रिआया के आम मकानों की बनावट यहां योरुप के कोठीनुमा मकानों से बिल्कुल अलग होती है। योरुप में मकान के अंदर सहन की ज़रूरत नहीं है इसलिए कि मर्दों की तरह औरतें भी पर्दा न करने की वजह से बाहर जाकर खुले वातावरण में हवा खा लेती हैं। लिहाज़ा वहां के ख़िलाफ़ यहां ज़रूरत है कि मकान के अंदर सहन हुआ करे ताकि औरतें घर के अंदर ही खुली हवा का लुत्फ़ उठा सकें।

इस ज़रूरत और यहां के रहन-सहन की दूसरी आवश्यकताओं ने यहां के मकानों की आम बनावट यह कर दी है कि बीच में आंगन, उसके गिर्द इमारत, उस इमारत में एक रुख सदर क़रार दे दिया जाता है और उधर ईंट-चूने के खंभों पर कम से कम तीन और कभी इससे ज़्यादा मेहराबदार दर बनाये जाते हैं। मेहराबें आमतौर पर शाहजहानी मेहराबों के नमूने की होती हैं, यानी उनमें धनुषाकार मेहराबों को जोड़कर बड़ी मेहराब बनायी जाती है। सदर में अक्सर ऐसी मेहराबों के दोहरे-तिहरे हाल हुआ करते है। पिछला हाल कभी दरवाज़े लगा कर एक बड़ा कमरा बना दिया जाता है और अक्सर यह भी होता है कि लगभग कमर-कमर तक उसकी कुर्सी ऊंची करके वह चबूतरा बना दिया जाता है।

इन बड़े हालों के दोनों पहलुओं पर कमरे होते हैं और हाल की छत इतनी ऊंची होती है कि पहलू में तले-ऊपर दो कमरे हाल की छत के अंदर आ जाते हैं।

अब सहन के दोनों पहलुओं पर उसकी लंबाई के अनुसार दालान, कमरे और कोठरियां बना दी जाती हैं जिनमें बावरचीख़ाना, पाख़ाना, मोदीखाना, ज़ीना, कुआं और नौकरानियों के रहने के स्थान होते है। सदर दालान के सामने की ओर भी अगर ज़रूरत मालूम हुई या गुंजाइस हुई तो वैसे ही अलीशान दालान उधर भी बना दिये जाते हैं जैसे की सदर की तरफ होते हैं। दरवाज़ा अक्सर पहलू में यानी उन दिशाओं में होता है जिधर बावरचीख़ाना और नौकरों के रहने के कमरे होते हैं। जिसके सामने अंदर के रुख पर सामने और एक पहलू में आदमक़द से ज़रा ऊंची एक दीवार बना दी जाती है ताकि दरवाज़े से अंदर का सामना न रहे।

ग़रीबों और औसत दर्जे वालों के मकानों में अक्सर पक्की मेहराबों की बजाये इसी तरह के लकड़ी के तीन दरे क़ायम करके दालान बना दिये जाते हैं जिनमें सदर में और कभी उसके सामने की तरफ दालान-दर-दालान होते हैं। इस क़िस्म के जो मकान ज़्यादा मुकम्मल होते हे उनमें चारों तरफ तीन दरे और दालान होते हैं और उनके पहलुओं में एक-एक दरवाज़े की कोठरियां निकलती हैं जो विभिन्न ज़रूरतें पूरी करती हैं और उन्हीं में से किसी में बाहर का दरवाज़ा होता है।

यह यहां के मकानों का एक आम ख़ाका था मगर इसी रचना को बाक़ी

रखकर अक्सर मकानों में नीचे और हर जगह ऐसी तरकीब और ख़ूबसूरती से एक दर वाले कमरे और कोठरियां निकाली जाती हैं कि ताज्जुब होता है कि इतनी थोड़ी-सी जगह में इतनी ज़्यादा इमारत कैसे बन गयी।

भवन-निर्माण कला के इतिहास पर दृष्टि डालिये तो मालूम होगा कि शुरू-शुरू में नीची इमारतें बनती थीं। फिर ऊंची और मज़बूत मगर सादी इमारतें बनने लगीं। उसके बाद सजावट के लिए बेल-बूटे बनने लगे, पच्चीकारी की ईजाद हुई और अजीब-ग़रीब तरीक़े से रंग भरे जाने लगे। लेकिन इन सब कमालों के बावजूद अब तक बड़े-बड़े चौड़े आसारों की दीवारें होतीं और उनमें बड़े-बड़े हाल और दीवानख़ाने बना दिये जाते।

सबसे बाद का कमाल हिंदुस्तानी इमारत में यह था कि दर्ज़ी की सी कतर-ब्योंत करके थोड़ी-सी ज़मीन में बहुत ज़्यादा इमारत बना ली जाती। इमारत का यह कमाल ख़ास दिल्ली में शुरू हुआ, वहीं उसने बड़ी तरक़्क़ी की, वहीं से सब जगह फैला और लखनऊ में उसने दूसरी जगहों से बढ़कर तरक़्क़ी की।

आजकल बड़े-बड़े उस्ताद इंजीनियर मौजूद हैं जिन्होंने बड़ी-बड़ी अलीशान इमारतें बनवायी हैं। वे नुमाइशी तौर पर इमारत की एक बहुत ही ख़ूबसूरत और शानदार शक्ल बना देंगे। लेकिन यह काम सिर्फ़ पुराने कारीगरों से ही मुमकिन है कि ज़मीन के एक छोटे टुकड़े पर आलीशान इमारत बनाकर खड़ी कर दें। और उसमें वास्तु कला के चमत्कार से इतने दालान, कमरे, कोठरियां और सहनचियां निकाल दें कि देखनेवाले की अक़्ल चक्कर में आ जाये। अंदरूनी पर्दे की दीवारें इतनी पतली, नाज़ुक और उनके साथ मज़बूत हों कि मालूम हो ईंट-चूने की दीवारें नहीं लकड़ी की स्क्रीनें हैं।

इमारत में यह कमाल अब मिटता जाता है कि क्योंकि इसकी क़द्र नहीं रही। पुराने कारीगर फ़ना हो गये और जो दो-एक बाक़ी हैं उनकी क़द्र नहीं।

मगर पुराने ही जमाने से हिंदू-मुसलमानों के मकानों में एक साफ फ़र्क़ चला आता है जो आज तक मौजूद है। हिंदू अपने मकानों में सहन बहुत छोटा और तंग रखते हैं और इस बात का ख़याल किये बिना कि हवा और रौशनी का गुज़र होगा या नहीं इमारत बढ़ाते चले जाते हैं। इसके बरख़िलाफ़ मुसलमान खुले हवादार मकान चाहते हैं और उसकी इमारत इतनी बढ़ाते हैं जहां तक की हवादारी और रौशनी रहने में फर्क न आये। लेकिन मुसलमानों की

इस रुचि के बावजूद पुराने कारीगरों ने उनके हवादार मकानों में भी इतनी इमारत बना ली है कि देखनेवाले हैरान रह जाते हैं।

इसके अलावा उस ज़माने के बाकमाल इमारत बनवानेवाले दरवाज़ों और कमरों की मेहराबों और दालानों और कमरों की दीवारों पर विभिन्न रंगों से ऐसे सुंदर बेल-बूटे बनाते थे जैसे अब मुश्किल से बन सकते हैं और आजकल चित्रकला बहुत प्रगति कर चुकी है लेकिन राज जैसी नक़्क़ाशी दर और दीवार पर किया करते थे वह मिट गयी और आधुनिक युग की सादगी पसंदी की वजह से रोज़-बरोज़ मिटती जाती है। फिर भी यहां इस काम के बाज़ उस्ताद राज ऐसे पड़े हैं कि उनकी-सी नक़्क़ाशी शायद किसी शहर के राज न कर सकेंगे। बेल-बूटे ही नहीं वे छतों और दीवारों पर उच्च कोटि के चित्र भी बना सकते हैं।

सिर्फ़ राजों पर ही निर्भर नहीं, उस समय के बढ़इयों को भी यही कमाल हासिल था। वे चाहे ऊंची क़िस्म की मेज़ें, कुर्सियां और आल्मारियां या रेलवे ट्रेन की गाड़ियां न बना सकें मगर खंभों, मेहराबों और दरवाज़ों के चौखट बाज़ुओं पर ऐसे सुंदर बेल-बूटे खोदकर बना दिया करते थे जैसे आज मुश्किल से बन सकेंगे।

## [ 37 ]

### 2–फर्नीचर

संस्कृति में दूसरी चीज़ मकानों का फर्नीचर यानी वह सामान है जिससे मकान सजाये जाते हैं। उन दिनों आजकल की-सी मेज़-कुर्सियां न थीं बल्कि खास हिंदुस्तानी और इस्लामी रुचि का सामान था। मकानों में तख़्तों के चौके होते, पलंग होते या तख़्तों के ऊपर बिछाने के लिए नाज़ुक और खुश-नुमा पलंगड़ियां होतीं। गरीब और मध्यम वर्ग के लोगों के यहां बानों के पलंग होते और अमीरों के घरों में आमतौर पर निवाड़ के पलंग हुआ करते।

सफ़ाईपसंद लोगों के घरों की यह शान होती कि झाड़ू दी हुई है, दीवारों पर सफ़ेदी फिरी है, छत पर उजली सफ़ेद छतगीरी खिंची हुई है जिसके चारों तरफ चुन्नट दी हुई झालर लटक रही है। दालान, कमरे या सहन में तख़्तों

का चौका है उस पर दरी है और दरी पर बिल्कुल सफेद चांदनी जो इस सफाई से खींचकर बिछाई गयी है कि सिलवट का कहीं नाम नहीं। चारों कोनों पर संगमरमर के गुंबदनुमा मीरफर्श (भारी पत्थर) फर्श के कोनों को दबाये हुए हैं ताकि हवा में चांदनी उड़ने न पाये या उसमें सिलवटें न पड़ें।

ऊपर उजला फ़र्शी पंखा है, उसका भी बाद के ज़माने में रिवाज हुआ वर्ना दरअसल उन मकानों की शोभा हाथ के पंखों से होती जो अपनी-अपनी हैसियत और दर्जे के अनुसार बड़े तकल्लुफ़ और अच्छे ढंग से बनाये जाते और उनका हाल हम आइंदा किसी मौक़े पर बयान करेंगे। उस चौके और फ़र्श पर चाहे वह कमरे के अंदर हो या बाहर एक तरफ जो सदर मुक़ाम बना दिया जाता वहां निवाड़ का साफ़-सुथरा और खूबसूरत पलंग बिछा होता। पलंग के ऊपर गर्मियों में दरी और जाड़ों में तोशक होती और उसके ऊपर एक उजली चादर बिछी रहती। पलंग की चादर में शाही महलों या उन्हीं के स्तर की महलसराओं में एक नीची ज़मीन के क़रीब तक की चुन्नटदार झालर चारों तरफ टंकी होती जो पलंग में एक खास शान पैदा कर देती। चारों पायों पर बिछौने के चारों कोने रेशम की रंगीन डोरियों से बांध दिये जाते ताकि लेटने और करवटें बदलने में बिछौना खिचने और अपनी जगह से सरकने और हटने न पाये।

सरहाने पलंग की चौड़ाई के बराबर चौकोर पतले-पतले चार नर्म तकिये होते। ये तकिये अक्सर टूल के होते और उन पर तंजेब या पतील नैनसुख के सफ़ेद ग़िलाफ़ चढ़े होते जिनमें टूल की सुर्खी अपनी झलक दिखाती और वे परांठों की परतों की तरह तले-ऊपर रखे जाते। फिर उनके ऊपर इधर-उधर उसी कपड़े के दो नन्हें-नन्हें गलतकिये होते ताकि करवट से लेटने में गालों के नीचे दबे रहें। ये गलतकिये हाथ की हथेली से ज़्यादा बड़े न होते। उसके बाद बिछौने पर दोनों तरफ पट्टियों की ओर दो गोल तकीनियां रहतीं जिनको करवट लेते वक़्त रानों के नीचे दबा लेने में आराम मिलता। पायंती दुलाई, रज़ाई या लिहाफ़ मौसम के अनुसार लगा दिये जाते और दिन को जब कोई लेटनेवाला न होता, सारे पलंग पर एक पलंगपोश पड़ा रहता।

चौके पर पलंग के आगे बीच में बैठने के लिए फ़र्श के ऊपर एक कालीन मसनद के आकार का बिछा दिया जाता और क़ालीन पर पलंग से मिला हुआ गाव होता जिस पर रोज़ के इस्तेमाल के लिए तो सफेद गिलाफ़ रहता मगर

बड़े समारोहों के अवसर पर बहुत ही क़ीमती रेशमी और अक्सर कारचोबी काम के ग़िलाफ़ चढ़ा दिये जाते ।

और अगर चौके पर पलंग न होता तो उसके किसी एक रुख पर जो मुनासिब मालूम हो मसनद-तकिया होता और उस पर गद्दी होती ।

दीवारों पर अगर्चे कभी-कभी तसवीरें होतीं मगर तसवीरों का जितना रिवाज अब है उन दिनों न था । बल्कि तसवीरों के बजाये बढ़िया क़ित्ए (पद), जिन पर बड़ी सफ़ाई से बेल-बूटे बनाये जाते फ्रेम में जड़कर दीवारों पर लगा दिये जाते । उन क़ित्अों का उस समय रईसों को ऐसा शौक था कि उन्हीं के लिखने और तैयार करने पर खुशनवीसों की ज़िदगी बसर होती और सच यह है कि इसी शौक़ ने उस ज़माने में ऐसे नामी और बाकमाल खुशनवीस पैदा कर दिये जो सिवा क़ित्ए लिखने के किताबत को अपने लिए अपमानजनक और मामूली शागिर्दों का काम समझते ।

तख़्तों के अलावा सहन ड्योढ़ी और दरवाज़े के बाहर की बैठक के लिए मूढे होते जो अगर्चे अब भी कहीं-कहीं नज़र आ जाते हैं मगर उन दिनों शरीफ़ों का कोई घर उनसे खाली न था । ये सेंटों और बानों से बनाये जाते और जिन घरों में इनका ज़्यादा ख़याल रखा जाता उनमें इन मूढों पर बकरी की सूखी खाल जिसमें बाल मौजूद होते चढ़ा दी जाती या मज़बूती के लिए वही बाल-दार चमड़ा सिर्फ उनके किनारों पर चढ़ा होता । ये मूढ़े उन दिनों बड़े कारामद चीज़ थे ।

अमीरों के अलावा जो ज़नाने और मर्दाने मकान रखते थे, आम जनता और अधिकतर मध्यम वर्ग के लोग सिर्फ एक ही मकान पर ज़िंदगी बसर करते । अब आमतौर पर कोशिश की जाती है कि हर मकान में दरवाज़े के पास कोई बाहरी कमरा ज़रूर मौजूद हो । उन दिनों इसका कोई ख़याल न था, बल्कि ड्योढ़ी में और उसमें गुंजाइश न होती तो दरवाज़े के बाहर यही मूढे डालकर लोग दोस्तों से मिलते और उसमें कोई बुराई न समझी जाती ।

कमरों और दालानों के अंदर अधिकतर ताक़ों पर ख़ूबसूरती और सजावट के लिए काग़ज़ के गुलदस्ते रख दिये जाते ।

दालानों की मेहराबों के लिए आमतौर से पर्दे ज़रूरी समझे जाते । मगर आजकल सेंटों, सिरकियों या टाट के पर्दों का रिवाज है, उन दिनों न था बल्कि इस क़िस्म के पर्दे बुरे समझे जाते थे और उनकी जगह तूल या जाजम के

रूईदार पर्दे तैयार कराये जाते जो अक्सर बंधे रहते, सिर्फ ज़रूरत के वक़्त में खोल कर लटका दिये जाते। ज़नानी महलसराओं के बाहरी दरवाज़ों पर भी इसी तरह के पर्दे होते जिसके पास कोई नौकरानी या कहारी अक्सर खड़ी नज़र आती।

## 3—वेषभूषा

इसका ज़िक्र लिबास के सिलसिले में आ चुका है। मगर इस मौक़े पर हमें यह बताना है कि उन दिनों शरीफ लोगों में अपने घर पर या बाहर पूरे कपड़े पहनने की ज़रूरत नहीं समझी जाती थी। बल्कि सिर से पांव तक नंगा रहना और सिर्फ एक तूल की ग़र्की यानी एक छोटी-सी लुंगी बांधे रहना बुरा न था। यह गर्की इस ढंग की होती कि जांघिए की तरह सिवाय अंग-विशेष को ढंकने के टांगें भी नंगी रहतीं। फ़िलहाल हमारे यहां के शरीफ़ लोग अपने घर पर भी अंदर या बाहर बनियाइन, कुर्ता और पायजामा पहने रहना लाज़िमी समझते हैं। मगर जिस युग का हम ज़िक्र कर रहे हैं उन दिनों बज़ाहिर हर घर में इतने कपड़े पहने रहना उस समय के चलन के ख़िलाफ़ था। उस समय बहुत से ऐसे लोग थे जो सिर्फ घर से निकलते वक़्त अंगरखा और पायजामा पहन लेते और इस तरीक़े से एक जोड़े को महीनों तक निबाह ले जाते और कपड़ों की यह हालत होती कि मालूम होता कि आज ही धोकर आये हैं। आमतौर से यह होता कि धोबी के वहां से आया हुआ अंगरखा पहना तो उसकी दामन, गोट और आस्तीनें चुनी जातीं, उस चुनावट के निशान महीनों उसी तरह बरकरार रहते।

हां, औरतों के लिबास में अलबत्ता कोई फर्क न आता, वे अपने घरों में उतने ही कपड़े पहने रहतीं जितने कहीं मेहमान जाने में पहनतीं। यह और बात है कि आने-जाने का जोड़ा भारी और क़ीमती होता और घर में पहनने का मामूली। किसी के यहां मेहमान जाने की सूरत में मर्द और औरत दोनों उम्दा, साफ-सुथरी और भारी पोशाकें पहनकर जाते और कपड़ों के बढ़िया होने की वजह से मर्दानी और ज़नानी महफ़िलें बहुत साफ़-सुथरी और बारौनक़ रहतीं।

मर्दों की पोशाक पुराने ज़माने से यह चली आती थी कि सिर पर बाल, कतरी हुई मूछें और दाढ़ी गोल और लंबी। मज़हबी लोग, विद्वान, संयमी आदि दाढ़ी को हज़रत मुहम्मद साहब के आदेशानुसार बिल्कुल छोड़ दिया करते थे और मूछों के काटने में कभी इतनी अत्युक्ति करते कि मुंडा डालते। लेकिन अमीरों और शरीफों का यह चलन था कि दाढ़ी के लिए नीचे गले के पास और ऊपर गालों पर हदें क़ायम की जातीं और जो बाल ज़्यादा बढ़ जाते उनको काटकर दाढ़ी में गोलाई पैदा करके उसकी लंबाई की एक हद मुक़र्रर कर दी जाती। सबसे पहले शहंशाह अकबर ने दाढ़ी मुंडवाई और उसके बाद जहांगीर के मुंह पर भी दाढ़ी न थी। अकबर और जहांगीर के दरबारियों पर इसका चाहे किसी हद तक असर पड़ गया हो मगर मुसलमान अमीरों का आम चलन वही रहा जो पहले से चला आता था।

लखनऊ में दरबार क़ायम होने के बाद दाढ़ी में कमी शुरू हुई और होते-होते अक्सर लोगों के मुहों पर से दाढ़ियां ग़ायब हो गयीं। शायद इसका कारण यह हो कि एक ही मज़हब के होने से यहां के दरबारों पर ईरानियों का असर पड़ रहा था और वहां सफ़विया वंश के बादशाहों के काल से बादशाहों और अमीरों में दाढ़ी का वह महत्व नहीं रहा था जो इस्लाम के प्रादुर्भाव के समय से चली जाती थी। या तो मुसलमानों में किसी की दाढ़ी मूंड देना सज़ा देने या उसका अपमान करने के लिए था, या ईरान में दाढ़ी न रखना अमीरों की शान में दाखिल हो गया। लखनऊ के नैशापुरी ख़ानदान के पहले संस्थापक नवाब बुरहान-उल-मुल्क के मुंह पर लंबी दाढ़ी थी, शुजाउद्दौला ने दाढ़ी मुंडवायी और उसके बाद से यहां के तमाम अमीर और बादशाह दाढ़ियां मुंडाते रहे। इसका लाज़िमी नतीजा यह था कि आम शीओं से दाढ़ी का रिवाज उठ गया, फिर बाद के ज़माने में बहुत से सुन्नियों ने भी दाढ़ियां कतरवाईं या मुंडवा डालीं। दाढ़ी मुंडाने का शौक़ पैदा होने के बाद तरह-तरह के फ़ैशन निकलने लगे। किसी ने कानों के नीचे छोटी-छोटी क़लमें निकालीं, किसी ने ठेके रखवाये, किसी ने बड़े-बड़े गलमुच्छे रखे, लखनऊ के आसपास के क़स्बों के रहनेवालों और बाज़ शहर के सुन्नियों ने भी यह फ़ैशन

अपनाया कि दाढ़ी रखते मगर राजपूतों और हिंदी पठानों की रुचि के अनुसार दाढ़ी के बीच में ठुड्डी के पास मांग निकाल कर दोनों तरफ के बालों को कानों की तरफ चढ़ाते और दाढ़ी को इसी फ़ैशन में बनाये रखने के लिए घंटों ढांटा बांधे रहते, फिर उस चढ़ी हुई दाढ़ी के साथ मूंछें भी कंघी करके और बांध-बांध कर ऊपर के रुख पर चढ़ायी जातीं। चुनांचे यही फ़ैशन यहां और सारे हिंदुस्तान में सिपहगरी और बहादुरी का प्रतीक समझा जाता था।

सिर के बारे में हज़रत मुहम्मद साहब के काल में आम दस्तूर था कि सिर पर बड़े-बड़े बाल होते जो हज के ज़माने में मुंडवाये या कटवा दिये जाते।

मगर अरब ही में इस्लाम के आगमन के कुछ रोज़ बाद सिर मुंडाने का आम रिवाज हो गया और यही रिवाज ईरान में मालूम होता है। और मुसलमान शुरू में जब हिंदुस्तान में आये हैं उस वक़्त उनका आम चलन यही था कि मुंडे हुए सिर और उन पर अमामे। हिंदुओं में मुसलमानों के आने के वक़्त सिर पर बाल रखने का रिवाज था। यही चलन यहां के मुसलमानों को पसंद आया, चुनांचे उस युग के अंत में विद्वान, धर्मपरायण शेखों और सूफियों के अलावा दिल्ली के शरीफ़ों और अमीरों का आम चलन यह था कि सिर पर बाल होते जो कानों तक रहा करते सिवाय बांकों के जो नयी-नयी वजें निकाला करते।

इसी लिबास और ढब में दिल्ली के शरीफ लोग लखनऊ में आये। यहां आकर नाजुक मिज़ाजियां बढ़ीं, अपने को सजाने के शौक़ में तरक़्क़ी हुई और बड़ी नज़ाकत और सफाई से कंघी करके माथे पर औरतों की तरह पट्टियां जमायी जाने लगीं और ऐसी धज पैदा हो गयी कि नौजवान लड़कों में औरतों की-सी दिलकशी पैदा हो गयी। फिर चंद रोज़ के बाद जब अंग्रेज़ों से सीखकर औरतों ने माथा खूब खोलकर बाल उलटना शुरू किये तो यह ढब भी कुछ-कुछ मर्दों ने अपना लिया।

अब ग़दर के बाद जब अंग्रेज़ी चलन अपनाया जाने लगा तो सारे हिंदुस्तान के लोगों की तरह यहां भी बाल कटकर अंग्रेज़ी फ़ैशन के हो गये और जितने मुंहों पर दाढ़ियां बाक़ी रह गयीं थीं वे भी तशरीफ ले गयीं।

औरतों के बालों का ढब शायद लखनऊ में वही होगा जो दिल्ली में था, लेकिन यहां शाही में दुलहनों और बनाव सिंगार करने वाली औरतों की चोटियों

में बड़े-बड़े रंगीन दुपट्टों के मूबाफ़[1] होते जो खूब पेच देकर सिर से कमर तक बट कर लटका दिये जाते और ज़्यादा तकल्लुफ़ के वक़्त उनमें चौड़ा लचका लपेट दिया जाता और मालूम होता कि बड़ी भारी मोटी चोटी सिर से पैर तक चांदी की है, माथे पर मेहराबदार पट्टियां जमाई जातीं और उनके बीच में चांद टीकी के गिर्द सुनहरा या रुपहला सिंदूर और सितारों के नक़्श-निगार बनाये जाते।

हाथ-पांव में मेंहदी औरतों के लिए लाज़िमी थी, मगर उनके साथ रंगीन-मिज़ाज मर्दों ने भी अधिकतर मेंहदी लगाना शुरू कर दी थी जिसको देख कर बाहर वाले लखनऊ के मर्दों में ज़नानापन पाते और नाम रखते।

## 4—शिष्टाचार

संस्कृति में चौथी चीज़ शिष्टाचार और स्वभाव है। इस बात में लखनऊ-वालों ने खास शौहरत हासिल की। यही चीज़ लखनऊ में खास महत्व रखती है और इस का जिक्र करना बहुत जरूरी है। दरअसल लखनऊ में एशियाई सभ्यता का बहुत विकास हुआ और दूसरे किसी शहर के लोगों में संस्कृति के उन सिद्धांतों का पालन नहीं किया जाता जिनके लखनऊवाले आदी हो गये हैं।

सभ्यता या तहजीब दरअसल उस औपचारिकता का नाम है जिसे कोई भी राष्ट्र कुलीनता का प्रतीक समझने लगे। आजकल हमें अक्सर लोगों को यह कहते देखते हैं कि मिलने-जुलने में ऐसा और वैसा और संस्कृति की औपचारिकता बेकार का दिखावा और पाखंड है। मगर यह उनकी गलती है, वैसे तो लिबास और रहन-सहन का इंतिज़ाम भी एक व्यर्थ का पाखंड है और पशुओं की-सी ज़िंदगी छोड़कर इंसानियत की ज़िंदगी इख़्तियार करने की सभी बातें पाखंड कही जा सकती है। असल यह है कि जिन लोगों को इंसानी तहज़ीब नहीं आती और सभ्य लोगों से मिलने का सलीका नहीं होता, उन्होंने अपनी आपत्ति का आधार इस बात को बना लिया है कि हमें शहरवालों या सभ्य लोगों की ऐसी दिखावे की बातें नहीं आतीं, मगर ग़ौर करो तो इंसानियत ही दिखावा है। अच्छा पहनना, अच्छी जीवन-सामग्री रखना, अच्छा खाना और हर काम में सफाई का ख़याल करना सब दिखावा है।

शिष्टाचार का पहला सिद्धांत यह है कि मेल-जोल में दूसरे को हर प्रकार

[1] चोटी बांधने का फीता।

की सुख-सुविधा की बात में अपने ऊपर तरजीह दी जाये और आपको उसके पीछे और उससे निचले स्तर पर रखा जाये। किसी के सम्मान में उठ खड़ा होना, उसके लिए प्रमुख स्थान खाली करना और उसे वहां बिठाना, उसके सामने घुटने मोड़ कर बैठना, उसकी बातों को ध्यान से सुनना और नम्रता के स्वर में जवाब देना—ये सब बातें दूसरे को अपने से बढ़कर और श्रेष्ठ मानने की हैं और इनका लखनऊ के शरीफ़ों में जितना रिवाज था लखनऊ के स्वर्ण युग में और कहीं न था।

ये तो वे बातें हैं जिनका संबंध मिलने-जुलने की प्रक्रिया से है। मगर यही चीज़ें जब शिष्ठाचार और स्वभाव में पूरी तरह पैदा हो जाती हैं तो इंसान में त्याग और बलिदान का भाव पैदा हो जाता है और वह इस बात के लिए तैयार रहता है कि दोस्तों के साथ हर तरह के व्यवहार में स्नेह और महानुभूति दिखाये। शाही युग में यह चीज़ लखनऊवालों में पूरे कमाल के साथ पैदा हो गयी थी और इसी का नतीजा है कि यहां भारी संख्या में ऐसे लोग पैदा हो गये थे जिनका ज़ाहिर में जीविका का कोई साधन नहीं था, लेकिन उनके मित्र ऐसे गुप्त ढंग से उनका भरण-पोषण करते कि किसी को कभी पता भी न चल सकता और जीविका के साधन गुप्त रहने की वजह से वे सफेद-पोशी और अमीरों के-से ठाठ-बाट के साथ बड़े-बड़े अमीरों की गोष्ठियों में जाते और किसी के सामने उनकी आंख नीची न होती। लखनऊ ऐसे लोगों से भरा हुआ था कि सल्तनत का तख्ता उलट गया और यकायक उनके जीविका के साधन समाप्त हो गये।

अमीरों के त्याग या परमार्थ की इस शान ने यहां शराफ़त का यही मानदंड बना दिया था और दूसरों के साथ ऐसी शिष्टता से पेश आये और उनके आतिथ्य-सत्कार में एसी उदारता दिखाएं जिसमे उन पर एहसान रखने का नाम को भी संदेह न हो। दुनिया के तमाम बड़े शहरों में बड़े-बड़े व्यापारी और धनी मौजूद हैं जो लाखों रुपये ज़रूरतमंदों को दे डालते हैं, मगर उनके रंग-ढंग से ज़ाहिर होता है कि एक पैसा भी उन्होंने निःस्वार्थ भाव से खर्च नहीं किया। इसके बरखिलाफ़ लखनऊवालों की दोस्तपरवरी और शरीफ़ों के साथ उदारता का व्यवहार ऐसा था कि दुनिया को देने और लेने वाले में कोई फ़र्क नज़र न ाता।

इसमें शक नहीं कि जब सल्तनत ख़त्म होने के बाद बड़े-बड़े अमीर ग़रीब

हो गये और वह गिरोह जो गुप्त जीविका के साधनों से अपनी ज़िंदगी गुज़ार रहा था, फ़ाक़े करने लगा तो अमीरों में इतनी ताक़त न रही कि वे अपने स्वार्थ-त्याग और दानशीलता का परिचय दे सकते। मगर ज़ाहिर में उनका शिष्टाचार जो उनकी प्रकृति का एक अंग बन गया था, वैसा ही बाक़ी रहा और इसका नतीजा यह हुआ कि बहुत से लोगों की यह हालत हो गयी कि अपनी बातों से तो बड़े ऊंचे अतिथ्यि-सत्कार की उम्मीद दिलाते हैं, मगर उनके मेहमान हूजिए तो उनका अमल कुछ और ही होता है। इसी को अधिकतर लोगों ने पाखंड और झूठा शिष्टाचार समझ रखा है। मगर अफ़सोस यह पाखंड या दिखावा नहीं बल्कि हौसलामंदी है जिसकी उनमें सामर्थ्य नहीं। ऐसे लोगों पर एतराज न कीजिये बल्कि उनकी हालत पर तरस खाइये।

लेकिन इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि दौलतमदी के ज़माने में चूंकि शहर की आबादी का ज़्यादा हिस्सा अमीरों, शरीफों और दोस्तों की गुप्त सहायता पर बसर कर रहा था इसकी वजह से मेहनत, कष्ट-सहन और समय का मूल्य जानने का भाव लखनऊवालों में आमतौर से नष्ट हो गया और जो गतिविधियां उन्होंने अपनायीं वे उन्हें राष्ट्रीय प्रगति के पथ से रोज़-बरोज दूर करती गयीं। उनकी दिलचस्पी सिवाय भोग-विलास के कुछ न थी। बेफ़िक्री और जीविका की चिंता से मुक्त होने के कारण उन्हें कबूतर-बाज़ी, बटेरबाज़ी, चौसर, गंजफे और शतरंज का चस्का लगा और इन्हीं कामों पर वे आमदनी का ज़्यादातर हिस्सा खर्च करने लगे। 'कल की चिंता' शब्द से सारी आबादी अपरिचित थी, कोई अमीर न था जो इन वाहियात कामों में से किसी एक का शौक़ीन न हो और उसके शौक़ ने और बहुतों को भी इस शौक़ में न लगाया हो।

ऐयाशी और तमाशबीनी से दुनिया का कोई शहर खाली नहीं। खास तौर से योरुप की बदतमीज़ी और फूहड़ ऐयाशी खुदा न करे कि हमारे शहरों में पैदा हो। लेकिन लखनऊ में शुजाउद्दौला के ज़माने में रंडियों से संबंध बनाने की जो बुनियाद पड़ी तो उसमें रोज़-बरोज़ तरक़्क़ी ही होती गयी। अमीरों के रहन-सहन की यह विशेषता हो गयी कि वे अपना शौक़ पूरा करने या अपनी शान दिखाने के लिए किसी-न-किसी बाज़ारी वेश्या से संबंध ज़रूर रखते। हकीम मेहदी जैसा क़ाबिल, होशियार सभ्य और शिष्ट व्यक्ति जो

प्रधान मंत्री के पद तक पहुंच गया था उसकी तरक़्क़ी की बुनियाद प्याज़ू नामक एक वेश्या से पड़ी जिसने धरोहर की रक़म अपने पास से अदा करके उसे एक सूबे की निज़ामत का ओहदा दिलवाया था। इन उच्छृंखलताओं का एक छोटा कमाल यह था कि लखनऊ में मशहूर था कि 'जब तक इंसान को रंडियों की सोहबत न नसीब हो, आदमी नहीं बनता।' आख़िर लोगों की नैतिक अवस्था बिगड़ी और हमारे ज़माने तक लखनऊ में बाज़ ऐसी रंडियां मौजूद थीं जिनके घर में खुल्लमखुल्ला और बेधड़क चला जाना और उनके साथ रहना बुरा न समझा जाता। बहरहाल इस चीज़ ने एक बड़ी हद तक उनकी आदतें बिगाड़ दीं गो कि उसके नतीजे में उन्हें उठने-बैठने का सलीक़ा भी आ गया।

रहा औरतों का शिष्टाचार और स्वभावादि तो इस बारे में हमारा आम दावा है कि जिन लोगों में व्यभिचार का शौक़ हो उनकी स्त्रियां सच्चरित्रा नहीं रह सकतीं। फिर भी इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि लखनऊ में स्त्रियों का आचरण इतना खराब नहीं हुआ जितना की मर्दों का खराब हुआ था। मिलनसारी और अपने मिलनेवालियों के साथ आदर-सम्मान से मिलना औरतों में भी वैसा ही था जैसा कि मर्दों में था।

किसी ज़माने में चर्ख़ा कातना शरीफ औरतों का शरीफ़ाना शुग़ल समझा जाता था अब अगर्चे सूत की कलों ने इस शुगल को बिल्कुल बेकार और बेनतीजा कर दिया, मगर शौक़ीनी और अमीरी ने इससे पहले ही यह काम यहां की औरतों से छुड़वा दिया था। यहां इसके बदले औरतों को सीने-पिरोने, काढ़ने, घरों की सफ़ाई का इंतिज़ाम करने, मामाओं, वावर्चिन लौंडियों और अर्दलियों से काम लेने और बनने-संवरने का ज़्यादा शौक़ था और बीवियों को घर के कामों और पति और बच्चों के कपड़ों से फुर्सत न मिलती थी कि जिन व्यभिचार के कामों में पुरुष फंस गये थे उनमें वे भी फंसतीं। दरअसल उस दौर में मर्द घरों में बैठे खेला करते थे, घरबार और दुनिया का सारा कारख़ाना सिर्फ औरतों के दम से चल रहा था।

मगर अमीरों के महलों में जब सारा कारोबार मामाओं, मुग़लानियों, अर्दलियों और दायाओं के हाथ में आ गया तो प्रतिष्ठित बेगमों के सामने मुजरा करने के लिए डोमनियों की मंडलियां नौकर हुईं और जिन महलों में स्थायी रूप से डोमनियां नौकर न थीं वहां शहर की आम डोमनियों का

जल्दी-जल्दी आना-जाना रहता और आये दिन तबला-सारंगी लिये ड्योढ़ी पर खड़ी ही रहतीं इसलिए उनके सैकड़ों गिरोह शहर में मौजूद थे। डोमनियों की रुचि जहां तक मुझे मालूम है बहुत ही अश्लील और भौंडी होती है और उनकी संगति औरतों पर कोई अच्छा असर नहीं डाल सकती है। चुनांचे जिस तरह मर्दों के अनैतिक आचरण का कारण वेश्याएं थीं उसी तरह औरतों का आचरण बिगाड़ने का कारण डोमनियां हो गयीं।

लेकिन शरीफ़ों के खानदान इन डोमनियों की संगति से बचे हुए थे और इसलिए औरतें इस नुक़सान से बची रहीं और बढ़िया आचार-व्यवहार का आदर्श बनी रहीं। लखनऊ की औरतों का कैरेक्टर है कि वे पति पर अपनी हर चीज को क़ुरबान करने को तैयार रहती हैं। अपनी हस्ती को पति की हस्ती का एक अंश समझती हैं और कुछ दूसरे शहरों की औरतों की तरह जो घर-गृहस्थी के सलीक़े में लखनऊवालियों से कहीं आगे होती हैं यहां की औरतों को कभी यह खयाल नहीं पैदा हुआ कि अपना रुपया पति से छिपाकर अलग जमा करें और पति की बीमारी में भी अपना धन खर्च करने में संकोच करें। लखनऊ की औरतें वहां की औरतों की-सी हुनरमंद नहीं और घर-गृहस्थी के काम में उनके मुक़ाबिले में फूहड़ हैं, हद दर्जे की खर्चीली हैं, चटोरी हैं, मगर पति का साथ देने और उस पर अपनी जान न्यौछावर कर देने में सबसे आगे हैं।

[ 39 ]

### 5—शालीनता

संस्कृति में पांचवीं चीज़ सभा-समाज में उठने-बैठने का ढंग या शालीनता है। हर सुसंस्कृत जाति में शालीनता के कुछ खास नियम निश्चित हुआ करते हैं और उन्हीं से उस जाति की सभ्यता और उसकी प्रगतिशीलता का स्तर जांचा जाता है। अगर आप ईसाइयों के सुसंस्कृत नगरों पेरिस, लंदन और बर्लिन में या मुसलमानों के सुसभ्य नगर कुस्तुनतुनिया, तेहरान, और शीराज़ में जाइये और वहां के सभ्य लोगों की गोष्ठी में शामिल होइये तो नजर आयेगा कि उनमें शिष्टाचार के नियमों का कितनी

सख्ती से पालन आवश्यक होता है। मगर हिंदुस्तान के बड़े व्यापारिक नगरों में आप जायें और वहां के धनिकों और प्रतिष्ठित लोगों से मिलें तो आपको शिष्टाचार के नियमों का बिल्कुल पता न चलेगा। मगर उन शहरों में जहां कोई ख़ास दरबार क़ायम है या रह चुका है मिसाल के तौर पर हैदराबाद दक्खिन, भोपाल और रामपुर वग़ैरा—प्रतिष्ठित देशी दरबारों के स्थापित होने के कारण आम जनता और ख़ास लोगों में सभी में बड़े-छोटे के लिहाज़ के नियम मिल जायेंगे। इनके विपरीत व्यापारी नगरों में तमीज़दारी, अदब और छोटे-बड़े के लिहाज़ का नाम-निशान भी न होगा।

निश्चय ही दिल्ली में पुराने ज़माने में ये आचार सिद्धांत दूसरी जगहों से कहीं ज़्यादा बढ़े हुए होंगे इसलिए कि वहां का दरबार सबसे बड़ा था और सदियों से क़ायम था। मगर वहां चूंकि व्यापारी लोग सोसाइटी पर छा गये इसलिए आने वाली सारी संस्कृति धूल में मिल गयी। शालीनता की बुनियाद अमीरी, रईसी और हुकूमत से पड़ी है। हुकूमत और रियासत बताती है कि छोटों को बड़ों से और बड़ों को छोटों से किस तरह मिलना चाहिए और बराबर वालों से कैसा बर्ताव करना चाहिए। मगर व्यापारी वर्ग को अमीरी के इन चोचलों और आचार-संबंधी कष्टों से दुश्मनी है। व्यापार तो लेन-देन और स्वार्थपरता के बल पर पनपता है और सेल्फ़-सेक्रिफ़ाइस यानी अपने वक़्त और अपने रुपये, अपने हुनर और अपनी दौलत का अकारण ही किसी और पर न्यौछावार कर देने को मूर्खता बताता है। इसके विपरीत रईसी की विशेषता यह है कि निःस्वार्थता के साथ अपने तरफ़दार या योग्य लोगों को सुख-सुविधाएं दी जायें और उसका यह लाज़िमी नतीजा है कि जहां व्यापार की प्रगति होगी और व्यापारियों की संस्कृति समृद्ध सामंतों और अभिजात वर्ग की संस्कृति पर हावी आ जायेगी वहां कोई नैतिक सिद्धांत बाक़ी नहीं रह सकता। चुनांचे इस चीज़ ने दिल्ली के प्राचीन शानदार दरबारों की सारी आनबान मिटा कर रख दी और वह बात बाक़ी रही जो उसकी ऐतिहासिक ख्याति के अनुकूल थी।

दिल्ली की संस्कृति को जब पूंजीपतियों के गिरोह ने तबाह किया तो उसने अपनी प्राचीन जन्मभूमि से भागकर लखनऊ के छोटे दरबार में शरण ली जो अगर्चे छोटा था मगर उसकी सीमा में दाखिल होने के बाद किसी को नज़र न आ सकता था कि दुनियां में यहां से बड़ा कोई और दरबार भी है।

फिर यहां आज़ादी से बैठकर दिल्ली के शरीफ़ लोगों ने अपने शालीनता के नियमों का पालन करना शुरू किया तो कुछ ही दिन में यह हालत हो गयी कि अकेला लखनऊ ही सारे हिंदुस्तान में तहज़ीब और शिष्टता और शालीनता का केंद्र बन गया। तमाम शहरों के सभ्य लोग लखनऊवालों का अनुसरण कर रहे थे। इन नियमों का बनाना कि किस व्यक्ति का स्वागत दरवाज़े तक आकर करना चाहिए, किसके लिए सिर्फ खड़े हो जाने की ज़रूरत है, किसके लिए आधा खड़े होकर और किसके लिए अपनी जगह पर बैठे ही बैठे "आइए, तशरीफ़ लाइये" कह देना काफ़ी है, ज़्यादातर अपने ऐच्छिक निर्णय और विवेक पर निर्भर है और इस विवेक में जितने बड़े-चढ़े लखनऊ के सभ्य और शिष्ट लोग हैं वैसे कहीं और के न होंगे।

यहां कोई बराबर वाला आयेगा तो खड़े होकर उसका सत्कार करेंगे, उसके लिए सबसे अच्छी जगह खाली करेंगे और जब तक वह बैठ न जायेगा खुद न बैठेंगे। उसके सामने अदब और तमीज़दारी से बैठेंगे, चेहरा प्रफुल्ल रखेंगे ताकि उसे बुरा न महसूस हो। जब वह कोई चीज देगा आदर-भाव से स्वीकार कर लेंगे। इसका पूरा खयाल रखेंगे कि हमारी कोई हरकत उसे नागवार न हो और उसके साथ बैठे हुए किसी और ज़रूरी काम की तरफ ध्यान देंगे तो उससे क्षमा मांग कर वह काम करेंगे। कहीं उठकर जाने की ज़रूरत पेश आयेगी तो उससे इजाज़त लेकर जायेंगे। अगर उसके साथ जाने की नौबत आये तो रास्ते में उसके पीछे रहेंगे और उसे आगे बढ़ायेंगे। शिष्टाचार के नियमानुसार वह भी आग्रह करेगा कि "पहले आप तशरीफ़ ले चलें।" लेकिन इधर से बार-बार यही कहा जायेगा कि "जनाब आगे तशरीफ ले चलें, मैं किस क़ाबिल हूं।" और अगर वह किसी तरह न माने और मजबूर ही कर दे तो उसका शुक्रिया अदा करते हुए उसे झुककर सलाम करेंगे और आगे क़दम बढ़ायेंगे भी तो इस अंदाज से कि उसकी तरफ पीठ न हो।

अक्सर लोग इस प्रकार के शिष्टाचार का मज़ाक़ उड़ाते हैं और यह कहावत मशहूर होगी कि चंद लखनऊवाले 'पहले आप, पहले आप' कहते रहे और रेल छूट गयी, चुनांचे दोनों स्टेशन पर पड़े रह गये। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि हर चीज़ का मर्यादा से बढ़ जाना अशोभन और हानिकर हो जाता है। मगर क्या इससे यह साबित नहीं होता कि सभ्यता के नियमों का पालन

लखनऊवालों के शिष्टाचार का ऐसा अंग बन गया है कि उनके बरतने में उन्हें नुक्सान पहुंचने का भी ख़याल नहीं रहता। जो लोग तहज़ीब और शिष्टता से विहीन हैं वे जो चाहे आपत्ति करें, लेकिन एक शिष्ट और सभ्य व्यक्ति इन बातों को बजाये दुर्गुण के शिष्टाचार का गुण मानेगा।

अब तो सब शहरों की तरह यहां भी मेज-कुर्सियों और अंग्रेज़ी फर्नीचर का रिवाज हो गया है, मगर पहले फ़र्श पर बैठने का ही रिवाज था और वह फ़र्श हर व्यक्ति की अपनी हैसियत और दौलत के मुताबिक़ क़ीमती और पुरतकल्लुफ़ हुआ करता था। अगर कोई बराबर के दर्जे का अपरिचित या बुज़ुर्ग और आदरणीय व्यक्ति आ जाता तो उसे गाव (तकिये) के आगे बिठा कर सब लोग वहां उपस्थित लोगों की संख्या के अनुसार छोटा या बड़ा दायरा बांध कर अदब से और घुटने मोड़ कर बैठ जाते। जिस किसी से वह बात करता वह शख़्स हाथ जोड़कर बड़ी ही विनम्रता से जवाब देता और उसके सामने ज़्यादा बातें करना या अपनी आवाज़ को उसकी आवाज़ से ऊंची करना नैतिक अपराध समझता।

लेकिन अगर सब बराबरवाले परस्पर मित्र और समान रुचि वाले होते तो बैठक में बेतकल्लुफ़ी रहती और इसके बावजूद कि हैसियत और उम्र में एक दूसरे के बराबर होते, बेतकल्लुफ़ी भी होती लेकिन फिर भी सब एक-दूसरे का आदर करते। इसका ख़याल रहता कि किसी की तरफ पीठ न हो और कोई बात ऐसी न होने पाये जिससे किसी का अपमान हो या ऐसा महसूस हो कि उसकी कम इज़्ज़त है। नौकर या खिदमतगार पास या उस फ़र्श पर न बैठ सकते जिस पर मित्र-मंडली बैठी होती। वे हुक्म की तामील के लिए सामने अदब से खड़े होते या नजर से गायब क़रीब ही किसी ऐसी जगह पर ठहरते जहां तक आवाज़ पहुंच जाये और उनका हर वक़्त खड़ा रहना या ज़्यादा बातें करना बदतमीज़ी समझा जाता।

वे ख़ासदान या हुक्का लाकर लगाते तो मेज़बान अपने हाथ से दोस्तों के सामने बढ़ाता और वे उठकर और तसलीम (प्रणाम) करके लेते। बेतकल्लुफ़ी की महफ़िलों में छोटों का बेज़रूरत आना नामुनासिब था। अगर कभी वे ज़रूरत से आ जाते तो बाप के आगे दोस्तों को बहुत ही अदब से झुककर आदाब बजा लाते और उनके आते ही बुज़ुर्गों की सोहबत बेतकल्लुफ़ से शिष्ट और शालीन बन जाती और जिस तरह वह छोटा सबके बड़प्पन का अदब

करता उसी तरह बुज़ुर्ग उसके छुटपन का ख़याल करके अपनी बेतकल्लुफियां छोड़ देते।

यहां की दोस्ती में रोज़ के मिलनेवालों में हाथ मिलाने या गले मिलने का रिवाज न था। हाथ मिलाना सिर्फ नेताओं या प्रतिष्ठित लोगों के हाथ चूमने तक सीमित था और आलिंगन सिर्फ उन दोस्तों के लिए था जो किसी यात्रा से लौट कर आयें या मुद्दत के बाद मिलें।

ज़नाने में मर्द जाते तो औरतों का आदर करते, उनके सामने मुमकिन न था कि वे ज़्यादा बेतकल्लुफ़ी बरतें या उनमें ज़्यादा उठे-बैठें। मियां-बीवी में बेल्तकलुफ़ी लाज़िमी थी लेकिन घर की बुज़ुर्ग औरतों के सामने वे भी हरगिज़ बेतकल्लुफ़ न होते। देहात के शरीफ़ों में आम रिवाज था कि नयी दुलहन जब तक चार-पांच बच्चों की मां न हो जाये घर की तमाम औरतों के सामने पति से पर्दा करती और मज़ाल न थी कि कोई रिश्तेदार मर्द या औरत उसे पति के पास या पति को उसके पास जाते देख ले। यह सख़्ती शहर के शरीफ़ों में न थी। शहर के खानदानों में पति-पत्नी शुरू ही से एक दस्तरख़्वान पर खाना खाते, मगर यह अशोभन था कि मामाओं और नौकरानियों के सामने भी आपस में बेतकल्लुफ़ी बरतने लगें।

औरतों की आपसी मुलाकात सिवाय बड़े-बड़े अमीर घरानों के कुछ ज़्यादा बेतकल्लुफ़ रहती। उनमें मेहमान आनेवाली औरतों के साथ एक मुनासिब हद तक तकल्लुफ रहता मगर उस तकल्लुफ़ के साथ निष्ठा और एकता का भी प्रदर्शन होता।

## [ 40 ]

शालीनता के ही सिलसिले में हमें यह भी बता देना चाहिए कि योरुप या अरब और ईरान की तरह हिंदुस्तान में आपस में मिलने-जुलने और संगति-लाभ करने के लिए क्लबों और सोसाइटियों का रिवाज न था। योरुप में हर जगह ऐसे क्लब या ऐसी सोसाइटियां क़ायम हैं जिनमें जाकर लोग अपने मित्रों और समान रुचिवाले लोगों से मिलते और उनकी संगति में आनंद उठाते हैं। अरबों, ईरानियों और तुर्कों में चायख़ाने या क़हवाख़ाने मेलजोल और विचार

विनिमय का साधन बन गये हैं। जिस तरह आप देखते हैं कि जिस जगह दो-चार अंग्रेज़ होते हैं वहां अपना एक क्लब क़ायम कर लेते हैं और फ़ुर्सत के समय वहां जाकर अखबार पढ़ते और दोस्तों से मिलते है। उसी तरह जिस शहर में ईरानियों और अरबों की काफ़ी तादाद होती है वहां उनका कोई चायखाना या क़हवाखाना खुल जाता है और उसमें जिस वक्त देखिये उनका कोई-न-कोई गिरोह ज़रूर मौजूद होता है जो वहां चाय और हुक़्क़ा पीते, खाना खाते और साथ बैठकर गप्पें मारते हैं।

इसके बरखिलाफ़ हिंदुस्तान में कभी इस क़िस्म के क्लबों या चायखानों का रिवाज न था और न आज तक है। अंग्रेज़ सरकार ने शहरों में जगह-जगह यह रुचि पैदा करने की कोशिश की, बड़े-बड़े खर्चों का बोझ उठाकर चाय-खाने खुलवाये मगर कामयाबी न हुई। आज से तीस-पैंतीस साल पहले खास लखनऊ के चौक में मीर मुहम्मद हुसैन साहब, डायरेक्टर कृषि और व्यापार, ने निज़ाम हैदराबाद जाने से पहले गवर्नमेंट की मदद से एक चायखाना खुलवाया था जिसमें फर्नीचर भी अच्छा था और सिवा नाजायज़ चीज़ों के हर तरह के पेय तैयार रहते थे मगर किसी ने ध्यान न दिया और आखिर मीर साहब को नुक़्सान उठाकर उसे बंद कर देना पड़ा।

यहां का पुराना रिवाज यह है कि हर मुहल्ले में या आबादी के हर हलके में कोई खुशहाल या दौलतमंद शख्स अपने घर में लोगों के आने और उठने-बैठने का प्रबंध करता है। दोस्तों की ख़ातिर के लिए हुक़्क़ा, पान वग़ैरा ज़रूरी चीज़ों को वह अपने खर्च से मुहैया करता है और उसके साथी-संगी रोज़ाना पाबंदी से आते हैं। देर तक बैठक जमती है, चुटकले सुनाये जाते हैं और आपस में नोक-झोंक होती है और जब तक बैठक रहे हुक़्क़ा और पान चलता रहता है और फिर दोस्तों के अनुसार उनकी महफ़िलों का रंग भी बदलता जाता है। अगर महफ़िल के लोग शेर-ओ-शाइरी में दिलचस्पी रखते है तो शाइरी और अन्य साहित्यिक बातों की चर्चा होती है। अगर वह विद्वानों की मंडली है तो वहां शास्त्रीय चर्चा होने लगती है। अगर सुसंस्कृत सामंतों या अमीरों की बैठक है तो वेशभूषा, ऐश्वर्य, खान-पान और और अन्य वस्तुओं के बरतने और विभिन्न रुचियां अपनाने आदि में बड़ी शिष्टता और सफाई तथा रख-रखाव के साथ तमीज़दारी ज़ाहिर की जाती है। अगर

रगीन स्वभाव ऐयाशों की महफ़िल है तो उसमें बाज़ारी सुंदरियां भी शामिल होती हैं और नाज़-नखरे दिखाती हैं। यह ख़याल रखना चाहिए कि योरुप की तरह यहां, मर्दों की किसी गोष्ठी मे भद्र और सच्चरित्रा स्त्रियां शामिल नहीं हो सकतीं और मित्र-मंडली में जब कोई स्त्री नज़र आ जाये तो विश्वास करिये कि वह निश्चित रूप मे कोई वेश्या है। इसका नतीजा यह है कि योरुप की गोष्ठियों में भद्र और शिष्ट महिलाओं के शरीक होने के कारण बाज़ारी औरतों का दर्जा और मान सोसाइटी में इतना गिर गया कि किसी शरीफ़ खानदान का दरवाज़ा उनके लिए नहीं खुल सकता और न शरीफ़ों के क्लबों और सोसाइटियों में वे कदम रख सकती हैं। इसके विपरीत एक हद तक सारे हिंदुस्तान में और इसी तरह लखनऊ मे बाज़ारी औरतों को यह दर्जा हासिल हो गया कि सभ्य और सुसंस्कृत सामंतों की गोष्ठियों में उनके साथ-साथ बैठें। और यहां इस रुचि का ऐसा विकास हुआ कि कुछ प्रतिष्ठित वेश्याओं ने अपने घरों में ऐसी ही गोष्ठियों का आयोजन किया जिनमें जाते हुए बहुत से भद्र और शिष्ट लोगों को भी शर्म नहीं आती। लखनऊ में चौधराइन बी हैदर जान और इसी स्तर की कुछ अन्य वेश्याओं के मकान अच्छे खासे क्लब थे जहां शरीफ़ लोग आतेजाते थे, जिनमें उन बी साहिबा की तरफ से हुक्के पान की खूब खातिर की जाती। अंग्रेज़ी रुचि ने इसमें अब इतना सुधार किया है कि अगर्चे तरह-तरह की नयी अशिष्टताएं पैदा हो गयी हैं मगर रंडियों के घरों में खुल्लम-खुल्ला बैठकर संगति-लाभ करना कुछ बुरा समझा जाने लगा है।

बहरहाल लखनऊ के क्लब खुशहाल लोगों और अमीरो के घर थे। यहां यह तरीक़ा बहुत ही बुरा समझा जाना था और अब तक है कि साझे की हांडी पकाई जाये या महफिल के लोग चंदा देकर और अपने-अपने दामों का हुक़्क़ा-पान या खाना-पानी एक साथ बैठकर खायें-पियें। यहां चंदे के डिनर समाज के लिए लज्जाजनक और भद्रता के प्रतिकूल थे। यहां की तमाम दावतें चाहे वे किसी खुशी के मौक़े पर हों या सिर्फ दोस्तों के अतिथि-सत्कार के लिए हों सिर्फ एक व्यक्ति की ओर से हुआ करतीं। दूसरा यदि समर्थ हो तो अपनी तरफ से पूरी दावत दे सकता है यह नहीं कर सकता कि अपनी दावत में मुझसे खाने के पांच रुपये लेकर मुझे भी शरीक कर लीजिए।

दिल्ली के व्यापारियों में पत्ती पड़ने का रिवाज है यानी बहुत से व्यापारी

मिलकर चंदा जमा करते हैं और उस रक़म से कोई दावत या नाच-गाने की महफ़िल किसी घर में या बाहर के मनोरंजन-स्थल में की जाती है। मगर हमें यक़ीन है कि यह तरीक़ा वहां के पूंजीपतियों ने शासन के पतन के बाद निकाल लिया है, दिल्ली के शरीफ़ों का यह चलन हरगिज़ न था इसलिए कि वहां के शरीफ़ों में होता तो लखनऊ में भी होता जो सभ्यता में दिल्ली का ही शागिर्द और उसी की सुथरी रुचि का अनुयायी है।

### 6—अभिवादन

संस्कृति में छठी चीज़ जो दूसरी सब बातों से ज़्यादा महत्वपूर्ण और ज़रूरी है सलाम करना और जिससे मिलें उससे कुशल-क्षेम पूछना। इस्लाम का पुराना मज़हबी और सीधा-सादा सलाम 'अस्सलाम अलैक' और बहुत से लोग हों तो 'अस्सलाम अलैकुम' है। इसके साथ ही वे लोग इस सलाम के बाद हर मिलने वाले से सुबह को मिलें तो 'सुब्हकुम अल्ला बिलख़ैर' यानी अल्लाह तुम्हारी सुबह ख़ैरियत से गुज़ारे। और शाम को मिलें तो 'मस्साकुम अल्ला बिलख़ैर' कहा करते थे। यही सलाम और मिज़ाजपुर्सी अरबों की थी जिसकी शिक्षा देते हुए वे पश्चिम में स्पेन तक चले गये और पूर्व में हिंदुस्तान तक चले आये। योरुप में अभिवादन का यही तरीक़ा अंग्रेज़ों ने सीखा और पूर्व में ईरानियों, तूरानियों और हिंदुस्तानियों ने सीखा। चुनांचे योरुप में असली सलाम जो इस्लाम की विशेषता थी वह तो गायब हो गया सिर्फ इस्लाम के बाद वाली दुआएं 'सुब्हकुम अल्ला बिलख़ैर' और 'मस्साकुम अल्ला बिलख़ैर' बाक़ी रह गयीं। इन्हीं का तर्जुमा 'गुड मार्निंग और गुड ईविनिंग' आज तक हम अभिवादन के लिए अंग्रेज़ों की ज़बान से सुनते हैं। फ्रांसीसी में 'बां मतिएन', 'बां जूर' और 'बां स्वार' यानी तुम्हारी सुबह दिन और शाम अच्छी हो कहा जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि इन पाश्चात्य जातियों को अभिवादन का यह पाठ स्पेन के अरब विजेताओं से मिला है।

हिंदुस्तान और ईरान में चूंकि पूर्वजों की पूजा रिवाज था और यह चीज़ इन पूर्वी लोगों के जीवन का अंग बन गयी थी, इसलिए खाली-खूली 'अस्सलाम अलैकुम' के शब्द जो व्यक्ति और समष्टि के साम्य को जारी रखे थे: धनवानों को अपने घमंड और बड़प्पन के जोश में बहुत फीके और अपनी शान से कम नज़र आये, खासतौर से जब यहां शाहंशाही दरबार क़ायम हुआ और बादशाहों ने अपना आदर सम्मान कराने में सारे इस्लामी शिष्टाचार को मिटा

दिया। दरबारियों को अपने सामने इसी तरह हाथ बांधकर खड़े होने और अपने सम्मान में भुकने का हुक्म दिया जिस तरह कि बंदे खुदा के सामने हाथ बांध कर खड़े होकर रूकूअ[1] और सजदे करते हैं तो शाही दरबारों के अनुसरण में आम अमीरों और धनिकों ने भी बजाये 'अस्सलाम अलैकुम' के और ही सम्मान सूचक शब्द सलाम के लिए निश्चित किये : जैसे 'तसलीम', 'कोरनिश', 'आदाब', 'बंदगी' और आत्मश्लाघी और खुदा से विमुख मुसलमान अमीरों की कोशिश से फ़िलहाल ये सभी शब्द हमारे सलाम हैं। अरब में 'अस्सलाम अलैकुम' कहने के साथ सिवाय मुख की प्रफुल्लता के और कोई हरकतें नहीं की जाती थीं। सलाम के बाद एक हाथ से हाथ मिलाया जाता, हाथ हिलाया जाता और उसी के साथ 'सुब्हकुम अल्ला बिलखैर' या 'मस्साकुम अल्ला बिलखैर' कहा जाता। अभिवादन के इस अरबी तरीके की यादगार में अब योरुप में सिर की एक हल्की-सी जुंबिश के साथ 'गुड मार्निंग' वग़ैरा कहते और हाथ को मिला कर भटका देते हैं। इसके बखिलाफ़ हिंदुस्तान में अब पूरा सलाम यह है कि ऊपर दिये गये शब्द कहने के साथ हाथ को सिर या माथे पर रखते और भुक जाते हैं।

इतना ही नहीं बादशाहों और अमीरों के दरबारों में सलामों की तादाद मुक़र्रर थी, कहीं सात सलाम किये जाते और कहीं तीन। आम बुज़ुर्गों और दोस्तों से मिलने में एक सलाम काफी था। लखनऊ में चूंकि शिष्टाचार और शालीनता का ज़्यादा खयाल रखा जाता था इसलिए कि छोटों का सलाम बड़ों से और बीच के दर्जेवालों का प्रतिष्ठित लोगों से यह है कि उपर्युक्त शब्दों में से किसी एक को ज़बान से अदा करने के साथ दाहिने हाथ को सीने या चेहरे के सामने तक उठाकर कई बार हिलाया जाये। छोटों के लिए आज तक यह बहुत ही उचित और आज्ञाकारिता प्रकट करने वाला अभिवादन है। यह हाथ को कई बार हिलाना अनेक सलामों का इशारा है। शायद यही वजह है कि अक्सर लोग 'तसलीम' और 'कोरनिश' को बहुवचन में इस्तेमाल करके कहते हैं : 'तसलीमात' और 'कोरनिशात'। यह भी सलाम के गिनने की यादगार है।

अब हम ऊपर दिए गये प्रचलित अभिवादन सूचक शब्दों के अर्थ और उनके उद्गम तथा विकास का अलग-अलग वर्णन करते हैं। 'तसलीम' का अर्थ अरबी में सलाम करना है। बज़ाहिर 'अस्सलाम अलैकुम' को छोड़कर

[1] नमाज़ पढ़ते समय सजदे में जाने से पहले भुकना।

क्रियापद के रूप में प्रयोग करना कुछ भोंडा-सा मालूम होता है मगर यहां की सोसाइटी में यह समझा गया कि बजाये सलाम करने के 'मैं सलाम कर रहा हूं' कहने में आदर का पुट अधिक होता है। 'कोरनिश' तुर्की भाषा का शब्द है जिसे तुर्की विजेता यहां लाये। इसके मानी सलाम के लिए झुकने के हैं। लिहाज़ा इसमें भी झुककर ज़मीन छूना और चरण छूने का भाव मौजूद है। 'आदाब' 'अदब' का बहुबचन है। सलाम के समय इसके प्रयोग का उद्देश्य यह है कि आदर-सम्मान के जितने तरीके हैं उन सबको बजा लाता हूं। जहां तक 'बंदगी' का संबंध है यह सलाम के सभी समानार्थी शब्दों में ज़्यादा हेय और नास्तिकता का सूचक है। बंदगी का अर्थ पूजा करना है, सलाम में इसका मतलब और कोई नहीं हो सकता कि मैं आपकी इबादत करता हूं जो मुसलमानों की आस्था की दृष्टि से सिवाय खुदा के और किसी के लिए नहीं कहा जा सकता।

इन हिंदुस्तानी सलामों के विपरीत अरब में जो शब्द 'अस्सलाम अलैकुम' कहे जाते हैं उनका शाब्दिक अर्थ यह है 'तुम पर सलामती' या साफ जबान में यों कहिये 'तुम सलामत रहो' यानी सलाम करना दरअसल हर मिलनेवाले की सलामती (सुरक्षा) की दुआ देना है। इस्लाम ने इस पर तरक़्क़ी यह की कि 'सलाम' खुदा का पयाम है जो खुदा के रसूल (मुहम्मद साहब) ने मुसलमानों को पहुंचाया और क़यामत तक आपका यह पयाम हर मुसलमान दूसरे मुसलमान को पहुंचाता रहेगा। 'अस्सलाम अलैकुम' में सलाम पर जो अलिफ (अ) और लाम (ल) लगा हुआ है उसमें साफ इशारा इसी तरह है कि वह सलाम जो हज़रत मुहम्मद साहब का पयाम है, तुमको पहुंचे।

इस्लाम के असली सलाम के इन मानों और उसके मक़सद को समझ कर हर शख्स अंदाज़ा कर सकता है कि यह सलाम राष्ट्रीय समानता का खयाल दिलाने और इस्लाम के सभी अनुयायियों में राष्ट्रीयता और एकता का भाव जगाने का साधन है। मगर अफ़सोस मुसलमानों ने इसको छोड़ दिया और हमारा व्यर्थ का दंभ हमें यह खयाल दिलाता है कि किसी मामूली मुसलमान का हमसे मिलते वक्त 'अस्सलाम अलैकुम' कहना हमारी तौहीन करना है। हालांकि यह चीज़ बहुत अफ़सोसनाक है इसलिए कि इस्लाम तो तमाम दुनिया के लोगों के लिए समानता और भाई-चारे का संदेश लेकर आया है। इसमें एक मामूली मुसलमान तो क्या दूसरे मजहब के मानने वालों के साथ भी उसी

उदारता और प्रसन्नचित्तता से व्यवहार करने की शिक्षा दी गयी है। और फिर यह सलामती तो एक ही ओर सीमित नहीं होती कि कहने वाले ने 'अस्सलाम अलैकुम' (तुम पर सलामती हो) कह दिया बल्कि जवाब देने वाला भी उसी तरह खुश होकर बड़ी विनम्रता के साथ जवाब देता है कि 'वअलैकुम अस्सलाम' यानी 'और तुम पर भी सलामती हो'। मैं समझता हूं कि दुनिया की किसी क़ौम या किसी मजहब की सभ्यता और संस्कृति में इतना अच्छा तरीक़ा नहीं है जितना कि इस्लाम मजहब में है।

अमीरों और रईसों की सोसाइटी में 'आदाब' और 'तसलीम' का आम रिवाज है। 'बंदगी' भी अक्सर लोग कहते है मगर इस शब्द का औरतों में ज़्यादा रिवाज है।

लखनऊ में पुराना शिष्ट और विनम्र अभिवादन यह था कि छोटा बड़े से या ग़रीब अमीर से बहुत झुककर 'तसलीम' या 'आदाब' कहे। जवाब में बुज़ुर्ग छोटों से कहें 'जीते रहो', 'बड़े हो', 'साहब-इक़बाल हो'। अमीर लोग ग़रीबों के लिए बिना झुके सिर्फ हाथ उठा दें या हाथ उठाने के साथ इन्हीं शब्दों --'तसलीम और आदाब'--को दुहरायें या बंदगी कह दें। मगर बराबरवालों का तरीक़ा जवाब देने में यह था कि राह चलने में साहब-सलामत हो तो उसी तरह झुक कर तसलीम या आदाब कहें। अगर किसी महफ़िल में बैठे हों तो पूरी तरह उठ खड़े हों और झुककर जवाब दें।

सलाम के बाद एक-दूसरे से कहें 'मिज़ाज शरीफ' या 'मिज़ाजे-अक़दस' या 'मिज़ाजे-आली' या 'मिज़ाजे-मुबारक' या 'मिज़ाजे-मुअल्ला' और दूसरा हाथ जोड़ कर कहे 'दुआ करता हूं'। लगभग सारे हिंदुस्तान में शिष्ट लोगों का अभि-वादनादि का यही ढंग है। मगर लखनऊ में और चंद शहरों में जहां हिंदुस्तानी रियासत क़ायम है और कोई दरबार मौजूद है इन तरीक़ों के अदा करने में ज़्यादा ख़याल रखा जाता है और इसमें कमी होना बदतमीज़ी समझी जाती है।

मगर अब कुछ दिनों से विशेषकर लखनऊ में आम जनता, शिल्पियों और निचले वर्ग के लोगों में पुराने दरबार और उसके शिष्टाचार के मिट जाने से 'अस्सलाम अलैकुम' कहने का बहुत रिवाज हो गया है। खुदा करे अमीर लोग भी इसका अनुसरण करें और बड़े-छोटे या ऊंच-नीच का भेद बिल्कुल उठ जाये।

## 7—संबोधन और कुशल-क्षेम पूछना

संस्कृति के नियमों में सातवीं महत्वपूर्ण बात बातचीत और संभाषण का ढंग है। दुनिया में हर शख्स की शिष्टता और साहित्यिक योग्यता का पहला अंदाज़ा उसके शब्दों और उसके बातचीत के ढंग से होता है। दुनिया की हर प्रतापवान जाति सबसे पहले अपनी भाषा सुधारती है और उसका विकास करती है।

सभ्यता की मांग है कि ज़बान पर भद्दे और अश्लील शब्द न आयें। जो शब्द या विचार संबोधित व्यक्ति को नागवार गुज़रे उसके सामने ज़बान से न निकलें और अगर कभी नागवार बातों के कह देने की ज़रूरत आ भी जाये तो वे ऐसे शब्दों और ऐसे ढंग से कही जायें कि सामने वाले को बुरी न लगें और अगर बुरी लगें भी तो उनकी बुराई का अंश कुछ कम हो जाये। उसमें वे कुछ रस भी ले सकें। इस संबंध में लखनऊ और यहां के सुसंस्कृत लोगों को जो कमाल हासिल है हिंदुस्तान के और किसी शहरवालों में नज़र न आयेगा। हालांकि वर्तमान शिक्षा और सभ्यता ने एक हद तक यह ख़ूबी हर जगह संभाषण में पैदा कर दी है मगर अंग्रेज़ी असर से अलग करके देखिये तो यही सभ्यता और विनम्रता लखनऊवालों की भाषा में ही दिखायी देगी।

बाहर के लोग इसका यहां तक लोहा माने हुए हैं कि लखनऊवालों के सामने बात करते झेंपते हैं और जो कुछ शिष्टता उनमें है उसको भी भूल जाते है और उसके बाद जब अपनी महफ़िलों में बैठते हैं तो यह कहकर अपनी कमज़ोरी का आरोप दूर करते हैं कि 'हम सादगी से साफ़-साफ़ बातें करते हैं और हमें लखनऊवालों की-सी चुनां-चुनीं (वैसा-ऐसा) नहीं आती।' मगर सच पूछो तो यह बहाना उस आरोप का खंडन नहीं मंडन करता है। मैंने ईरा-नियों को देखा कि उनके सामने हिंदुस्तानी बात करना भूल जाते है। इंग्लि-स्तान में देखा कि फ्रांसीसियों के सामने अंग्रेज़ों की ज़बान से एक लफ़्ज़ निकलना भी मुश्किल हो जाता है। इसी तरह अरबों की वाचालता-शक्ति की भी कभी यह हालत थी कि उनके सामने विदेशियों की ज़बान न खुल सकती थी और अरब लोगों का ख़याल हो गया था कि ज़बान ख़ुदा ने सिर्फ हमको

दी है और सारी दुनिया हमारे मुक़ाबिले में गूंगी है । इसी खयाल का नतीजा था कि सिवाय अरब के तमाम दुनिया के लोगों को वे 'अजम' कहते थे जिसका शाब्दिक अर्थ है 'गूंगा' । ठीक यही हाल हिंदुस्तान में हर शहर के लोगों के मुक़ाबिले पर लखनऊवालों का है कि वे प्रवाहमयी भाषा और विनोद-वृत्ति के कारण सबको दबाकर महफ़िल पर छा जाते हैं और अपने सामने किसी और को ज़बान नहीं खोलने देते ।

भाषा की शिष्टता में सबसे पहली चीज़ यह है कि संबोधित को किन सर्वनामों से याद किया जाये । और सब भाषाओं में संबोधित के लिए दो सर्वनाम हैं—एक एकवचन का और दूसरा बहुवचन का। और यदि संबोधित व्यक्ति सम्मानित है तो उसके लिए एकवचन के बजाये हर भाषा में बहुवचन का सर्वनाम प्रयुक्त होता है । फ़ारसी में एकवचन में संबोधित का सर्वनाम 'तू' है और बहुवचन में 'शुमा' । अरबी में एकवचन का 'क' और 'अंत' और बहुवचन का 'कुम' और 'अंतुम' । अंग्रेज़ी में 'यू' के सर्वनाम से सम्मानित व्यक्ति को संबोधित किया जाता है । इन सब भाषाओं के विपरीत उर्दू में संबोधित के लिए एकवचन का सर्वनाम 'तू' है मगर बहुवचन के दो सर्वनाम हैं : 'तुम' और 'आप' और इन तीनों सर्वनामों के लिए संबोधित की हैसियत और पद निश्चित है । एक बहुत ही निम्न व्यक्ति को 'तू' कहेंगे । निम्न वर्ग के लोगों में जो ज़रा बेहतर हो उसे और अपने छोटों को 'तुम' कहेंगे और जो बराबर के दर्जे या हैसियत का और पढ़ा-लिखा हो उसे 'आप' कहेंगे अगर्चे प्रतिष्ठित लोग कभी बेतकल्लुफ़ी में अपने साथियों और बराबरवालों और हमउम्रों को भी 'तुम' कहने लगते हैं मगर जिन लोगों से बेतकल्लुफ़ी न हो उनको 'तुम' कहना उर्दू में खासतौर से लखनऊवालों में नैतिक अपराध है ।

उर्दू ज़बान में और खास लखनऊवालों में संबोधित के इतने दर्जे ही नहीं बल्कि इनसे भी बढ़कर बहुत से शब्द हैं जिनका शरीफ़ों और सम्मानित लोगों के लिए इस्तेमाल करना लाज़िमी है । 'जनाब', 'जनाबे-वाला', 'जनाबे-आली', 'हज़रत', 'हज़रते-वाला', 'हुज़ूर', 'हुज़ूरे-वाला', 'हुज़ूरे-आली', 'क़िब्ला', 'क़िब्ला-ओ-काबा', 'सरकार', और इसी क़िस्म के कुछ और शब्द उर्दू में है जो संबोधित के लिए उसकी हैसियत के अनुसार प्रयुक्त होते हैं । ये सभी शब्द लखनऊवालों की ज़बान पर चढ़े हुए हैं और उनका सही इस्तेमाल जितना लखनऊवाले जानते हैं और किसी दूसरे शहर के लोग नहीं जानते ।

हमारा दावा है कि संबोधन के लिए इतने आदर सूचक शब्द संसार की किसी भाषा में नहीं है। हिंदुस्तान में वह ज़माना गुज़र गया जब उर्दू यहां की तमाम भाषाओं में समृद्ध थी और अब उर्दू साहित्य की शागिर्दी से मुक्त होकर सब भाषाएं अपने-अपने बड़प्पन का डंका बजा रही हैं। बंगला, पंजाबी, गुजराती, सिंधी, मराठी, कन्नड, तेलुगू, वग़ैरा सबको अपनी साहित्यिक प्रगति और श्रेष्ठता का दावा है। मगर हम उपर्युक्त भारतीय भाषाओं को और उनके साथ सारी दुनिया की मशहूर भाषाओं फ़ारसी, अरबी, अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी को भी चेलैंज देते हैं कि अगर उनको उर्दू से ज़्यादा साहित्यिक समृद्धि का दावा है तो संबोधित के लिए अपने कोषों में इतने शब्द निकाल दें जितने कि उर्दू में मौजूद हैं। सच यह है कि अपनी कमउम्री और सीमित प्रयोग-क्षेत्र के बावजूद उर्दू कुछ ही दिनों में शिष्टता, सरसता और शिष्टाचार के नियमों की दृष्टि से इतनी प्रगति कर चुकी थी जितनी संसार की किसी और भाषा ने न की होगी। वास्तविकता यह है कि उर्दू किसी देश, किसी प्रांत, किसी वर्ग या किसी धर्म की भाषा नहीं थी बल्कि यह वह ज़बान थी जो शाही दरबार से शुरू होकर हिंदुस्तान के हर शहर में सभ्य और सुसंस्कृत लोगों, प्रतिष्ठित लोगों, साहित्यकारों, कवियों और भाषा तथा साहित्य के प्रेमियों की भाषा बन गयी थी। लिहाज़ा इसकी बुनियाद ही सभ्यता और शिष्टता के हाथों से पड़ी और आख़िर तक सुथरी रुचिवालों और साहित्य-प्रेमियों की भाषा रही। इसी का नतीजा है कि उर्दू बोलनेवालों की मेजारिटी किसी सूबे में नहीं। मगर याद रखना चाहिए कि हर जगह के सभ्य और सुसंस्कृत लोग इसके बोलनेवाले हैं। यह पैदा ही इसलिए हुई थी कि हिंदुस्तान में उच्चकोटि का और सारे संसार में अधिक शिष्ट समाज पैदा कर दे मगर बदनसीबी से अंग्रेज़ी दौर में जब पश्चिमी सभ्यता ने जगह पकड़ी तो हिंदुस्तानियों के आपसी और पुराने स्वाभाविक पूर्वाग्रहों ने यह रंग दिखाया कि मुसलमान इसी पर गर्व करने लगे कि हमारी ज़बान है और हिंदुओं ने यह ख़याल करके कि इस ज़बान में हम मुसलमानों का मुक़ाबिला न कर सकेंगे इसे मुसलमानों ही के सिर मारा और दामन झटक कर अलग हो गये। इससे उर्दू को नुक़सान पहुंचा और रोज़-बरोज़ ज़्यादा नुक़्सान पहुंचेगा। मगर इसके बावजूद इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि जो रसीलापन, जो साहित्यिक गुण इसमें हैं न तो नयी पैदा की हुई हिंदी भाषा

में हैं और न हिंदुस्तान की किसी और भाषा में।

अंग्रेज हों या अरब, अफ़गान हों या ईरानी जब उर्दू बोलते है तो संबोधित के लिए सिवा 'तुम' के और कोई शब्द उनके खयाल में नहीं आता इसलिए कि इस प्रकार का और कोई शब्द जो 'तुम' से ज्यादा शिष्ट और प्रगतिशील हो उनकी भाषा में मौजूद नहीं है।

अंग्रेज़ी में संबोधन के और शब्द हैं, जैसे 'यूअर आनर', 'यूअर एक्सिलेंसी', 'यूअर हाइनेस', 'यूअर मैजेस्टी' वग़ैरा मगर वे उच्चकोटि के सामंतों और बादशाहों के लिए नियत हैं उनके अलावा और किसी के लिए उनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के विशिष्टजनों के लिए उर्दू में शब्द निश्चित हैं, मिसाल के तौर पर 'जहांपनाह', 'साहबे-आलम', 'मुर्शिदज़ादा', 'नवाब साहब', 'नवाबजादा', 'साहबज़ादा'। ये ख़ासकर उंचे वर्ग के लोगों के संबोधन में जिनके साथ 'जनाब' या 'हुज़ूर' के शब्द जोड़कर संबोधन किया जा सकता है और शायद इस तरह के निश्चित संबोधन हर भाषा में मौजूद होंगे, लेकिन उपर्युक्त आदर सूचक शब्द जो उर्दू भाषा में हर सम्मानित और सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किये जा सकते हैं उर्दू के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में नहीं नज़र आते।

मिज़ाज पूछने को ही देखिये हर भाषा में इसके लिए मामूली शब्द है, मगर उर्दू में आदर-सम्मान प्रदर्शित करने के लिए 'मिज़ाजे-आली', 'मिजाजे-मुबारक', 'मिजाजे-अक़दस', 'मिज़ाजे-मुक़द्दस', 'मिजाजे-मुअल्ला' वग़ैरा कहकर सम्मानित संबोधित की कुशल-क्षेम पूछते है। ये शब्द हालांकि अब उर्दू की प्रगति के साथ हर जगह और हर शहर में फैल रहे हैं मगर उनके इस्तेमाल में जो कमाल लखनऊ के भद्रजनों को हासिल है और किसी जगह के लोगों को नसीब नहीं हो सकता।

लखनऊ के अभिजात वर्ग के लोगों में एक खास बात यह है कि 'शीन-क़ाफ़' दुरुस्त रहेगा और तमाम अरबी हरफ़ों को यथासंभव उनके अपने उच्चारण-स्थान से अदा करेंगे। फ़ारसी की तरकीबों (समस्त शब्दों) में इज़ाफ़त (कारक-चिह्न) स्पष्ट रूप से अदा की जायेगी। विद्वानों से बातें करेंगे तो अरबी और फ़ारसी शब्दों को ज़्यादा इस्तेमाल करेंगे और उनका सही उच्चारण करेंगे। हकीमों से बातचीत होगी तो अरबी की चिकित्सासंबंधी शब्दावली का प्रयोग करेंगे। जाहिल नौकरों और आम लोगों से बात करेंगे तो अरबी के

शब्दों से बचेंगे। औरतों से बातचीत होगी तो उनके मुहाविरों और कहावतों का बातचीत में इस्तेमाल करेंगे।

छोटा बड़े से, निचले वर्ग का उच्च वर्ग के व्यक्ति से या अनपढ़ पढ़े-लिखे से बातचीत करेगा तो हर शब्द और हर वाक्य में आदर सम्मान का ध्यान रखेगा। आवाज़ मुनासिब दर्जे तक हल्की और नीची रहेगी। इसी तरह बड़े छोटों से, ऊंचे वर्ग वाले निचले वर्ग के लोगों से, विद्वान जनसाधारण से बात करेंगे तो उनके लहज़े, उनके अंदाज और उनके शब्दों में स्नेह और वात्सल्य के भाव निहित होंगे।

इन बातों का लिहाज रखने और ऊपर दिये गये आदरसूचक शब्दों और सर्वनामों के प्रयोग करने से लखनऊवालों की भाषा ऐसी शिष्ट, प्रांजल और प्रवाहमयी हो गयी है कि यहां की आम जनता और अनपढ़ लोग दूसरे शहरों के अधिकांश कवियों और साहित्यकारों से अधिक अच्छी उर्दू बोलते हैं और जो शिष्टता और तहज़ीब उनसे ज़ाहिर हो जाती है किसी और जगह के योग्य और पढ़े-लिखे लोगों से भी नहीं ज़ाहिर हो सकती। मगर अफ़सोस लखनऊ मिटता जाता है। अब यहां बाहर के लोगों का ऐसा तूफ़ाने-बेतमीज़ी मचा हुआ है, यहां के सभ्य और शिष्ट लोग इस तरह बेकार होकर कोने में बैठ गये हैं और क़ानूनी आज़ादी ने अनपढ़ जनता को इतना निर्भीक और बदतमीज़ बना दिया है कि शिष्टाचार-संबंधी सारी ख़ूबियां ख़ाक में मिल रही हैं और चंद रोज़ बाद शायद इनका पता भी न हो।

[ 42 ]

### 8—हास्य का ढंग

सभ्यता में आठवीं चीज़ हास्य या हंसी-दिल्लगी का ढंग है। अरब का पुराना कथन, बल्कि हजरत मुहम्मद साहब की मशहूर हदीस है कि 'बातचीत में विनोद का वही स्थान है जो खाने में नमक का'। सच यह है कि शोख़ी और विनोदप्रियता के बिना न तो बातचीत में मज़ा पैदा होता है और न महफ़िल में जान पड़ती है। मगर इसी विनोदप्रियना में यदि असावधानी हो जाये तो वही झगड़े-फ़साद का कारण बन जाती है। विनोद या हास-परिहास ने

बातों-बातों में अक्सर तलवार चलावा दी है और पुराने जानी दोस्तों को घड़ी भर में दुश्मन बना दिया है। ग़ौर से देखो तो साफ नज़र आ जायेगा कि इन बुराइयों का कारण हास-परिहास नहीं बल्कि उसमें असावधानी करना या मर्यादा से बाहर हो जाना हुआ करता है।

जो भाषा जितनी विकसित होती जाती है हास-परिहास और व्यंग्य-विनोद के पहलू उसमें उसी अनुपात में बढ़ते जाते हैं। बात में विनोद जिन तरीक़ों से पैदा हो जाता है उनको मर्यादित करना बहुत मुश्किल है। सैकड़ों तरीक़े हैं जिनसे एक अच्छी भाषा का ज्ञाता फ़ायदा उठा लिया करता है और उनकी विस्तार से चर्चा करने के लिए एक पूरी पुस्तक चाहिए। इस समय तो हमें सिर्फ इतना कहना है कि विनोद का स्रोत वे शब्द हुआ करते हैं जो अनेकार्थी होते हैं और उनमें से कुछ अर्थों से किसी पर व्यंग्य होता है और कभी विनोद में ऐसे शब्दों से भी काम नहीं लिया जाता बल्कि किसी इंसान या चीज़ की किसी ऐसी चीज़ से उपमा दी जाती है जो अनुचित होते हुए भी उसके समान हो। फिर उस उपमा को ऐसे ढंग से प्रकट करना कि उसमें उपमा के बदले अलंकार का आनंद आ जाये। ठीक इसी तरह कभी अपने आपको या किसी और को इतना बढ़ाना या इतना घटाना कि वास्तविकता से बहुत दूर हो जाये। इन सब बातों के लिए सलीक़े की ज़रूरत है। अच्छा सलीक़ा रखनेवाला तीखे-से-तीखा व्यंग्य कर जाता है और नागवार से नागवार उपमा दे जाता है मगर किसी का दिल मैला नहीं होता या किसी को अपना रोष प्रकट करने का अवसर नहीं मिलता। इसके ख़िलाफ़ अगर किसी बेढंगे शख़्स ने यह काम करना चाहा तो लोग बिगड़ खड़े होते हैं और दुश्मनी पर उतर आते हैं। इसका जितना अच्छा सलीक़ा लखनऊ की आम जनता में है और जगह के ख़ास लोगों में भी नज़र नहीं आता।

एक बंगाली विद्वान डा० अघोरनाथ ने जो बड़े पंडित, दार्शनिक, साहित्य में पी० एच० डी० और उर्दू के अच्छे माहिर थे उर्दू भाषा पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा "साहब, यह कौन-सी ज़बान की ख़ूबी है कि एक बार मैंने एक गोष्ठी में कहा, हम आजकल दूध पिया करते हैं। इस पर सब लोग सहसा हंस पड़े।"

मैंने कहा उर्दू की यही ख़ूबी है। आप चूंकि इस भाषा में अभी कच्चे हैं इसलिए आपको बजाये अपने दोष के यह भाषा का दोष नज़र आया। हर

भाषा में द्वियर्थक शब्द हुआ करते हैं और भाषाविदों का काम यह है कि निंदा के तमाम पहलुओं को बचाकर शब्दों का प्रयोग किया करें। अंग्रेजी में 'कंसीव' शब्द का अर्थ 'विचार करना' भी है और 'गर्भ धारण करना' भी। एक मशहूर लाट साहब ने पार्लमेंट में तीन बार कहा, "आई कंसीव" और आगे सोचने लगे। किसी ने पुकार कर कह दिया, "जनाब ने तीन बार 'आई कंसीव' कहा और हुआ कुछ भी नहीं" यानी तीन बार गर्भधारण किया और पैदा कुछ न हुआ। इस पर सबने क़हक़हा लगाया और वह लाट साहब झेंप गये। इसी तरह उर्दू में हजारों शब्द हैं जिनमें अनेक पहलू निकलते हैं यदि बोलनेवाले को उनके प्रयोग का सही सलीक़ा न होगा तो बात-बात पर हंसा जायेगा।

यही ऊपर दिया गया, 'दूध पीने' का वाक्य है। हिंदुस्तान में दूध पीना दूध-पीते बच्चों का काम है और किसी अक़्लमंद और बालिग़ के लिए कहना कि 'यह दूध पीते हैं' दोष तो है ही लेकिन उसके अलावा वह इस अर्थ में इस्तेमाल होता है कि यह अभी नासमझ और नादान है। इस पहलू के बचाने के ख़याल से लखनऊवाले यह कभी न कहेंगे कि "मैं दूध पीता हूं" बल्कि इसी बात को वे इस दोषपूर्ण पहलू से बचाकर दूसरे अनेक ढंगों से अदा करेंगे। कहेंगे कि, "मैं आजकल दूध को इस्तेमाल करता हूं।" "आजकल मेरा खाना दूध है।" "दूध चावल खाता हूं।" लखनऊवालों की इस सावधानी को देखकर आगरा के एक योग्य और भाषा के जानकार कवि को धोखा हुआ कि लखनऊ की जबान दूध खाना है दूध पीना नहीं। लखनऊ के एक साहब से उनसे इस बारे में मतभेद हुआ और हुक्म के तौर पर मुझसे मालूम किया गया। मैंने कहा, "दूध पीने की चीज़ है कोई उसके बारे में 'खाने' का शब्द कैसे इस्तेमाल कर सकता है? हां, यह ज़रूर है कि निंदा का पहलू बचाने के लिए लखनऊवाले दूध खाने का शब्द अपने बारे में इस्तेमाल करेंगे।"

एक इसी मुहाविरे पर निर्भर नहीं उर्दू में सैकड़ों शब्दों में विभिन्न मुहाविरों और अर्थों के कारण निंदा के पहलू पैदा हो गये हैं और हर भाषा जाननेवाले का काम है कि उनसे बचे या कोई व्यक्ति किसी के बारे में मज़ाक में इस्तेमाल कर जाये तो उसका फ़र्ज है कि समझे और जवाब दे वर्ना समझ लिया जायेगा कि वह उस भाषा को नहीं जानता।

लखनऊवालों में शोखी और विनोदप्रियता बहुत है। वे अपनी बातों में सैकड़ों तरीकों से विनोद का पुट दे देते हैं और जो इस कला में जितना

प्रवीण है वह उतना ही ज़्यादा साहित्यकारों की गोष्ठियों में चमकता और प्रतिष्ठित होता है। मैं यह नहीं कहता कि और स्थानों के लोगों में यह कमाल नहीं है, बल्कि बहुत ज़्यादा है और अब उर्दू भाषा सारे हिंदुस्तान में इस तरह तरक्क़ी कर रही है कि हर जगह उच्चकोटि के विनोदी पैदा होते जाते हैं और काव्य के जानने और उसके परखने का शऊर बढ़ रहा है। मगर लखनऊवालों में यह ख़ूबी उनके स्वभाव का अंग बन गयी है। बात में सरसता पैदा करने और चुटकुले छोड़ने की जितनी सुथरी रुचि उनमें नज़र आती अन्यत्र नहीं देखी जाती।

## 9—शादी-ग़मी की महफ़िलें

संस्कृति में नवीं चीज़ शादी और गमी की महफ़िलें हैं। मुसलमानों की दौलतमंदी और हुकूमत ने उनकी औरतों के अरमान दूसरी जगहों की अपेक्षा यहां बहुत बढ़ा दिये हैं। जन्म से लेकर विवाह तक लड़के की हर खुशी और कामयाबी एक उत्सव बन जाती है। पैदाइश के बाद ही छठी, चिल्ला और दरम्यान के नहान, अक़ीका (मुंडन), खीर-चटाई, दूध-बढ़ाई, बिस्मिल्लाह, खतना और सबसे बढ़कर निकाह ये सब अपने आपमें ख़ुशी के अवसर हैं। अक्सर बच्चों की सालगिरह हुआ करती है, उपर्युक्त समारोहों के अलावा आरोग्य-स्नान या किसी विशेष लक्ष्य के पूरा होने पर भी समारोह मनाये जाते हैं।

इन सब समारोहों में रिश्तेदार और पास-पड़ोस की जान-पहचान वाली औरतें जमा हो जाती हैं। ज़नानी महफ़िलें की जाती हैं। तख़्तों के चौकों पर और अगर ज़्यादा मेहमान हुए तो ज़मीन पर दरी-चांदनी का उजला फ़र्श बिछता है। दौलत-मंद घरों में चांदनी पर तीन तरफ या केवल बीच में एक और बड़े कीमती कालीन बिछते हैं, कमल और मृदंगें जलायी जाती हैं और डोमनियों की मंडली सामने बैठकर मुजरा करती है। नाचनेवाली डोमनी घुंघरू बांध कर नाचती और भाव दिखाती है। मुजरे के दरम्यान में कभी-कभी डोमनियां हंसाने वाली नकलें करती हैं। बहरहाल ख़ुशी के वह चह-चहे होते हैं और डोमनियां हालांकि मुजरे में अक्सर मर्यादा को लांघ जाती हैं और महफ़िल में बेशर्मी को बढ़ा देती हैं, मगर शिष्टाचार, स्त्रियों के परस्पर संबंध और उनके साथ बड़े-छोटे के लिहाज़ में कोई फ़र्क नहीं आने पाता। हर उत्सव से संबंधित सैकड़ों रिवाज हैं जिनका पूरा होना ज़रूरी समझा जाता है। इन

रस्म-रिवाजों की रक्षक बड़ी-बूढ़ी औरतें हैं और उनके साथ डोमनियां हुआ करती हैं जिनको उन रस्मों के बहाने बहुत कुछ मिल जाता है।

अधिकतर रस्मों में रत-जगा ज़रूर हुआ करता है और यही एक चीज़ है जो हिंदुस्तानी औरतों के विश्वास के अनुसार लौज अल्लाह है और जिसमें डोमनियां 'अल्ला मियां की सलामती' का गीत गाती हैं। रात भर जागरण होता है लेकिन इबादत के लिए नहीं बल्कि गाने-बजाने, रात भर धमा-चौकड़ी मचाने और सुबह होते मस्जिद में जाकर अल्लाह मियां का ताक़ भरने के लिए जिनकी नज़्र के लिए गुलगुले और ख़ुदाई रहम[1] खास चीज़ें हैं। इन रस्मों में यही कार्रवाई देहात में भी हुआ करती है मगर वहां बदतमीज़ी और अव्यवस्था होती है तो शहरवालियों में नफ़ासत, सफ़ाई, सुव्यवस्था और शिष्टता रहती है।

## [ 43 ]

शादियों के जिस उत्सव का हम ज़िक्र कर चुके हैं और उनकी ज़नानी महफ़िलों की एक तसवीर पीछे दिखा दी है उनका ब्यौरा यह है :

छठी उस रस्म का नाम है जबकि प्रसुति के बाद मां और बच्चे को पहली बार नहलाया जाता है। ज़च्चा को तेज़ गरम पानी से नहलाना एक तिब्बी इलाज है। मगर चूंकि यह स्नान खुशी के मौक़े पर होता है इसलिए इसका बड़ा महत्व है और चूंकि आमतौर से ज़चगी के छठे दिन पहला नहान होता है इसलिए उसका नाम ही छठी पड़ गया। इसमें ज़च्चा बड़ी देखभाल के साथ नहलायी जाती है, फिर बच्चा नहलाया जाता है और उसके बाद तमाम औरतें जो मेहमान होती हैं एक के बाद दूसरी सब नहाती हैं। ज़च्चा और बच्चे के लिए अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार नये भारी जोड़े तैयार किये जाते हैं और साथ ही सब औरतें कपड़े बदलती हैं। इस नहान में जो तरह-तरह की रस्में बरती जाती हैं वे अनगिनत हैं और शायद हर शहर और गांव बल्कि हर खानदान में कुल मिलाकर एक जैसी लेकिन आंशिक रूप से भिन्न और नयी होती हैं।

---

[1] कच्चे चावल, मेवा, केवड़े आदि से बना हुआ एक पकवान।

दुलहन के मायके या दूसरे रिश्तेदारों की ओर से इस मौक़े पर ज़च्चा और बच्चे के जोड़े, तौक, हंसली और कड़े, नन्हें बच्चे के योग्य खिलौने, झुनझुने, चटवे और इनके साथ मुर्गियां और ख़ुदा जाने क्या-क्या चीज़ें बड़ी धूमधाम, जुलूस और बाजों के साथ आती हैं। ज़नाने में नाच-गाना होता है और अगर इतनी सामर्थ्य न हो तो ख़ुद घरवाली औरतें ढोल सामने रख कर गा-बजा लेती हैं।

यही शान बाद के दो नहानों यानी बीसवीं और चिल्ले (चालीस दिन) के नहानों की होती है। अगर ख़ुदा ने इत्मीनान दिया है तो दोनों मौक़ों पर ऐश-इशरत की महफ़िल सजती है वर्ना सिर्फ चिल्ले के नहान में ज्यादा धूमधाम होती है और बीसवें के नहान के मौक़े पर मामूली ख़ुशी होती है।

अक़ीक़ा मुसलमानों की खालिस मज़हबी रस्म है जिसका प्रारंभ बनी इसराईल[1] के जमाने से आले-इब्राहीम[2] में चला आता है। यहूदी पैदाइश के आठवें दिन बच्चे को मस्जिदे-अक़्सा[3] में ले जाकर उसका सिर मुंडाते और क़ुरबानी करते थे और उनका पेशवा खास तरीक़ों से उसके लिए बरकत की दुआ किया करता था। यही तरीक़ा मुसलमानों में भी रस्मे-इब्राहीमी और सुन्नते-मुहम्मदी की हैसियत से आज तक जारी चला आता है। अगर्चे अब पैदाइश के बाद आठवें दिन अक़ीक़े का बंधन उठ गया है, मगर अक्सर बच्चे की उम्र के पहले ही साल में हो जाया करता है। इसमें बच्चे को नहलाकर नये कपड़े पहनाये जाते हैं और उसके बाद दोस्तों और रिश्तेदारों के समूह में नाई उसका सिर मूंडता है और जैसे ही वह सिर में उस्तरा लगाता है बच्चा अगर लड़का है तो दो और लड़की है तो एक बकरा क़ुरबान किया जाता है। मुंड जाने के बाद सिर में संदल लगाया जाता है। रिश्तेदार अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक़ बच्चे को कुछ 'मुंह दिखाई' देते हैं। क़ुरबानी का गोश्त ग़रीबों और रिश्तेदारों में बांट दिया जाता है और घर में ख़ुशी का जल्सा होता है और उसी क़िस्म की महफ़िल सज जाती है जैसी कि और रस्मों के मौक़े पर होती है।

[1] यहूदियों की उपाधि।

[2] एक पैगंबर।

[3] यरूशलम की प्रसिद्ध मस्जिद।

## खीर-चटाई

इस उत्सव से बच्चे को दूध के अलावा और चीज़ें खाने को देने की शुरुआत होती है जो अक्सर, उस समय हुआ करती है जब बच्चा चार-पांच महीने का हो चुकता है। अक्सर घरों में खाने का प्रारंभ खीर से किया जाता है जो बड़े इंतिज़ाम के साथ पकायी जाती है और खासतौर पर रिश्तेदार औरतों की मौजूदगी में बच्चे को चटायी जाती है जबकि वह नये कपड़े पहने होता है और सब बीबियां बच्चे के चिरंजीव होने की दुआ देने के साथ उसके हाथ में रुपये देती हैं और वही खुशी की महफ़िल क़ायम हो जाती है जो हर रस्म में नज़र आती है।

## दूध-बढ़ाई

यह उत्सव उस मौक़े पर होता है जब बच्चे का दूध छुड़ाया जाता है। इसमें आमतौर पर खजूरें पकाई जाती हैं ताकि बच्चा अगर दूध के लिए ज़िद करे तो सुलाने के तौर पर उसके हाथ में दे दी जाया करे। मगर आम रिवाज यह है कि इतनी मात्रा में पकायी जाती हैं कि जिन-जिन घरों में हिस्सादारी है उनमें बांटी भी जा सकें। दूध के छुड़ाने का आम तरीक़ा यह है कि मां या दूध पिलाने वाली की छातियों में पानी में घोल कर एलवा या और कोई कड़वी चीज़ लगा दी जाती है जिसकी कड़वाहट से घबराकर बच्चा दूध छोड़ देता है और जब पीने के लिए ज़िद करता और बहलाये नहीं बहलता तो फिर यही कार्रवाई की जाती है और दो-एक दफ़ा में उसे दूध से नफ़रत हो जाती है। दूध-बढ़ाई का ज़माना आमतौर पर उस वक़्त होता है जब बच्चा दो साल का हो जाये। हनफ़ियों[1] में दूध छुड़ाने की मुद्दत ढाई बरस की है, यानी ढाई बरस के बाद दूध छुड़ाना लाज़िमी है। लेकिन रिवाज इससे कम ही ज़माने का है, यह और बात है कि बाज़ औरतें तीन-तीन, चार-चार साल दूध पिलाती रहती हैं। मगर यह बात सामान्यतः नफ़रत की निगाह से देखी जाती है इसलिए कि शरीअत के खिलाफ़ है। इस उत्सव में भी जिन घरों को खुदा ने ताक़त दी है उनमें बहुत अच्छी चहल-पहल हो जाती है और नाच-गाने की महफ़िल गर्म होती है।

## बिस्मिल्लाह

यह उत्सव उस दिन होता है जिस रोज़ लड़के को पहले-पहल

---

[1] मुसलमानों का एक संप्रदाय।

पढ़ने के लिए बिठाते हैं और इसका समय प्रचलित रस्मों के अनुसार वह माना गया है जब बच्चा चार साल, चार महीने और चार दिन का हो जाये। इस चार की संख्या ने इस उत्सव को ऐसा विशिष्ट बना दिया है कि चार साल, चार महीने, चार दिन के बाद चार घंटे और चार मिनट का लिहाज़ किया जाता है। नियत समय पर कोई मौलवी साहब या ख़ानदान के बुज़ुर्ग लड़के को, जो नहला-धुलाकर और नये कपड़े पहनाकर दुलहा बना दिया जाता है, पढ़ाने के लिए बैठते हैं। अलिफ़-बे की किताब उसके सामने रखते हैं और 'बिस्मिल्लाह' कहलाकर अरबी की ये दुआ के शब्द कहलाते हैं, 'रब्बै यसर वला तआस्सिर-वतम्मिम बिलखैर' जिनका अर्थ यह है 'खुदावंद आसान कर और मुश्किल न कर और खैरियत से खत्म कर'। फिर अलिफ़-बे कहलाकर मिठाई बांटी जाती है और लड़के के रिश्तेदार और बड़े अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसे कुछ देते हैं और उस दिन से उसकी शिक्षा शुरू हो जाती है।

**ख़तना**

यह भी सुन्नते-इब्राहीमी[1] और आले-इब्राहीम[2] की पुरानी और ज़रूरी रस्म है और चूंकि हिंदुस्तान में सिर्फ मुसलमानों में ही होती है और यह समझा जाता है कि इस कार्रवाई के बाद से लड़का मुसलमान हो जाता है इसलिए इस रस्म का आम नाम ही मुसलमानी पड़ गया है। इसमें बच्चे के शिश्न के मुंह पर की खाल काट ली जाती है जिसका काटना डाक्टरी उसूल से भी कुछ बीमारियों और तकलीफ़ों से बचने के लिए बहुत लाभकर है। यह एक तरह का आपरेशन है जिसे हमारे पुराने सर्जन (जर्राह), जो आमतौर से नाई होते हैं, बड़ी खूबी और असाधारण फुर्ती से कर डालते हैं। उन्हें अच्छा पारिश्रमिक और इनाम दिया जाता है और इस रस्म के संपन्न होते समय मर्दाने में अक्सर रिश्तेदार और दोस्त मिलाकर बिठा लिए जाते हैं और ज़नाने में मेहमान बीबियों का जमघट होता है। ख़तना होते ही मिठाई बांटी जाती है और जिनमें सामर्थ्य होती है दावत करते हैं और फिर उस रोज़ खुशी मनाई जाती है जब ज़ख़्म अच्छा होने के बाद लड़का आरोग्य-स्नान करे। अधिकतर ख़ानदानों और मन्नत-मुराद वाले घरानों में उस रोज़ लड़का दुलहा बनाकर

[1] हज़रत इब्राहीम द्वारा किया गया काम या दिखाया गया मार्ग।

[2] हज़रत इब्राहीम की संतान।

घोड़े पर बिठाया जाता है और बरात बड़े जुलूस और धूमधाम के साथ किसी दरगाह में जाती है जहां चादर और मिठाई चढ़ाकर लड़का उसी शान से घर वापस आता है जहां ख़ुशी के चहचहे और ऐश-इशरत के जलसे नज़र आते हैं। इस रस्म के अदा होने का समय अलग है : बाज़ लोग छठी या चिल्ले ही में बच्चे का ख़तना करा देते हैं, मगर आम रिवाज उस वक़्त है जब लड़का छह-सात बरस का हो जाये।

एक और रस्म रोज़ा खोलने की भी है। यह उस वक़्त होती है जब लड़का या लड़की नौ-दस बरस की उम्र को पहुंच जाये और उसे पहले-पहल रोज़ा खुलवाया जाये। इसमें आमतौर से बहुत से रोज़ादारों की दावत की जाती है जिनके लिए कई तरह की और काफ़ी मात्रा में अफतारियां[1] तैयार की जाती हैं और लड़का उनके साथ बैठकर अफ़्तार करता है और अगर लड़की है तो ज़नाने में मेहमान रोज़ादार बीबियों के साथ रोज़ा खोलती है। इसमें गाना-बजाना कम होता है मगर शौक़ीन और रंगीनमिज़ाज लोगों के लिए यह बताना भी नाच-गाने की महफिल सजाने के लिए काफी हो जाता है।

इसी प्रकार की कार्रवाइयां आरोग्य-स्नान के उत्सव और मन्नत-मुराद पूरी होने के मौक़ों पर हुआ करती हैं और सिवाय उन ख़ास बातों के जो इस उत्सव से संबंध रखती हों बाक़ी बातें इसमें भी वही होती हैं जो और उत्सवों में बयान की गयी हैं।

सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण उत्सव शादी या निकाह का है। यह वह ज़रूरी रस्म है जिसकी मर्यादाविहीनता के कारण सैकड़ों खानदान तबाह और बरबाद होते चले जाते हैं और वजह यह कि ख़ुशी के जोश और प्रेमिका से आलिंगन करने की उत्कंठा में किसी को न अपनी हालत और सामर्थ्य का ध्यान रहता है और न अपने किये के अंजाम का। नतीजा यह होता है कि क़र्ज़ लेकर, जायदादें बेचकर, दोस्तों और कुटुंबियों से मांगकर या जिस तरह कोई रक़म मिल सके हासिल करके अरमान पूरे किये जाते हैं और शादी के ख़त्म होते ही यह हालत होती है कि अक्सर घरों में फ़ाक़ों की नौबत आ जाती है।

शादी और निकाह चूंकि मानव-जीवन की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है इसलिए इसका हम सविस्तार वर्णन करना चाहते हैं। शादी की बात अक्सर

[1] रमज़ान के महीने में रोज़ा खोलने के लिए तैयार किए जाने वाले पकवान आदि।

मश्शाताओं (प्रसाधिकाओं) के ज़रिये ठहरती है। हिंदुस्तान के तमाम बड़े शहरों में ख़ासकर उनमें जहां पुरानी संस्कृति विकसित हुई थी औरतों का एक ख़ास पेशा है बनाव-सिंगार या प्रसाधन। कवियों के यहां और शब्दकोशों में मश्शाता का अर्थ वह औरत दिया गया है जो उच्च कुल की महिलाओं की कंघी-चोटी करती, कपड़े और ज़ेवर पहनाती और उन्हें बनाती-संवारती तथा उनको सजाती है। मगर समाज में मश्शाता उन्हें कहते हैं जो शादी के पयाम ले जाती है, रिश्ते ठहराती हैं और शादियां कराती हैं। संभवतः इस पेशे की शुरुआत उन्हीं औरतों से हुई हो जो हसीनों को बनाया-संवारा करती हैं और आख़िर में शादी ठहराने वाली औरतों का नाम मश्शाता पड़ गया। ये बड़ी चालाक और मक्कार औरतें हुआ करती हैं। हर लड़के का पयाम जिस घर में ले जाती हैं तो उसकी दौलतमंदी, शिक्षा, आज्ञाकारिता, शिष्टता और सौंदर्य की बेहद प्रशंसा करती हैं। इसी तरह जब किसी लड़की की बात लड़के वालों के यहां ले जाती हैं तो उसके सौंदर्य, नाज़-अंदाज़ और ख़ूबियों को ऐसे ढंग से बताती हैं कि मालूम होता है जिस लड़की का ज़िक्र कर रही हैं वह इंसान नहीं कोई परी या शाहज़ादी है।

मश्शाता के पयाम के बाद अगर्चे तहक़ीक़ मर्द ही करते हैं मगर रिश्ता ठहरने में ज़्यादा दख़्ल दोनों घरों की औरतों ही को हुआ करता है जो अपना इत्मीनान करके मर्दों की रज़ामंदी हासिल करती हैं और रिश्ता ठहर जाता है। दोनों ख़ानदानों में बच्चों के पैदा होते ही अरमान भरी मांएं रिश्ते ठहरा लिया करती हैं, उनके लिए मश्शाता की ज़रूरत पेश नहीं आती; बल्कि दुलहा को अनायास ही ठीकरे की मंगी दुलहन मिल जाती है और शादी से पहले की रस्में जिनका संबंध रिश्ता ठहरने से होता है, उनकी नौबत नहीं आती, मानो पैदा होते ही मंगनी हो जाती है।

नये घरों में जब पयाम जाता है तो अक्सर लड़का अपने कुछ रिश्तेदारों और ख़ास दोस्तों के साथ 'बर-दिखौवा' के नाम से दुलहन वालों के यहां बुलाया और ऐसी जगह बिठाया जाता है जहां से औरतें भी उसे ताक-झांक कर देख सकें। घरवाले मर्द इकट्ठे होकर उससे मिलते और अपनी हैसियत के मुताबिक़ ख़ातिर करते हैं। इसी तरह लड़के की मां-बहनें एक नियत तारीख़ पर दुलहन के घर जातीं और मिठाई खिलाने या किसी बहाने से दुलहन का चेहरा देखती है जो आमतौर पर उनसे छिपाई और पर्दे में रखी जाती

है। मगर बाज़ शरीफ़ घरों में दुलहा नहीं बुलाया जाता, बल्कि खानदान के मर्द किसी-न-किसी तरीक़े से लड़के को बताये बिना उसे देखते और उसका हाल मालूम कर लेते हैं और यूं ही लड़की का भी पता लगा लिया जाता है।

इन तरीक़ों से जब लड़के वाले लड़की को और लड़की वाले लड़के को पसंद कर लेते हैं जिसमें सूरत-शक्ल, हालत और हैसियत के अलावा खानदान की शराफ़त का भी बहुत कुछ दखल होता है, तो मंगनी की रस्म की जाती है। इसमें दुलहा की तरफ से मिठाई जाती है, फूलों का गहना जाता है, एक सोने की अंगूठी जाती है जिसे बाज़ घरानों में दुलहा की रिश्तेदार औरतें खुद जाकर पहनाती हैं।

मंगनी की रस्म अदा हो जाने के बाद समझा जाता है कि बात ठहर गयी और उसी वक़्त से दोनों पक्षों का यह नियम हो जाता है कि जब कोई उत्सव हो तो समधियाने में खासतौर से हिस्से जायें और जो हिस्सा लड़के या लड़की के लिए होता है वह बड़ा होता है और विशेष रूप से सजाया जाता है। इसी दौरान अगर मुहर्रम आ गया तो दोनों पक्षों की ओर से बड़े व्यवस्थित ढंग से गोटा, इलायचियां, चिकनी डलियां और उच्चकोटि के कारचोबी और रेशमी बटुए समधियाने में भेजे जाते हैं।

बरात यानी निकाह के दिन से चंद रोज़ पहले दुलहन मांझे बिठा दी जाती है जबकि उसे मांझे का पीला जोड़ा पहनाया जाता है। उस वक़्त से रोज़ उसके उबटना लगता है और खास जरूरतों को छोड़कर वह पर्दे से बाहर नहीं निकलती। जिस दिन वह मांझे बैठती है उसी रोज़ रस्म है कि उसका जूठा उबटना, उसकी जूठी मेंहदी, मिश्री का कूजा और बहुत-सी पींडियां एक शानदार जुलूस और बाजे के साथ दुलहा के घर भेजी जाती हैं। जो पींडियां खास दुलहा के लिए होती हैं वे अलग थालों में खासतौर से रखी जाती है। उन्हीं के साथ दुलहा के लिए मांझे का पीला भारी जोड़ा, एक रंगी हुई नक़्शीं चौकी और लोटा-कटोरा भी होता है। लोटा-कटोरा चौकी पर नाड़े से कसकर बांध दिये जाते हैं और जुलूस में ये चीजें इस क्रम से होती हैं कि बाजे वालों और जुलूस के बाद सबके आगे चौकी होती है, उसके बाद ख्वानों में दुलहा की खास चीजें होती है जो आमतौर पर कच्चे थालों में रखी जाती हैं और उनके बाद बहुत से ख्वानों में आम किस्म की पींडियां होती हैं। दुलहन की छोटी बहनें और डोमनियां पीनस और

डोलियों पर सवार होकर जाती हैं जो दुलहा के घर पहुंचकर एक पींडी और मिस्री के सात-सात टुकड़े करके वे सब टुकड़े दुलहा को डहका-डहका कर खिलाती हैं। इस रस्म के बारे में अनुमान किया जाता है कि खालिस हिंदुस्तानी रस्म है जिसका न अरब से संबंध है, न ईरान से इसलिए कि मांझे और उसके साथ कंगने का प्रचलन भारत के अलावा और किसी जगह साबित नहीं होता।

मांझे के दस-बारह रोज़ से ज़्यादा का अर्सा गुज़रने के बाद इसी शान-शौकत और जुलुस के साथ दुलहा के घर से दुलहन के यहां 'सांचक' जाती है। सांचक तुर्की भाषा का शब्द है और यह तुर्की की ही रस्म है। मालूम होता है कि तुर्क और मुग़ल इस रस्म को अपने साथ भारत लाये। इसमें दुलहा के यहां से दुलहन के लिए चढ़ावे का जोड़ा जाता है जो आमतौर से बहुत भारी और कारचोबी होता है। उसके साथ दुलहन के लिए सुनहरी मुकैश का सेहरा, चांदी का छल्ला, सोने की अंगूठी और दो-एक चीज़ें हुआ करती हैं और वह ज़ेवर होता है जिसे पहनाकर वह विदा की जायेगी और फूलों का गहना होता है। जोड़े के साथ शकर के नुक़्ल[1] और शकर के कुर्स[2] और मेवा जाता है। सांचक के लिए खासतौर से नक्काशीदार और रंगीन घड़े तैयार कराये जाते हैं। फिर बांस और काग़ज़ के रंगारंग तख़्तों में चार-चार घड़े लगाकर चौघड़े बना दिये जाते हैं और दौलतमंदी और अमीरी की शान के अनुरूप उन चौघड़ों की संख्या बढ़ती जाती है और अक्सर सौ-सौ, दो-दो सौ तक पहुंच जाती है। मगर उनके अंदर चंद गिनती के नुक़्लों या पाव-आध सेर शकर के सिवा कुछ नहीं होता। उनके मुहंघड़ों पर आमतौर से सूहे का कपड़ा नाड़े से बंधा होता है और जुलुस में उन सब घड़ों के आगे चांदी की एक दही की मटकी रहती है जिसमें दही भरा होता है और उनके मुंह पर भी सूहा नाड़े से बांध दिया जाता है और उसके गले में मुबारक शकुन के तौर पर दो-एक मछलियां बंधी होती हैं। ये चीज़ें जब दुलहन के घर पहुंचती हैं रिश्तेदारों में बांट दी जाती हैं।

[1] एक तरह की खीर।

[2] टिकिया।

सांचक के दूसरे ही दिन रात को दुलहन के घर से बड़े जुलूस और रौशनी के साथ मेंहदी जाती है। खयाल किया जाता है कि यह असल में अरबी रस्म है। इसमें दुलहनवालों की तरफ से दुलहा के लिए जोड़ा जाता है जिसे पहनकर वह ब्याहने को आयेगा। इस जोड़े में सामान्यतः पुराने मुग़ल दरबार में प्रचलित बनावट का खिलअत, शमला, जीग़ा, सरपेच और सजी हुई कलग़ी होती है। नसीब हुआ तो उसके साथ मोतियों का हार भी भेजा जाता है। उपर्युक्त चीजों के अलावा रेशमी पायजामा और जूता वग़ैरा मामूली चीज़ें भी होती हैं। अक्सर एक चांदी की अंगूठी भी जाती है। इस जोड़े के साथ दुलहा के लगाने के लिए पिसी हुई तैयार मेंहदी भी भेजी जाती है जिसे बहुत से थालों में फैला कर रखते हैं और उसमें हरी और लाल बत्तियों को लगाकर जला देते हैं। इस तरह के मेंहदी के बहुत से थाल रौशन होते हैं जो मेंहदी के जुलूस में एक खास शान और आन-बान पैदा कर देते हैं। मेंहदी के इन रौशन थालों के साथ सौ-पचास थालों में मलीदा होता है जो छुहारों को कूटकर बनाया जाता है और जैसी हैसियत होती है उसी के अनुसार भारी मात्रा में भेजा जाता है। इस मौक़े पर जोड़े के साथ दुलहा के लिए सोने का सेहरा भी भेज दिया जाता है।

मेंहदी के दूसरे दिन दुलहा की तरफ से बरात जाती है। बरात जाने का वक़्त पुराने ज़माने में पहर रात रहे यानी तीन बजे रात का था, लेकिन अब यह वक़्त अक्सर घटता जाता है और बजाये पहर रात रहे के पहर दिन चढ़े यानी नौ-दस बजे सुबह को बरातें जाने लगी हैं। इस देरी का प्रारंभ अवध के आख़िरी बादशाह वाजिद अली शाह के ज़माने से हुआ। उनकी बरात जाने में इत्तिफ़ाक़ से देर हो गयी और दिन निकल आया था। लोगों ने आसानी और रौशनी का सामान कम करने के खयाल से यही वक़्त रखना शुरू कर दिया। चुनांचे अब आमतौर पर सुबह के समय बरात जाती है और दोपहर को निकाह हो जाता है।

बरात में जहां तक संभव हो पूरा जुलूस एकत्र किया जाता है। प्रचलित तीन बाजे यानी पुराना ढोल, ताशे और झांझें, रौशन चौकी और अरगन बाजा

ज़रूर होते हैं। इससे तरक़्क़ी हुई तो घोड़ों पर नौबत नक़्क़ारा, झंडियां, बर्छे बरदार, हाथी, ऊंट, घोड़े और उससे भी ज़्यादा हौसला हुआ तो इन्हीं बाजों के अनेक गिरोह बढ़ा दिये जाते हैं। दुलहा वही जोड़ा पहनकर जो मेंहदी के साथ आया था और सेहरा बांधकर आमतौर पर घोड़े पर और ऊंचे वर्ग के अमीरों के यहां हाथी पर सवार होकर सारे जुलूस और बाजों के पीछे धीरे-धीरे शान से रवाना होता है। दुलहा को 'नौशा' यानी नया बादशाह कहते हैं और ख़याल भी यही है कि दुलहा एक दिन के लिए बादशाह बना दिया जाता है। मगर ग़ौर करने की बात यह है कि जब दुलहा को बादशाह बनाते हैं तो उसके सिर पर शमला क्यों होता है? ताज क्यों नहीं पहनाते? इससे इस बात का सबूत मिलता है कि हिंदुस्तान में मुसलमान सिर पर आड़ा ताज नहीं पहनते थे, बल्कि सबके सिरों पर कलग़ीदार शमले होते थे। अंग्रेजों ने गाज़ी-उद्दीन हैदर के ज़माने से अवध के बादशाहों को ताज पहना दिया, मगर देशी समाज ने उस को स्वीकार नहीं किया और अपने बादशाहों की वेशभूषा वही रखी जो पुरानी थी और उसी नमूने का बादशाह अपने नौशाहों को बनाते हैं। दुलहा के पीछे पीनसों और डोलियों में सवार दुलहा की मां नहीं अ र रिश्तेदार औरतें और डोमनियां होती हैं। चलते वक़्त घर में जो सैकड़ों र में और टोटके होते हैं, बहुत हैं और बेहूदा होने की वजह से ज़्यादातर ध्य न देने योग्य भी नहीं हैं।

इस शान से जब बरात दुलहन के घर पहुंचती है तो आमतौर पर उस वक़्त दुलहन नहलायी जा चुकती है और उसके नहाने का पानी बाहर लाकर दुलहा की सवारी के घोड़े या हाथी के पांव के नीचे डाल दिया जाता है। दुलहन को यह स्नान सात दिन के बासी ठंडे पानी से दिया जाता है जो 'कलस का पानी' कहलाता है और जाड़ों के मौसम में बेचारी दुलहन के लिए उस पानी में नहाना क़यामत से कम नहीं होता। चौकी पर पान बिछाकर वह नहलायी जाती है और यही पान उस इक्कीस पानों वाले बीड़े में शामिल होते हैं जो सबसे पहले सुसराल में खिलाया जाता है।

अब दुलहा सवारी से उतरकर ज़नाने में जाता है। वहां रस्सी बंधाई जाती है और तरह-तरह की बीसियों रस्में अमल में आती हैं जो हर गिरोह और हर खानदान में अलग-अलग और अजीबो-ग़रीब होती हैं। यह वक़्त आम-तौर से वह होता है जब दुलहन नहा तो चुकती है मगर अभी कपड़े नहीं

पहनाये गये होते हैं, वह चादर में लिपटी होती है और उसके हाथ पर मिस्री रखकर दुलहा को खिलायी जाती है जिसमें सालियां, ज़िंदा-दिल औरतें और डोमनियां फंदें बढ़ा-बढ़ाकर दुलहा के लिए हर काम मुश्किल कर देती हैं।

शादी की यह पहली कठिन मंजिल तै करके दुलहा बाहर मैदान में आता है जहां खुशी की महफ़िल जमती है। रिश्तेदार और दोस्त वग़ैरा बढ़िया कपड़े पहने सलीक़े से साफ-सुथरी दरी, चांदनी और क़ालीनों के फ़र्श पर बैठे होते हैं और सामने मर्दानी या ज़नानी नृत्य-मंडली खड़ी मुजरा करती होती है। ठीक महफ़िल के दरम्यान में ऊपर की तरफ दुलहा के लिए सुनहरा मसनद तकिया होता है जिस पर दुलहा को उसके हमउम्र लड़के लाकर बिठा देते हैं और उसके दोनो तरफ खुद बैठ जाते हैं ताकि दुलहा उनके साथ आज़ादी से बातें कर सके।

दूल्हा के लिए लाज़िमी है कि अपनी हर हरकत से शर्मीलापन ज़ाहिर करे। वह न तो बेतकल्लुफ़ बातें कर सकता है, न कोई उसकी आवाज़ सुन सकता है, न किसी से वह बेतकल्लुफ़ी से मिल-जुल सकता हैं, मुंह पर मेहरा होता है और फिर सोने के सेहरे पर फूलों का सेहरा बांधकर इस क़ाबिल नहीं रखा जाता कि कोई बिना कोशिश और देर तक की मेहनत के उसकी सूरत देख सके। खुशी की महफ़िल में बैठने, बल्कि अक्सर निकाह हो जाने के बाद सेहरा उठाकर शमले में लपेट दिया जाता है ताकि चेहरा खुल जाये। मगर अब भी उसके लिए ज़रूरी है कि एक हाथ से मुंह पर रूमाल रखे रहे जिससे उसका शर्मीलापन ज़ाहिर हो। और अब चेहरा खुलने के बाद भी उस रूमाल की वजह से उसकी सूरत देखने के इच्छुकों को देर तक कोशिश किये बिना उसे देखने में कामयाबी नहीं होती।

दुलहा के अगर थोड़ी देर बाहर बैठने के बाद निकाह का इंतिजाम होता है जिसके लिए यह सब बखेड़ा किया गया है। अगर शीआ खानदानों की शादी है तो दो मुज्तहिद (मजहबी पेशवा) साहब आते हैं—एक लड़के के नायब और वकील बनकर और दूसरे लड़की के नायब और वकील बनकर। लड़की वाले खुद पर्दे के पास जाकर या गवाहों से तसदीक़ करके लड़की की शरई मुख्तारी हासिल करते हैं और उसके बाद दोनों दुलहा के सामने बैठकर दुलहा-दुलहन की तरफ से क़िरअत[1] और सही उच्चारण के साथ ईजाब-ओ-क़ुबूल के

[1] क़ुरान की शुद्ध उच्चारण के साथ पढ़ाई।

सीगे[1] अदा करते हैं। और अगर खानदान सुन्नी है तो कोई सम्मानित मौलवी साहब और अगर कोई गांव हुआ तो वहां के मुक़र्रर ख़ानदानी क़ाजी साहब आकर निकाह पढ़ाते हैं जिसका तरीक़ा यह होता है कि लड़की के रिश्तेदारों में से कोई साहब उसके वकील और मुख्तार बन कर आते हैं और वह गवाहों को पेश करते हैं कि फ़लां लड़की ने मुझे अपना वकील इन दोनों गवाहों के सामने मुक़र्रर किया और अपने निकाह का इख्तियार दिया। क़ाजी साहब उन गवाहों पर इत्मीनान करके और मेहर[2] की रकम को उन वकील साहब से पूछ कर दुलहा को शहादत कलमा[3] पढ़ाते हैं। मुसलमान के लिए जिन-जिन चीज़ों पर ईमान लाना जरूरी है उनका अरबी में इकरार कराते और उसके बाद तीन बार उससे यह कहकर कि 'अमुक लड़की के साथ इतने मेहर पर हमने तुम्हारा निकाह कर दिया' दुलहा से इक़रार कराते है कि मैंने क़बूल किया। उसके बाद एक दुआ पढ़कर लोगों से कहते हैं, 'मुबारक'। साथ ही मुबारक-सलामत का शोर होता है। नुक्ल और छुहारे जो थालों में भरे सामने रखे होते हैं उनको उपस्थित लोगों में लुटा देते हैं।

मुज्तहिद या मौलवी साहब के आने के वक्त गाना बंद हो जाता है और निकाह के बाद मौलवी साहब चले जाते हैं तो फिर नाच-गाने की महफ़िल गर्म हो जाती है उसके बाद दुलहा फिर अंदर ज़नाने में बुलाया जाता है। औरतों की दुनिया में निकाह की रस्मों और शर्तों को पूरा कराने का यही वक़्त है। ज़नाने में इस मौक़े पर निकाह की रस्मों के अंतर्गत दुलहा के साथ हर तरह का मज़ाक किया जाता है और उसके परेशान करने में कोई कार्रवाई उठा नहीं रखी जाती। इन तमाम रस्मों को संपन्न कराने वाली सालियां और डोमनियां होती हैं। दरअसल कुंवारे नौजवानों के लिए शादी एक रहस्यमय लाज है जिसमें बीसियों ऐसी समस्याएं पेश आती हैं जिनकी वह कल्पना भी नहीं करता। दुलहन ओढ़-लपेटकर एक अचल गठरी की तरह उसके सामने ला कर रख दी जाती है। अभी

[1] निकाह के समय दुलहा-दुलहन का एक-दूसरे को स्वीकार करना।

[2] वह रक़म जो निकाह के समय दुलहा की ओर से दुलहन को दी जाने के लिए निश्चित होती है।

[3] वह कलमा जिसमें खुदा के माबूद (सृष्टा) और रसूल के पैग़ंबर होने की गवाही दी जाती है।

तक उसे रुख़्सती विदा का जोड़ा नही पहनाया गया होता। लाते वक्त कोशिश की जाती है कि पहली ग्रामद में दुलहन की एक लात दुलहा के पड़ जाये। फिर टोने गाये जाते हैं, दुलहा से बीवी की ग़ुलामी, सबसे निकृष्ट गुलामी और ख़ुदा जाने कैसी-कैसी सेवाएं कराने का इक़रार कराया जाता है और वादा लिया जाता है। उसके बाद ग्रारसी मुसहफ़ की रस्म ग्रदा होती है जिसके लिए दुलहा-दुलहन के लिए रहल पर कुरान शरीफ़ और उस पर ग्राइना रखा जाता है और उस ग्राइने में दुलहा को दुलहन का पहला जलवा दिखाया जाता है। मगर ज़रूरी है कि चेहरा देखने से पहले दुलहा, सूरः-ए-इखलास[1] पढ़ ले। इस जलवे में दुलहन ग्राखें बंद किये रहती है, औरतें दुलहा से ग्रांखें खोलने के लिए तरह-तरह की इल्तजाएं कराती हैं और उसी सिलसिले में हर क़िस्म की ग़ुलामी का उससे इक़रार करा लेती हैं। बड़ी मुश्किलों और ख़ुशामदों के बाद दुलहन ग्रांखें खोलकर एक नजर देखती और फिर ग्रांखें बंद कर लेती है। और इसी पर रस्में खत्म हो जाती हैं।

ग्रब दुलहा बाहर भेज दिया जाता है ताकि दुलहन को कपड़े पहनाए जायें ज़ेवर पहनाया जाये, बनाई-संवारी और सुसराल जाने के लिए तैयार की जाये। उस वक़्त डोमनियां 'बाबुल' यानी विदाई का हृदय-विदारक गीत गाती हैं और ख़ुशी का घर मातमकदा बन जाता है। जब दुलहन बना-संवारकर तैयार कर दी जाती है उस वक़्त मायके के सभी रिश्तेदार, दोस्त और सब मिलने वाले ग्राते, रो-रोकर दुलहन को विदा करते और जो कुछ दे सकते हैं रुपया-पैसा या ज़ेवर उसे देते हैं।

## [ 45 ]

इसी ग्रर्से में दहेज का सामान निकाला जाता है, उसकी सूची लाकर दुलहा वालों के सामने पेश कर दी जाती है जिसमें तमाम ज़ेवर, जोड़े, बर्तन, पलंग और चौकी और जो कुछ चीजें दी जायें दर्ज होती हैं। तमाम चीज़ें उस सूची से मिला ली जाती हैं और ग्रब दुलहन विदा होने के लिए बिल्कुल तैयार रहती है। उसका लिबास कोई भारी कामदार जोड़ा नहीं होता बल्कि एक सूहे यानी

[1] क़ुरान शरीफ का एक ग्रध्याय विशेष।

टूल पर की तंज़ेब का कुर्ता और सादा रेशमी पायजामा पहने होती है और उसमें भी सादगी का इतना खयाल रहता है कि गोट तक नहीं लगायी जाती और नाड़े का इज़ारबंद पड़ा होता है।

उसका सिंगार करते और कपड़े पहनाते वक़्त डोमनियां 'बाबुल' यानी मायका छोड़ने का राग गाती रहती हैं जो बहुत ही करुण और मर्मभेदी होता है। रंजो-ग़म का एक अजीब समां बंध जाता है, हर शख्स दुखी और संतप्त होता है। तमाम रिश्तेदार, मिलने वाले और खानदान के दोस्त मिल-मिलकर और दुखभरे शब्दों के साथ लड़की को विदा करते हैं। वह खुद बेतहाशा रोती है और पालकी ड्योढ़ी में लगा दी जाती है। उस वक़्त दुलहा फिर अंदर बुलाया जाता है कि आकर अपनी दुलहन को ले जाये। वह आता और दुलहन को अपनी गोद में उठाकर पालकी में बिठा देता है।

विदाई से पहले ज़नाने में दुलहा को सलाम-कराई दी जाती है और तमाम रिश्तेदार, दोस्त, मिलने वाले अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक़ देते हैं। उसी समय बाहर शर्बत पिलाई होती है जिसमें शर्बत का कनस्तर और गिलास सिर्फ रस्म के तौर पर लाया जाता है, पीता कोई नहीं, मगर तमाम लोग शर्बत की थाली में रुपया डालते हैं और इस तरह अंदर-बाहर जो कुछ रुपया सलाम-करायी और शर्बत-पिलाई में जमा होता है दुलहा को दे दिया जाता है।

अब बरात उसी धूम-धाम और उसी शान-शौकत से दुलहा के घर की तरफ वापिस रवाना होती है। वापिसी के इस जलवे में जो चीज़ बढ़ जाती है उसमें सबसे पहले तो दुलहन की पालकी है जो दुलहा के घोड़े के आगे रहती है और बहुत ही प्रमुख होती है। उस पर बड़ा सुंदर छिटका (रंगीन पर्दा) पड़ा होता है, दोनों तरफ कहारियां छिटके को पकड़े हुए साथ रहती हैं इर्द-गिर्द दुलहा के नौकरों या खास-खास लोगों की भीड़ रहती है और दुलहा के बाद फिर और सब साथ वाली औरतों की पालकियां होती हैं।

सबसे प्रमुख चीज़ इस जुलूस में दहेज का सामान होता है। यह सब सामान सारे जुलूस और बाजेवालों के पीछे और दुलहन की पालकी के आगे इस क्रम से जाता है कि तांबे का एक-एक बर्तन एक-एक चंगेर में रखा होता है और एक मज़दूर के हाथ में होता है। चीनी और शीशे के बर्तन किश्तियों में लगे होते हैं। उनके बाद संदूक़ वग़ैरा होते हैं जिनमें दुलहन के जोड़े होते हैं। उसके बाद पलंग होता है जिसमें रेशमी गद्दे, लिहाफ़, तकिये, चादर सब सामान

तैयार मौजूद होता है और बिछौना रेशमी डोरियों से पायों में बंधा होता है और डोरियों के दोनों सिरों पर ख़ास आकार के चांदी के गुफ्फे लटके होते हैं। लड़की को गृहस्थी का सारा सामान दिया जाता है। आईना, कंघी, सिंगार की ज़रूरी चीज़ें तेल, इत्र, और अगर हैसियत हो तो चांदी का पानदान, खासदान, लोटा, कटोरा, और बाज़ और चीज़ें दी जाती हैं। बहरहाल यह सब सामान बाजों और बरात के जुलूस और दुलहा के दरम्यान में रहता है और सबके पीछे डोलियों पर खाने की देगें होती हैं। यह 'बहोड़े का खाना' कहलाता है जिसको आमतौर पर लड़की वाले दुलहा को देते हैं।

इस शान से जब बरात दुलहा के घर पहुंचती है तो खुशी के बाजे बजते हैं। डोमनियां पहले से पहुंच कर बनड़े गाना शुरू करती हैं जो खास शादी के गीत हैं। इस मुबारक़-सलामत के ज़ोर-शोर में दुलहन उतारी जाती है। बाज खानदानों में यहां भी उसे दुलहा गोद में लेकर उतारता है और बाज़ घरानों में दुलहा की मां-बहिनें आकर उतारती हैं, उसे अंदर ले जाकर बिठाते ही दुलहा से उसके दामन पर नमाजे शुक्राना[1] पढ़ायी जाती है। दुलहन के पांव धुलाकर पानी मकान के चारों कोनों में डाल दिया जाता है, मुंह-दिखाई होती है जिसमें तमाम औरतें और मर्द कुटुंबी दिल खोल-खोल कर रुपया या ज़ेवर देते हैं और मुंह खोल-खोल कर उसकी सूरत देखते हैं।

उस नये घर में यह पहली रात दुलहन के लिए सख्त पाबंदियों और शर्मीलेपन से बसर करने की रात होती है। न वह किसी से बोल सकती है, न बातें कर सकती न किसी को आंख भरके देख सकती है। सिवाय मायके की साथवालियों के और किसी से कुछ नहीं कह सकती और इसी मुसीबत से बचाने के लिए सुबह होते ही उसका भाई या और कोई रिश्तेदार चौथी लेने को आ पहुंचता है और जहां तक बनता है कि सबेरे ही सवार करा ले जाता है। इस बार भी दुलहन अगर्चे शान से जाती है मगर जुलूस और बाजे की ज़रूरत नहीं। दुलहा भी दुलहन के साथ जाता है और उसके साथ सात तरह की तरकारियां और सात क़िस्म की मिठाइयां जाती हैं।

दिन गुज़ार कर उसी रात को दुलहन के घर में चौथी खेली जाती है। दुलहन को वह वर का जोड़ा उतार कर चढ़ावे का जोड़ा पहनाया जाता है जो सब जोड़ों में ज़्यादा भारी कामदार और बहुत ही पुरतकल्लुफ़ होता है। यह

[1] खुदा का आभार प्रकट करने के लिए पढ़ी जाने वाली नमाज।

जोड़ा पहनाकर उसका खूब बनाव-चुनाव किया जाता है। दुलहा की तरफ से उसकी बहनें और रिश्तेदार औरतें भी आ जाती हैं और उस भीड़ में दुलहा-दुलहन मिठाई से और दुलहा की साथवालियां और दुलहनवालियां तरकारी और फूलों की छड़ियों से आपस में लड़ती हैं—यानी मिठाइयां और तरकारियां एक दूसरे के खेंचकर मारती और छड़ियों के हाथ रसीद करती हैं। कभी दिल्लगी-दिल्लगी में लड़ाई तेज़ भी हो जाती है और बाज़ औरतें मामूली-सी चोट भी खा जाती हैं।

चौथी के दो-चार रोज़ बाद फिर दुलहन दुलहा के घर में जाती है और उसके बाद आमतौर पर चार चाले हुआ करते हैं। चाले का शब्द चाल और चलने से निकला है। मतलब यह है कि दुलहन अपनी सुसराल बुलायी जाती है, मगर यह बुलाना खुद उसके मायके में नहीं बल्कि मायके वालों में होता है। यानी उसकी ख़ालाएं (मौसी) फूफियां (बूआ) मामियां, हिम्मत करके बारी-बारी उसे अपने यहां बुलाती हैं जहां वह दुलहा के साथ जाती है। और उस नये जोड़े के रख-रखाव के लिए ख़ास इंतिजाम किया जाता है। सिर्फ एक रात और दिन दुलहा-दुलहन मेहमान रहते हैं और उन्हें विदा करते समय उन्हें जोड़ा, सलाम-कराई और ज़ेवर वग़ैरा अपनी-अपनी हिम्मत और हैसियत के मुताबिक दिये जाते हैं।

यह थी लखनऊवालों की शादी जिसकी बहुत-सी रस्मों को छोड़कर उसका एक संक्षिप्त ख़ाका 'दिल गुदाज़' के पाठकों के सामने पेश किया गया। देहातवालों की शादी का तरीक़ा निकाह के अलावा और तमाम बातों में बदला हुआ है। वहां भी मांझा होता है मगर दुलहा के लिए मांझेका पीला जोड़ा उसकी बहिनें और रिश्तेदार औरतें लाती हैं। दुलहन के घर से धूमधाम और जुलूस और बाजे के साथ मांझा नहीं आता। दुलहा के यहां से सांचक आती है और न दुलहन के घर से मेंहदी जाती है बल्कि सांचक और मेंहदी का मक़सद बरात ही के दिन एक और तरीके से पूरा हो जाता है। वह यह कि बरात जब दुलहन के वहां पहुंचती है तो उसके मकान से ज़रा फ़ासले पर ठहर जाती है। वहां से पहले बजाये सांचक के बरी के नाम से दुलहन का जोड़ा और उसके साथ बहुत से जोड़े और सुहाग की चीज़ें जो ज़रूरी समझी जाती हैं—कुछ शक्कर कुछ खीलें—ख्वानों पर लगाकर बाजे के साथ दुलहन के दरवाज़े पर भेजी जाती हैं। दुलहा के रिश्तेदार और दोस्त साथ

जाते हैं जो उन सब चीज़ों को दुलहनवालों को खुलेग्राम दिखाते ग्रौर उनके सुपुर्द करते हैं ग्रौर शर्बत पीने के बाद वापिस ग्राते हैं।

उसके थोड़ी देर बाद इसी तरीके से दुलहन की तरफ से बरी ग्राती है जिसमें दुलहा का जोड़ा होता है। यह बरी देहातियों में मेंहदी की जगह होती है। उसके बाद वह जोड़ा पहन कर जिसमें जामा, नीमा, पगड़ी,सेहरा, फूलों की बधियां ग्रौर जूता वगैरा होता है, खाना होता है। ग्रब बरात दुलहन के दरवाज़े पर जाती है ग्रौर उस जगह ठहरती है जो निकाह की महफ़िल के लिए नियत किया गया हो। यहां रात भर नाच-गाने की महफ़िल गर्म रहती है, सिवाय उस वक्त के जब काज़ी साहब ग्राकर निकाह पढ़ायें। निकाह का वही तरीक़ा है जो शहरवालों में बयान किया गया। निकाह के बाद लड़कीवाले बरात को खाना देते हैं। शहर में सिवाय बहोड़े के खाने के बरात को खाना देना लाज़िमी नहीं है बल्कि दुलहा खुद खिला-पिला कर ले जाता है। मगर देहात में लड़कीवालों का सबसे ग्रहम फ़र्ज़ बरात को खिलाना है जिसमें ज़रा भी कमी रह जाये तो उनके खयाल में बिरादरी में नाक कट जाती है।

यह खाना पूरा 'तोरा' होता है जिसमें पुलाव, ज़र्दा, क़ोरमा, खमीरी रोटियां, शीरमाल लाज़िमी हैं ग्रौर हर छोटे-बड़े को बिना किसी भेदभाव के पूरा तोरा दिया जाता है। खाना लेते वक्त लड़के वाले बड़ी बेशर्मी से चींवटी-चींवटी के लिए खाना मांगते हैं। घोड़ों ग्रौर बैलों के लिए चारा ज़रूरत से ज़्यादा मांगते हैं ग्रौर लड़कीवालों पर फ़र्ज़ है कि ज़बान से नहीं न निकले। किसी चीज के देने से इंकार किया ग्रौर ग्राबरू खाक में मिल गयी ग्रौर सब किया-धरा बरबाद हो गया।

इसके बाद हम रुख्सती ग्रौर वापिसी का क़रीब-क़रीब वही तरीक़ा है जो शहरवालों में है। हां, एक रिवाज यह भी है कि देहात में बरात के साथ ग्रौरतें नहीं जातीं ग्रौर न दुलहन पर ही बहुत ज़्यादा सख्तियां होती हैं। उसका फ़र्ज़ है कि चौथी में वापस ग्राने की घड़ी तक ससुराल में जिस तरस रख दी जाये रखी रहे। न खाये, न पिये, न पेशाब-पाखाने को जाये, न बोले-चाले, न चेहरे पर से हाथ हटाये ग्रौर न ग्रांखे खोले। इसलिए कि ये बातें 'बेहयाई ग्रौर बेशर्मी में दाखिल हैं ग्रौर इस ग्रंदेशे से कि दुलहन को ससुराल में जाकर पाखाने-पेशाब की ज़रूरत न पेश ग्राये, दो दिन पहले से उसका खाना-पीना

बंद कर दिया जाता है और ज़्यादा मुसीबत यह है कि देहात की दुलहन अक्सर दूसरे गांव में ब्याही जाती है और आने-जाने में दो-दो, तीन-तीन मंज़िलें तै करनी होती हैं। जाहिर है कि ऐसी हालत में दुलहन बेचारी पर कैसी सख्त मुसीबतें गुज़रती होंगी।

देहात में सांचक और मेंहदी के छूट जाने और बरात खिलाने में सख्तियां होने की वजह से शायद यह है कि ज़्यादातर बरात सफ़र करके एक बस्ती से दूसरी बस्ती में जाती है जिसकी वजह से यह मुमकिन नहीं होता कि एक दिन एक जुलूस यहां से जाये और दूसरे दिंन दूसरा जुलूस वहां से यहां आये और फिर तीसरे रोज़ बरात रवाना हो। ठीक इसी तरह बरातियों को गो कि दुलहा अक्सर अपने घर से खिला कर ले जाता है, मगर लड़की वाले के घर पहुंचते-पहुंचते सारे बराती भूखे बंगाली होते हैं। और कंगलों की-सी शान दिखाने लगते हैं।

## [ 46 ]

खुशी की रस्मों का हम ज़रूरत के अनुसार बयान कर चुके, अब ग़मी की महफ़िलों का बयान कर देना भी ज़रूरी है। मगर ये सारे हिंदुस्तान में आम हैं। जहां तक मैंने ग़ौर किया उनमें लखनऊ की कोई विशेषता नज़र नहीं आती। ग़मी किसी के मरने के कारण होती है, लिहाज़ा मरने के दिन दोस्तों और रिश्तेदारों को खबर कर दी जाती है और जिन लोगों को मजबूरी नहीं होती ज़रूर आते हैं। औरतें जो आती हैं अपनी डोली या सवारी का किराया आप देती हैं। शादी के उत्सवों में और आम क़िस्म के आने-जाने में लाज़िम है कि आनेवाली महमानों का किराया दिया जाये, मगर ग़मी का घर इस नियम का अपवाद है।

उसके बाद मुर्दे को नहलाते हैं। शीओं के यहां नियम है कि नहलाने के लिए जनाज़ा पहले ग़ुस्लख़ाने में ले जाया जाता है जहां नहलानेवाले मुर्दे को ग़ुस्ल देकर कफ़न पहनाते हैं। मगर सुन्नियों के यहां मुर्दा अपने घर ही में नहलाया जाता है और खुद रिश्तेदार या दोस्त नहलाते हैं। अक्सर मर्द और औरतें जो ज़्यादा माहिर हों बुलाये जाते है और अक्सर जगह यह होता है

कि काई शरीअतदां मौलवी साहब या और कोई पढ़े-लिखे वाक़िफ़कार बुज़ुर्ग बताते जाते हैं कि इस क्रम से नहलाना चाहिए और मैयत को जो ग़ुस्ल कराया गया है वह सुन्नत के अनुसार है।

ग़ुस्ल के बाद कफ़न पहनाया जाता है जिसमें एक इज़ार, एक कफ़नी, जो कुर्ते के नाम से मशहूर है, पहनाकर ऊपर से दो चादरें लपेट दी जाती हैं और सिर और पांव के पास और कमर में कपड़े की चिटें फाड़ कर बांध दी जाती हैं ताकि खुलने न पायें।

उसके बाद अगर शीओं का जनाज़ा है तो संदूक़ में रखकर उस पर कोई दुशाला डालकर जनाज़े को शामियाने के साये में ले जाते हैं और साथ-साथ कोई शख़्स सही उच्चारण के साथ सूरः-ए-रहमान[1] की बाज़ आयतें पढ़ता जाता है। संदूक़ उठानेवाले आमतौर से 'शुहदे' होते है जिनका बहुत मुद्दत से मुर्दे उठाना पेशा हो गया है। मगर इन लोगों की बेहूदगियों और बद-तमीजियों से शीओं में ख़्याल पैदा हुआ है कि जनाज़ों को ख़ुद उठाना चाहिए जिसके लिए शहर में अनेक कमेटियां क़ायम हो गयी है और उनके जोशीले और मज़हबी मेंबर तलाश में रहते हैं कि कोई मर जाये तो उसके जनाज़े को ख़ुद अपने इख़्तियार में लेकर मज़हबी नियमों के अनुसार और सावधानी के साथ उठायें।

सुन्नियों में मैयत को किसी हल्की चारपाई पर लिटाकर और ऊपर से चादर डालकर ले जाते है। अगर औरत का जनाज़ा हो तो चारपाई पर बांस की खपाचों को धनुषाकार लगाकर और उनके सिरों को दोनों ओर चारपाई में अटकाकर ऊपर से चादर डाल देते हैं। इसको 'गहवारा' बनाना कहते हैं और इसकी ज़रूरत सिर्फ पर्दे के ख़्याल से पैदा हुई है। सुन्नियों में जनाज़े को ख़ुद रिश्तेदार और दोस्त अपने कंधों पर उठाकर आहिस्ता-आहिस्ता कलमा पढ़ते हुए ले जाते हैं और जनाज़े की नमाज़ पढ़ायी जाती है।

यहां आमतौर पर क़ब्र संदूक़ी खोदी जाती है जिसमें इंसान के सीने तक एक चौड़ा हौज़ खोदा जाता है फिर उसके अंदर दोनों तरफ किनारे छोड़कर एक-दूसरा पतला हौज़ खोदा जाता है, वह भी इंसान की कमर से कम गहरा नहीं रहता। जब क़ब्र खूब साफ कर ली जाती है तो मुर्दे को उसमें बड़ी सावधानी से उतारते हैं ताकि हाथ से गिरने और चोट खाने न पाये। क़ब्र

[1] क़ुरान का एक अध्याय जिसमें ख़ुदा से रहम की दुआ मांगी जाती है।

में आमतौर से सिरहाना उत्तर की ओर रखा जाता है और मुर्दे का मुंह ढेलों वग़ैरा की आड़ें लगाकर क़िब्ले (पूर्व) की तरफ कर दिया जाता है। उसके बाद बंद खोल देते हैं और रिश्तेदारों को मुंह खोलकर मैयत की आखिरी सूरत भी दिखा दिया करते हैं। इस मौक़े पर शीओं के वहां तिलक़ीन[1] पढ़ी जाती है जिसकी सूरत यह है कि कोई सदाचारी और संयमी बुज़ुर्ग क़ब्र में उतरकर मैयत का कंधा हिलाते जाते हैं और एक अरबी इबारत पढ़ते जाते हैं जिसमें मैयत को संबोधन करके बताया जाता है कि वहां नकीरैन[2] आकर सवाल करें तो तुम ये जवाब देना। उसके बाद अंदरूनी हौज़ पर तख़्ते जमा दिये जाते है और अगर उनमें दराज़ या झिरी हो तो मिट्टी के ढेले रख-रखकर इत्मीनान कर लेते हैं कि मिट्टी अंदर न जायेगी। क़ब्र में काफ़ूर और खुशबू तो कफ़न ही में मौजूद होती है, बाज़ लोग केवड़े की बोतलें भी डाल देते हैं और उसके बाद ऊपर से मिट्टी डालकर क़ब्र का ऊपरवाला हौज़ भर दिया जाता है और क़ब्र की सूरत बना दी जाती है।

मिट्टी देने को लोग बड़ा अहम और ज़रूरी काम समझते हैं और जब क़ब्र में मिट्टी डाली जाने लगती है तो वहां मौजूद लोगों में से हर शख़्स तीन बार हाथ में मिट्टी लेकर क़ब्र में डालता है और क़ुरान की तीन आयतें पढ़ता है जिनका तर्जुमा यह है : 'हमने तुमको इससे (मिट्टी से) पैदा किया, हमने तुमको फिर इसी में पहुंचा दिया और हम फिर आइंदा (क़यामत के दिन) तुमको इससे निकाल कर खड़ा करेंगे।'

बहरहाल जब क़ब्र बनकर तैयार हो जाती है तो उस पर वही चादर जो जनाज़े पर पड़ी थी या फूलों की चादर डाल दी जाती है और फ़ातिहा पढ़कर और मरनेवाले की मुक्ति की दुआ करके लोग वापिस आते हैं।

मरनेवाले के घर में उसकी मौत के दिन चूल्हा नहीं जलता बलिक जनाज़े के घर से निकलने के बाद रिश्तेदारों के घर से पका-पकाया खाना आ जाता है जिसको लोग दफ़न से वापिस आकर खाते हैं और उसी समय तमाम मेहमान उस खाने से पेट भरते हैं। तीन दिन तक रोज़ाना यही होता है कि घर में खाना नहीं पकता। यह तरीक़ा असल में इस्लाम के शुरू में और खुद हज़रत

[1] सदुपदेश।

[2] वे दो फ़रिश्ते जो मरने वाले से क़ब्र में सवाल-जवाब करते हैं—मुन्कर और नकीर।

मुहम्मद साहब से शुरू हुआ जबकि हज़रत जाफ़रे-तैयार की शहादत का हाल सुनकर और उनके घर वालों को रोता-पीटता देखकर आपने खाना भिजवा दिया था। लोगों ने इस बुनियाद पर जो इमारत यहां बना ली है वह बहुत बेकार और शर्मनाक है। किसी के मरते ही घर में जितना खाना तैयार हो फेंक दिया जाता है, घड़ों-मटकों का पानी बहा दिया जाता है और उसका कारण औरतें बच्चों को यह बताती हैं कि मौत का फ़रिश्ता जिस छुरी से जान लेता है उसे खाने-पीने की चीज़ों में धो डालता है।

मरने के तीसरे दिन और कभी मुनासिब दिन देखकर चौथे रोज़ सोम[1] होता है। दरअसल इसकी शुरूआत इससे हुई कि यह दिन इसलिए मुक़र्रर था कि लोग आकर अपनी समवेदनाएं प्रकट करें और सांत्वना दें। मगर यह ख़्याल करके कि आने वालों की भीड़ का ख़ाली बैठा रहना अच्छा नहीं मालूम होता, यह तरीक़ा अपनाया गया कि जो लोग आयें बैठकर क़ुरान मजीद पढ़ें और दो-एक पारे[2] पढ़कर उनका सवाब[3] मरहूम की रूह को बख़्शें। चंद रोज़ में मातमपुर्सी का ख़्याल जाता रहा और सिर्फ इतना रह गया कि उस दिन कितने लोग आये और कितने क़ुरान मरनेवालों को बख़्श गये। महफ़िल ख़त्म होते वक़्त पहले बहुत से लोग क़ुरान के चंद रुकूअ[4] और आख़िर की छोटी सूरतें[5] पढ़कर फ़ातिहा के लिए हाथ उठाते हैं। इसमें एक नया लेकिन बेकार तरीक़ा यह अपनाया गया कि थोड़ा घिसा हुआ संदल, एक प्याले में तेल और थोड़े फूल लाकर उपस्थित लोगों में से हरेक के सामने पेश किये जाते हैं। हर शख़्स एक फूल उठाकर तेल में डालता है और वह संदल और फूल ले जाकर मरहूम की क़ब्र पर डाल दिये जाते हैं।

उसी दिन शाम को बड़ी फ़ातिहा होती है और घर में पहली बार खाना पकता है। अगर्चे अब ग़रीबी ने हमदर्दी की इस क़द्र कमी कर दी कि मैयत के घर खाना भेजनेवाले बहुत कम रह गये हैं और अक्सर ग़रीब घरवालों को उससे पहले ही खाना पकाने पर मजबूर हो जाना पड़ता है। लेकिन प्रचलित तरीक़ा यही है कि तीजे यानी सोम से पहले बाहर ही के खाने पर बसर हो।

---

[1]मौत के तीसरे दिन होनेवाला संस्कार। [2]हिस्से, खंड। [3]पुण्य, [4]नमाज़ में घुटनों पर हाथ रखकर झुकना। [5]क़ुरान की आयत का एक पैराग्राफ़, या क़ुरान का कोई अध्याय।

सोम और चेहलुम[1] की फ़ातिहों ने लोगों में अजब शान पैदा कर दी है। असलियत तो सिर्फ इतनी है कि जहां तक हो सके ग़रीबों और मोहताजों को खाना खिलाया जाये और उसका सवाब मरनेवाले को पहुंचा दिया जाये। हिंदुस्तान में हिंदुओं में मर्दों की तेरहवीं और बरसी होते देखकर मुसलमानों का जी चाहा कि हम भी इसी तरह के काम नामवरी और धूमधाम से करें। इसी शौक का नतीजा था कि तीजे, दसवें, बीसवें, चेहलुम और देसे[2] के नाम से ग़मी के संस्कार पैदा हो गये जिनमें होता तो सवाब है मगर दिखाने, नाम पैदा करने और बिरादरी को खाना देने की शान से। फिर इस पर क़यामत यह हुई कि आम जनता में यह विश्वास पैदा हो गया कि इन हमारे प्रचलित फ़ातिहों में जो कुछ दिया जाता है वह ख़ुदा के हुक्म से वैसे का वैसा ही मुर्दे को पहुंचा दिया जाता है। इस विश्वास ने फ़ातिहों मे यह शान पैदा कर दी कि मानो मुर्दे की दावत की जाती है। उन खानों का ज़्यादा ख़याल रखा जाता है जो मरनेवाले को पसंद थे। हालांकि ख़ैरात का नियम यह चाहता है कि जिस ग़रीब को खिलाया जाये उसकी पसंद का लिहाज़ रखा जाये ताकि उसके ख़ुश करने से सवाब ज़्यादा मिले।

यही नहीं फ़ातिहों में तो अब यह होता है कि चार-चार पांच जोड़ खाने के निकालकर एक पाक और साफ़ मक़ाम पर क्रम से रख दिये जाते हैं। मिट्टी के सकोरे में पानी भी लाकर रख दिया जाता है इसलिए कि खाने में मुर्दे को पानी पीने की भी ज़रूरत होगी। फिर उसके लिए कपड़ों के नये-नये और यथासंभव बढ़िया और क़ीमती कपड़े, ओढ़ना, बिछौना, जानमाज़, नयी क़लई किये हुए तांबे के बर्तन, लोटा, कटोरा, पतीली वग़ैरा भी खाने के बराबर रख दिये जाते हैं और जब यह सब सामान तैयार हो जाता है तो कोई मुल्ला आकर फ़ातिहा करता है यानी कुरान की चंद खास आयतें और छोटी सूरतें पढ़कर दुआ करता है कि ख़ुदावंद इन चीज़ों का सवाब फ़लां शख़्स को पहुंचे। इस तरीक़े से लोगों को इत्मीनान हो जाता है कि ये चीज़ें मुर्दे को पहुंच गयीं और वे सब खाने और चीज़ें किसी मोहताज या दीनदार मुसलमान के घर पहुंचा दी जाती हैं।

इन चीज़ों से ख़ुद मरहूम के लाभान्वित होने के ख़याल ने दिलों में यहां तक घर कर लिया है कि बाज़ निचले वर्ग की जाहिल औरतें फ़ातिहा की

[1] मौत के चालीस दिन बाद आनेवाला मृतक-संस्कार। [2]बरसी।

चीज़ों के पास बन-संवरकर खुद भी बैठ जाती हैं कि मरहूम शौहर उन खानों ग्रौर कपड़ों से लुत्फ़ उठायेगा तो खुद उनकी खूबसूरती के ग्रानंद से क्यों वंचित रह जाये ।

फ़ातिहों में खाना फ़ातिहा की जरूरत से बहुत ज़्यादा पकवाया जाता है जो ग्रपनी-ग्रपनी सामर्थ्य के ग्रनुसार दोस्तों ग्रौर रिश्तेदारों में जिनसे रिश्ते-दारी है बांटा जाता है ग्रौर तमाम घर के बूर्ज़ों—धोबी, नाई, भंगी वग़ैरा—को दिया जाता है जिन्होंने फ़ातिहा के शानदार संस्कारों के बन जाने के कारण ग्रपने हक़ पैदा कर लिये हैं ।

गो कि हमने ये सब कर्रवाइयां सोम के फ़ातिहा के सिलसिले में बयान कर दी हैं लेकिन उनकी तामील ज़्यादा ग्रच्छी तरह चेहलुम में होती है जो कहने को तो मरने के चालीसवें दिन मगर व्यावहारिक रूप में चालीस से दो चार रोज़ कम के ग्रर्से में हुग्रा करता है ग्रौर हालांकि फ़ातिहे दसवें-बीसवें के भी खास होते हैं ग्रौर हर जुमेरात का दिन खानदान के बुज़ुर्गों के फ़ातिहा के लिए मुक़र्रर हो गया है, मगर ग्रामतौर पर सोम ग्रौर चेहलुम के फ़ातिहे ग्रसाधारण रूप से होते हैं ।

ग़मी की रस्मों की विशेषताएं हमने बयान कर दीं । ग्रब रहा महफ़िलों में उठने-बैठने का तरीक़ा तो वह वही है जो दूसरी रस्मों में बता दिया गया है । ये खुशी ग्रौर ग़मी की वे रस्में थीं जो नैतिक ग्रौर सामाजिक स्तर पर प्रचलित हैं । मज़हब ने जिन महफ़िलों को रिवाज दिया है उनका हम ग्रागे वर्णन करेंगे ।

[ 47 ]

शिष्टाचार में दसवीं चीज मज़हबी महफ़िलें यानी मातमदारी की मजलिसें ग्रौर मौलूद शरीफ़ की महफ़िलें हैं । मजलिसों का ग्राम रिवाज शीग्रों में है ग्रौर मौलूद शरीफ़ का सुन्नियों में, हालांकि दोनों में दोनों संप्रदायों के लोग शरीक होते हैं । कभी तो यह भी होता है कि बाज़ सुन्नी मातम की मजलिस करते हैं ग्रौर शीग्रा लोगों के यहां मौलूद शरीफ़ की महफिल होती है । मगर लखनऊ की खास चीज़ जिसने लखनऊ की सोसाइटी पर ग्रसर डाला वे

मजलिसें हैं। मौलूद की महफ़िलों में कोई खास बात नहीं, जैसी सारे हिंदुस्तान में हुआ करती हैं वैसी ही यहां भी होती हैं, गो इसमें शक नहीं कि बाज़ अमीरों के यहां मौलूद में भी क़रीब-क़रीब वही तहज़ीब और शराफ़त नज़र आती है जो शीओं की शिष्टता के कारण मजलिसों में हुआ करती है।

मातम की मजलिसें बहुत अधिक होती हैं और अगर कोई शख़्स चाहे और पता लगाता रहे तो सालभर बग़ैर मेहनत-मज़दूरी के सिर्फ़ मजलिसों में शरीक होकर अपना पेट पाल सकता है और सिर्फ़ दानी और मज़हबी शीओं की उदारता और दानशीलता पर जी सकता है। मजलिसों की ही बरकत से यहां विभिन्न प्रकार के ज़ाकिर[1] पैदा हो गये जो अलग-अलग शैली में सैयद उश्शुहदा अलैहिस्सलाम[2] की मुसीबतों को बयान करके रोते-रुलाते हैं। इनमें सबसे पहले उलमा और मुज्तहिदों का बयान है, उनके बाद हदीसख़्वां[3] हैं जो हदीसों को सुनाकर ऐसे पुरदर्द और मर्मस्पर्शी स्वर में इमाम की विशेषताएं और आले-रसूल[4] की विपत्तियों का वर्णन करते हैं कि सुनने वाले एकदम रोने लगते हैं और कैसा ही संगदिल हो अपने आंसू नहीं रोक सकता। इन्हीं से मिलते-जुलते वाक़िआख़्वां[5] है जो हज़रत इमाम हसन और इमाम हुसैन के जीवन की घटनाओं का वर्णन ऐसे शब्दों और ऐसी आलंकारिक शैली में सुनाते हैं कि जी चाहता है सुनते रहिये और रोते जाइये। वाक़िआख़्वानी ने दर-असल दास्तानगोई को बेमज़ा कर दिया है। उनके बाद मर्सियाख़्वां या तहत-उल-लफ़्ज़ख़्वां[6] हैं जो मर्सियों को शाइराना अंदाज़ से सुनाते हैं। मगर इस सादगी से सुनाने में भी आंख-भौं, और हाथ-पांव के हाव-भाव से घटनाओं की ऐसी सच्ची और पूरी तसवीर खींच देते हैं कि सुनने वालों को अगर रोने से फ़ुर्सत मिली तो दाद देने पर मजबूर हो जाते हैं। इसी मर्सियाख़्वानी की ज़रूरत और क़द्र ने मीर 'अनीस' और मिर्ज़ा 'दबीर' पैदा किये। जिनका शाइरों की हैसियत से बहुत ऊंचा नाम है। या तो यह मसल मशहूर थी कि 'बिगड़ा शाइर मर्सियागो' या लखनऊ की कमाल मर्सियागोयी ने सारे हिंदुस्तान से मनवा लिया कि शेरो-सुख़न की दुनियां में मर्सियागोई का रुतबा दूसरे काव्यांगों

[1]हज़रत ईमाम हुसैन की शहादत का वर्णन करने वाला। [2]हज़रत इमाम हसन और इमाम हुसैन। [3]हदीस पढ़ने वाला ; [4]मुहम्मद साहब की संतान (इमाम हसन और इमाम हुसैन)। [5]घटना का वर्णन करने वाला। [6]गद्य की भांति कविता पाठ करने वाला।

से कहीं बढ़कर है। क़द्रदानी ने बीसियों मर्सियागो[1] और सैकड़ों मर्सियाख्वां[2] पैदा कर दिये जो मुहर्रम और मातम के दूसरे दिनों में लखनऊ से निकलकर हिंदुस्तान के दूर-दूराज़ क़स्बों में फैल जाते हैं और वहां की महफ़िलों में अपने कमालों का सिक्का बिठाकर वापिस आते हैं। मर्सियाख्वानों के बाद सोज़ख्वां हैं। ये लोग नौहों और मर्सियों को संगीत के साथ गाकर सुनाते हैं, इनमें सामान्य रूप से तीन आदमियों का गिरोह होता है : दो सुर देते हैं जो बाज़ू कहलाते हैं और तीसरा शख्स जो बीच में बैठता है सोज़ सुनाता है। इन लोगों ने भी संगीत के नियमों का पालन करने और रागों और धुनों के अदा करने में इतनी प्रगति की है कि गवैयों को पीछे डाल दिया और लखनऊ में बहुतसे ऐसे माहिर सोज़ख्वां पैदा हुए कि बड़े-बड़े उस्ताद गवैये उनके आगे कान पकड़ने लगे। बहरहाल जो कमाल मर्सियागोयों ने शाइरी में हासिल किया वही सोज़ख्वानों ने संगीत में हासिल किया।

ये सभी कलाएं मातमी मजलिसों के कारण पैदा हुईं और खास लखनऊ में पैदा हुईं और इन सबने उर्दू साहित्य की प्रगति में तो योगदान दिया ही, उर्दू गद्य-पद्य साहित्य में यह खास शान पैदा कर दी कि मानव भावनाओं को जिस प्रकार चाहें प्रकट करें। और जिस प्रकार की भावना अथवा उत्साह चाहें पैदा कर दें। इस कला का नियमित विकास यूनानियों ने किया था जिन्होंने अपने भाषणों को प्रभावशाली बनाने के लिए पता लगाया था कि किन शब्दों, किन हाव-भावों, किस स्वर और किन आवाज़ों से इंसान के दिल में सुख या दुख या करुणा या प्रकोप के भाव जगाये जा सकते हैं। उसके बाद कभी इस कला की ओर किसी जाति ने ध्यान नहीं दिया, यहां तक कि अब योरुप के आरेटरों और स्पीकरों ने इस कला को दुबारा जीवित करना शुरू किया। मगर लखनऊ में सिर्फ़ ज़ाकिरी की बदौलत इस कला का अपने आप इतना विकास हो गया कि योरुपवाले भी शायद इतने अधिक न बढ़ सके होंगे।

मजलिसों में खत्म के वक़्त शर्बत पिलाना या मिठाई या खाना बांटना ज़रूरी है। मगर सभ्य और धनिक लोगों ने अब यह बहुत ही शिष्ट तरीक़ा अपना लिया है कि जिन साहबान को बुलाना होता है उनके पास निमंत्रणपत्रों के साथ हिस्सा भी भेज दिया जाता है। मजलिस से वापस आते वक़्त हाथ में हिस्सा लेकर चलना बहुत से शिष्ट और खुशहाल लोगों को अशिष्टता और

[1] मर्सिया कहने वाला कवि। [2] मर्सिया पढ़ने वाला।

भद्दापन मालूम होता था हालांकि ग्राम जनता ग्रौर बाज़ारी लोग इसमें कोई बुराई नहीं समझते मगर खुशहाल ग्रौर शिष्ट लोगों को यह बुरा लगता था ग्रौर नौकर साथ न हुग्रा तो बहुत से लोगों को मजबूर होना पड़ता था कि मजलिस ही में किसी दोस्त या ग़रीब ग्रादमी को ग्रपना हिस्सा दे दें।

मजलिस में बैठने का तरीक़ा यह है कि लकड़ी का एक मिंबर (ऊंचा स्थान), जिसमें सात-ग्राठ सीढ़ियां होती हैं, दालान या कमरे की एक तरफ रखा होता है ग्रौर लोग चारों ग्रोर दीवार के साथ फ़र्श पर बैठते हैं ग्रौर ग्रगर लोग ज़्यादा हुए तो बीच की जगह भी भर जाती है। जब काफ़ी ग्रादमी जमा हो जाते हैं तो ज़ाकिर साहब मिंबर पर ग्राकर बैठते हैं ग्रौर पहले हाथ उठाकर कहते हैं—'फ़ातिहा'। साथ ही तमाम लोग हाथ उठाकर चुपके-चुपके सूरः-ए-फ़ातिहा पढ़ लेते हैं। उसके बाद वह ग्रगर हदीसख्वां हुए या वाकिग्रा-ख्वां तो किताब खोलकर बयान करना शुरू कर देते हैं ग्रौर ग्रगर मर्सियाख्वां हुए तो मर्सिये के पन्ने हाथ में लेकर मर्सिया सुनाने लगते हैं। मुज्तहिदों ग्रौर हदीसख्वानों के बयान को लोग खामोशी ग्रौर ग्रदब से सुनते ग्रौर रोने के मौक़ों पर बिलख-बिलख कर रोते हैं। मगर मर्सियों के सुनते वक़्त श्रोताग्रों से सिर्फ उन पदों के ग्रलावा, जिन्हें सुनकर रोना ग्राता है, बराबर प्रशंसा की ग्रावाज़ें ग्राती रहती हैं।

सोज़ख्वां मिंबर पर नहीं बैठते बल्कि लोगों के बीच में एक तरफ बैठकर नौहे ग्रौर मर्सिए सुनाते हैं ग्रौर ग्रक्सर दाद भी पाते हैं।

ग्रधिकतर मजलिसों में विभिन्न ज़ाकिर एक के बाद दूसरे पढ़ते हैं ग्रौर ग्रामतौर से हदीसख्वानी के बाद मर्सियाख्वानी ग्रौर उसके बाद सोज़ख्वानी होती है। सोज़ख्वानी चूंकि ग्रसल में गाना है इसलिए उसका रिवाज ग्रगर्चे लखनऊ ही में नहीं, सारे हिंदुस्तान में बहुत ज़्यादा हो गया है, मगर मुज्त-हिद लोगों ग्रौर मज़हब के पाबंद बुज़ुर्गों की मजलिसों में सोज़ख्वानी नहीं होती। मुज्तहिदों की मजलिसों में मज़हबी बातों की पाबंदी का बहुत खयाल रहता है। ख़ासतौर से यहां ग़फ़रानमग्राब के इमामबाड़े में मुहर्रम की नवीं तारीख को जो मजलिस होती है उसकी खास शान है। उसकी शिरकत के शौक़ में लोग दूर-दूर से ग्राते हैं। उसमें किये गये वर्णन के समय ऊंट श्रोताग्रों के सामने लाये जाते हैं जिन पर कजावे या महमिलें होती हैं ग्रौर उन पर काला कपड़ा पड़ा होता है ग्रौर मोमिनों को यह दृश्य नज़र ग्रा जाता है कि

कर्बला के मैदान में अहले-बैत[1] का लोटा और नष्ट काफ़िला किस मज़लूमी और तबाही का शिकार होकर शाम (सीरिया) की तरफ चला जाता था। दर्शकों पर इस करुण दृश्य का ऐसा असर पड़ता है कि हज़ारों लोगों में से दस-बीस को ग़श ज़रूर आ जाता है जो बड़ी मुश्किल से उठाकर अपने घरों को पहुंचाये जाते हैं।

मुज्तहिदों के खानदान से मजलिसों में यह जो ड्रामेटिक शान पैदा हुई उसका नतीजा यह निकला कि अक्सर मज़हबी अमीर उसमें नवीनताएं पैदा करने लगे और बाज बुज़ुर्गों ने तो यहां तक तरक़्क़ी की कि मजलिसों को बिल्कुल ड्रामा बना दिया। चुनांचे मौलवी मेंहदी हुसैन साहब के यहां मजलिसों में वक़्तन-बवक़्तन थ्येटर के ऐसे पर्दे खुलते जिनके जरिये से कर्बला की घटनाओं के करुण दृश्य प्रस्तुत किये जाते और दर्शकों को रोना आ जाता। इससे भी ज़्यादा तरक्की उनकी ज़नानी मजलिसों में होती जिनमें शहर की हज़ारों औरतें इकट्ठी हो जातीं और बजाये इसके कि ज़ाकिर हदीसख्वानी करें स्टेज पर कर्बला के सीन जिंदा ऐक्टरों और ऐक्ट्रेसों के जरिये से दिखाये जाते।

जहां तक मुझे मालूम है आलिमों और मुज्तहिदों ने बिदआतों[2] को पसंद नहीं किया। मगर आम जनता की दिलचस्पी इनमें रोज-बरोज बढ़ती ही जाती है। इसके अलावा मुहर्रम की दसवीं तारीख से ग़फ़रानमआब ही के इमामबाड़े में एक और मजलिस होती है, उसे 'शामे गरीबां'[3] नाम से याद किया जाता है। होता यह है कि अशरे (दसवें) के दिन ताज़िये वग़ैरा दफ़नाने के बाद शीआ हज़रत उस इमामबाड़े में जमा होते हैं, दिन भर धूप की सख़्ती, मातम और मर्सियख्वानी के कारण हर शख़्स की अजीब हालत होती है—बाल बिखरे हुए, चेहरे और कपड़ों वग़ैरा पर गर्द-ग़ुबार। गरज ईम स्थिति में सब वहां एकत्र होते हैं। फिर उसी तरह मिंबर पर एक मुज्तहिद साहब आकर कर्बला की घटनाओं पर विस्तृत प्रकाश डालते हैं। घटनाओं के वर्णन में सबसे ज्यादा ज़ोर दृश्यचित्रण पर दिया जाता है जो इतना प्रभावशाली, दुखद और करुण होता है कि हठात रोना आ जाता है। श्रोताओं में से कोई भी ऐसा नहीं होता

[1]हज़रत इमाम हसन और हुसैन।

[2]इस्लाम धर्म में वह बात जिसे मुहम्मद साहब की स्वीकृति प्राप्त न रही हो या जो उस समय न होती हो।

[3]परदेसियों की शाम।

जिसके होंठ हिल न रहे हों और आंखें आंसू न बहा रही हों।

इस मजलिस की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि इसमें न तो फ़र्श बिछाया जाता है और न ही रौशनी की जाती है। इन चीज़ों से मजलिस का वातावरण बड़ा गंभीर और करुण हो जाता है। इस द्रष्टि से यह मजलिस सही अर्थ में 'शामे-ग़रीबां' ही होती है।

असल बात यह है कि शीओं की मजलिसों ने लखनऊ के समाज पर बहुत स्पष्ट प्रभाव डाला है और उनके ज़रिये से शिष्टाचार और तहज़ीब की बहुत ज़्यादा तरक़्क़ी हो गयी है और मर्सियों के शौक़ ने शाइरी और संगीत को ज़िंदा ही नहीं कर दिया बल्कि इन दोनों के प्रति सच्ची और सुथरी रुचि पुरुषों से निकलकर पर्दानशीन महिलाओं तक में पैदा कर दी और मैं समझता हूं कि यह चीज़ योरुप के अलावा, जहां नाच-गाना लड़कियों की शिक्षा का एक अंग है, एशिया के किसी शहर में न पैदा हो सकी होगी।

मजलिसों के अलावा एक और तरह की महफ़िलें भी शीओं में होती हैं जो 'सोहबत' के नाम से याद की जाती हैं। उनका ज़माना ईद के दिन से शुरू होकर चंद रोज़ तक बाक़ी रहता है। मातम की मजलिसें जिस तरह-अहले-बैत की मुसीबतों पर रोने और आंसू बहाने के लिए हैं उसी तरह से सोहबतें इस ग़रज़ से की जाती हैं कि नाटकीय ढंग से अहले-बैत के दुश्मनों की तौहीन की जाये और उन्हें अनगिनत गालियां दी जायें और चूंकि शीओं के खयाल में अहले-बैत के सबसे बड़े दुश्मन उम्मुलमोमिनीन आइशा सिद्दीक़ा और हज़रत उमर फ़ारूक़ थे इसलिए इन्हीं दोनों संमानित नामों का अपमान और अनादर करना, उनके पुतले बनाकर नफ़रत के साथ जलाना इन सोहबतों का असली मक़्सद हो गया है इनमें किसी सुन्नी के जाने की कोई वजह नहीं है इसलिए कि वे अपने पेशवाओं की तौहीन गवारा नहीं कर सकते। मगर सुना जाता है कि ये बहुत ही बदतहज़ीबी और अश्लीलता की शर्मनाक महफिलें होती हैं जिनमें इस हद तक गिरावट आ जाती है कि कोई सभ्य शीआ भी बिना हार्दिक पीडा अनुभव किये वापिस नहीं आ सकता। इन सोहबतों ने भी शीओं की रुचि पर बड़ा असर डाला है और उसी असर का नताजा है कि ज़रा-ज़रा-सी बातों पर सुन्नी-शीओं में लड़ाइयां हो जाती हैं।

शीओं की इन मजलिसों और सोहबतों के बाद सुन्नियों की मौलूद शरीफ़ की मजलिसें है। उनका आयोजन उसी प्रकार होता है जैसा कि मजलिसों

का है मगर फ़र्क़ यह है कि सुन्नियों के यहां मिबर नहीं होता, बल्कि एक प्रमुख स्थान पर कोई चौकी बिछा दी जाती है, उस पर साफ़-सुथरा फ़र्श बिछा दिया जाता है और उस पर बैठकर वाइज[1] या मौलूदख्वां[2] साहब मौलूद सुनाते हैं। पहला तरीक़ा यह था कि कोई मौलवी साहब हज़रत मुहम्मद साहब के जन्म का वर्णन करते हैं और उनके जन्म के वर्णन के समय सब लोग खड़े हो जाते, मौलूदख्वां साहब जन्म की खुशी में कोई कविता पढ़ते और लोगों पर गुलाबपाश से केवड़ा छिड़का जाता या कोई वाइज़ न मिलता तो कोई पढ़ा-लिखा आदमी मौलवी ग़ुलाम एहमद शहीद का मौलूद शरीफ़ पढ़कर सुना देता। मगर जनता के लिए मौलूदख्वानी का यह तरीक़ा संतोषजनक न साबित हुआ और सोज़ख्वानों की देखादेखी ऐसे मौलूदख्वां पैदा हो गये जिनके साथ दो सुर मिलाने वाले होते हैं और उनके बीच में बैठकर वे तरन्नुम के लहज़े में जन्म की घटनाएं वर्णित करते हैं और बीच-बीच में बराबर शेर और क़सीदे गाये जाते हैं जिनमें दोनों बाज़ू उनका साथ देते हैं। मगर सोज़ख्वानों ने संगीत को ज़िंदा कर दिया और मौलूदख्वां गाने वालों ने सच यह है कि संगीत का गला घोटने में कोई कसर उठा नहीं रखी थी।

लेकिन मौलूदख्वांनी के एतबार से लखनऊ की कोई विशेषता नहीं रही, इसलिए की इसी तर्ज से और इसी शान की मौलूदख्वानी सारे हिंदुस्तान के सुन्नियों में जारी है और यही हाल सून्नी-सूफ़ियों की हाल-ओ-क़ाल की सोहबत का है जो हर जगह एक जैसी होती है। मुसलमानों के हिंदुस्तान में आने के समय से ही मजलिसों की बुनियाद पड़ी। मगर इससे सिवाय इसके कि क़व्वालों का एक गिरोह पैदा हो गया जो रुत्बे और संगीतज्ञता में ढाड़ियों और गवैयों से गिरा हुआ समझा जाता है, संगीतकला को कोई विशेष लाभ न पहुंच सका, हालांकि सोजख्वानी ने एक सदी के अंदर ही संगीत पर पूरा अधिकार कर लिया और उसमें यथावश्यक परिवर्तन-परिवर्धन करने लगी।

---

[1] धर्मोपदेशक। [2] हज़रत मुहम्मद साहब के जीवनवृत्त का वर्णन सुनाने वाला।

मजलिसों और महफ़िलों का हाल हम बयान कर चुके, अब ज़रूरत मालूम होती है कि हम गोष्ठी के लिए आवश्यक वस्तुओं का भी सविस्तार वर्णन करें क्योंकि ये वे चीज़ें हैं जिनसे समाज और उसके आचार-व्यवहार का पता चलता है। सभा-समाज में आमंत्रित मेहमानों के लिए एक नहीं अनेक वस्तुएं हैं जिनका हम अवसर आने पर जिक्र करेंगे। मगर फ़िलहाल सबसे ज़्यादा महत्व की चीज़ें हुक़्क़ा, खासदान, लुटिया और उगालदान हैं। ये इतनी ज़रूरी चीज़ें हैं कि रईसों के साथ रहनेवाले नौकरों के पास लाजिमीतौर पर मौजूद रहा करती है। चंद रोज पहले ऊंचे वर्ग के धनिकों के साथ एक नौकर के हाथ में हुक़्क़ा भी रहा करता था। मगर अब यह तरीक़ा छूट गया। हुक़्क़ा दरअसल दिल्ली की ईजाद है और वहीं शाही भिंडीखानों में विभिन्न प्रकार के हुक़्क़े तैयार किये गये थे। लखनऊ ने जो कुछ तरक़्क़ी की वह सबसे पहले पेचवानों, चिलमों और चीजों के आकार-प्रकार के सुधार से संबंधित है। दिल्ली के हुक़्क़े भद्दे और बदशक्ल थे। लखनऊ में वे ही बहुत मुनासिब और ख़ुशनुमा बना दिये गये। फिर तांबे, पीतल, फूल और जस्त के हुक़्क़े के अलावा मिट्टी के हुक़्क़े ऐसे खूबसूरत बन गये जो लोगों को अपनी नफ़ासत और नज़ाकत के लिहाज से बहुत ही पसंद आये और अक्सर लोगों को मिट्टी के नाज़ुक, हल्के, ख़ुशनुमा और सोंधे हुक़्क़ों क़ीमती हुक़्क़ों से ज़्यादा अच्छे मालूम हुए।

हुक़्क़े की शक्ल में सुधार होने के बाद ख़ुद तंबाकू में अजीब-अजीब ख़ूबियां पैदा की गयीं। तंबाकू को गुड़ या शीरे में मिलाकर कूट लेना शायद दिल्ली की ही ईजाद है जिसकी वजह से तंबाकू के सुधार में हिंदुस्तान दुनिया के सारे मुल्कों और संसार की सभी जातियों से श्रेष्ठ है। तंबाकू सारी दुनिया में पिया जाता है। चुरुट, सिगरेट और पाइप के लिए तंबाकू में सुधार करने में अगर्चे योरुप ने बहुत अधिक कोशिशें कीं और तरह-तरह की नफ़ासतें पैदा कर दीं, मगर यह तदबीर किसी को न सूझ सकी कि शीरा या गुड़ मिलाकर तंबाकू की कड़वाहट और गला पकड़ने की तासीर मिटाई जाये और धुएं में एक प्रकार का आनंद और ठहराव पैदा किया जाये। उसके बाद लखनऊ

ने यह तरक़्क़ी की कि खमीरा मिलाकर और खुशबूएं शामिल करके तंबाकू जैसी बदबूदार और नागवार चीज़ को इतना सुगंधित और बढ़िया बना लिया गया कि चिलम भरके रखते ही सारा कमरा ख़ुशबू से महक उठता है और जो हुक़्क़ा न पीते हों उनका भी जी चाहने लगता है कि दो-एक कश खेंच लें। हिंदुस्तान के कुछ स्थानों का तंबाकू बहुत अच्छा होता है और उन शहरों के नाम से तंबाकू मशहूर भी हो गया है। मगर वह प्रसिद्धि किसी इंसानी कोशिश का नतीजा नहीं। कोशिश और तदबीर से जो नफ़ासत तंबाकू में लखनऊ ने पैदा की है और किसी शहर को नसीब नहीं हुई। अक्सर शहरों के लोग खमीरे को पसंद नहीं करते या यह शिकायत करते हैं कि उससे नज़ला हो जाता है। मगर यह सब सिर्फ़ इस कारण से है कि उन्हें इसकी आदत नहीं है। यह वैसा ही है जैसा अंग्रेज़ों को क़ोरमा पसंद नहीं है या उसे हज़म नहीं कर सकते। तंबाकू के साथ हुक़्क़े की दूसरी चीजों में भी तरक़्क़ी हुई, चिलमें भी पहले से ज़्यादा नाज़ुक और नफ़ीस और ख़ुशनुमा हो गयीं। चेंबरों[1] में भी तरक़्क़ी हुई, उनमें खूबसूरत तिहरी चांदी की जंजीरें लगाई गयीं, तरह-तरह की मुंहनालें ईजाद हुईं, फिर फूलों के नफ़ीस और दिलकश हुक़्क़े ईजाद हुए। ग़रज़ यहां की सोसाइटी ने हुक़्क़े को संवारा और सजाया और दुलहन बना दिया।

हुक़्क़े के बाद नहीं बल्कि उससे भी ज़्यादा महत्व की चीज़ ख़ासदान है जिसकी बार-बार ज़रूरत पेश आया करती है और बाहर आने-जाने में खिदमतगारों के पास रहता है। ख़ासदान वह चीज़ है जिसमें पानों की गिलौरियां बनाकर रखी जाती हैं। पान हिंदुस्तान की पुरानी चीज़ है। हिंदुओं के जमाने से इसका महत्व रहा है। प्राचीन काल में राजाओं और बादशाहों को जब किसी बड़े अभियान पर जाना पड़ता या कोई जिम्मेदारी का काम लेना होता तो पान का बीड़ा बनाकर सामने रखते और कहते कि कौन इसे उठायेगा? जिसका मतलब यह होता कि 'इस अभियान पर कौन जायेगा? या इस जिम्मेदारी के काम को कौन पूरा करेगा?' शासन-अधिकारियों, सरदारों या दरबार में उपस्थित लोगों में से जो कोई उस बीड़े को उठा लेता वह मानो यह वचन देता कि 'इस काम को मैं हाथ में लेता हूं, या इस अभियान पर मैं जाऊंगा।' यह रस्म तो मिट गयी मगर यह कहावत आज

[1] हुक़्क़े की नली और फ़र्शी की नली के बीच में स्वास्तिक के आकार की चीज़।

तक ज़बानों पर मौजूद है कि 'अमुक व्यक्ति ने इस काम का बीड़ा उठाया है।' यानी उसे अपने जिम्मे लिया है।

पुराने दरबारों में श्रोताओं को इनाम के साथ पान भी दिये जाते थे जिसका ज़िक्र इब्ने बतूता ने अपने सफ़रनामे में किया है जिससे साबित होता है कि पान भारत की ऐतिहासिक चीज़ है। लिहाज़ा चाहिए था कि प्राचीन काल से पानों और पान के सामान में आये दिन तरक़्क़ी होती रहती, मगर हमें बिल्कुल नज़र नहीं आता कि पान जब तक दिल्ली में था उसकी क्या तरक़्क़ी हुई। उसके मसाले के जो तत्व प्राचीन काल से चले आते हैं आख़िर तक वही क़ायम रहे और उनमें भी किसी प्रकार का कोई सुधार नहीं हुआ। इसके मसालों में कत्था, चूना, सुपारी और इलायचियां पुराने ज़माने ही में शामिल हो चुकी थीं। तंबाकू भी लखनऊ में आने से पहले ही इसके तत्वों में शामिल हो चुका था। मगर इसका बिल्कुल पता नहीं लगता कि पुरानी बीसियों सदियों और सैकड़ों पुराने दरबारों और सल्तनतों ने इसे कौन-सी ख़ास तरक़्क़ी दी। लखनऊ में पान का रिवाज दिल्ली की बनिस्बत बहुत ज़्यादा हो गया, इसके लिए ख़ास तरह के बर्तन ईजाद हुए और इसकी तमाम चीज़ों को अलग-अलग तरक़्क़ी दी गयी। पहले तो ख़ुद पानों या उसके पत्तों का सुधार हुआ। हिंदुस्तान के कुछ शहरों जैसे महुए वग़ैरा के पान स्वाभाविक रूप से बहुत अच्छे और उम्दा होते हैं। लखनऊ के आसपास अगर्चे पानों की बहुतायत है मगर उनमें अपनी कोई ख़ास खूबी नहीं होती। मगर यहां के प्रगतिशील धनिकों के प्रयत्नों से तंबोलियों ने औद्योगिक सिद्धांतों पर पानों के व्यापार का विकास किया और उसे इस दर्जे पर पहुंचा दिया कि यहां के पान सब जगह से बढ़ गये। वे पानों को महीनों जमीन में दबाकर रखते हैं यहां तक कि उनका कच्चापन दूर हो जाता है, हरायंध बिल्कुल बाक़ी नहीं रहती है, रगें नर्म और नाज़ुक हो जाती हैं, रंग में सफेदी और पक्कापन आ जाता है। कच्चे पान में जो एक तरह की तेज़ी होती है वह भी जाती रहती है और ऐसा नर्म और नाज़ुक और मज़ेदार हो जाता है कि किसी जगह का पान मज़े में इसकी बराबरी नहीं कर सकता। यही बने हुए पान 'बेगमी' कहलाते हैं जो दूर-दूर के शहरों में जाते और बड़े ही शौक़ और बड़ी क़द्र से लिये जाते हैं।

पान के पत्ते के बाद चूना है। हर जगह और हर शहर में मामूली चूना इस्तेमाल होता है जो अक्सर छना हुआ साफ भी नहीं होता सिवाय इसके चूना

बहुत ही तेज़ और अक्काल चीज़ है। नया-ताज़ा चूना हुआ या ज़्यादा हो गया तो मुंह कट जाता है। इन नुक्सानों से बचने के लिए यहां यह तदबीर की जाती है कि इसे खूब छानकर और साफ करके इसमें थोड़ी-सी मलाई, ताज़े दही का तोड़ छानकर मिला देते हैं। इस तरीक़े से लखनऊ के नफीसमिज़ाज लोगों के पानदानों में ऐसा अच्छा, बढ़िया और नुक्सान न पहुंचाने वाला चूना होता है कि और जगह नहीं मिल सकता।

दूसरी चीज़ पान के मसाले में कत्था है। कत्था अपने आप में बहुत ही बखटी, कड़वी और बदमज़ा चीज़ है, पान में वह सिर्फ चूने को हल्का करने और अच्छा रंग पैदा करने के लिए इस्तेमाल होता है। लेकिन उसका बखटा-पन बहुत नागवार गुज़रता है जो आदत हो जाने से चाहे सह्य हो जाये मगर इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि एक बदमज़ा चीज़ है। कत्थे के बनाने की यह तदबीर तो सब जगह आम है कि छोटे-छोटे टुकड़े करके उसे पानी में पकाते हैं और जब उबलकर वह लाल शर्बत-सा हो जाता है तो कपड़े में छान-कर पानी में रखकर जमा लेते हैं। आमतौर पर सब जगह इतना ही होता है, मगर यहां एक थाल या तवे में राख भरकर उस पर एक कपड़ा डालते हैं और उस कपड़े पर उस जमें हुए कत्थे को रोटी की तरह फैला देते हैं और उस पर बारबार पानी छिड़कते जाते हैं। पानी उसकी सुर्खी को लेकर जिसमें बखटापन होता है, राख में समा जाता है। इस तरह साफ़ करते-करते कत्थे का सिर्फ वह मज़ेदार हिस्सा बाकी रह जाता है जो धोये कपड़े का-सा सफेद और बहुत ही उम्दा होता है। फिर उसमें केवड़े की खुशबू देकर या केवड़े के फूल में रखकर सुखा लेते हैं। अब कुछ और जगहों में भी यही तरकीब अपनाई जाती है। मगर यह ईजाद लखनऊ ही की है और जिस तरह इस पर यहां अमल होता है और कहीं हो भी नहीं सकता। अब इस क़िस्म का कत्था अक्सर व्यापारी लखनऊ में तैयार करके बेचने भी लगे हैं जिनमें से हमारे मेहरबान क़ाज़ी मुहम्मद यूनुस साहब ने जो महमूद नगर, लखनऊ में रहते हैं, बहुत शोहरत हासिल की है। मगर नफ़ासत पसंद अमीरों के घरों में जो सफ़ेद, अच्छा और साफ़ कत्था खुद ही बना लिया जाता है वह ऐसा नफ़ीस होता है कि उसकी नफ़ासत को बाज़ार वालों का तैयार किया हुआ कत्था, चाहे कैसा ही अच्छा हो, नहीं पहुंच सकता। दक्खिन के शहरों पूना वग़ैरा में एक नयी तरह का बना हुआ खुश्क कत्था बाज़ार में

मिलता है जो सूखा ही पान में डाला जाता है। वहां के लोगों को यह कत्था पसंद भी है, मगर हम कोशिश करने के बाद भी उसकी खूबियों को महसूस न कर सके और न समझ सके इसलिए कि देखने में वह किरकिरा भी हुआ करता है और बखटापन उसमें असली बिना बने कत्थे से भी ज़्यादा होता है।

पान के मसालों में तीसरी चीज़ डलियां या सुपारी है जो सरोते से काट कर और छोटे-छोटे टुकड़े करके पान में डाली जाती है। उसका काटना एक मामूली चीज़ था, मगर लखनऊ में सुपारी का काटना भी एक उद्योग बन गया है इसलिए कि अनेक औरतें बाजरे के दानों के बराबर बारीक काटती हैं जिसमें सब दाने बराबर और एक समान होते हैं और फिर इस शर्त के साथ कि चूरा ज़्यादा न निकले और सुपारी का कोई हिस्सा बेकार न जाने पाये।

इलायचियों में किसी सुधार की गुंजाइश अभी तक महसूस नहीं हुई, इसलिए कि जैसी आती हैं वैसी ही इस्तेमाल होती हैं। मगर तकल्लुफ़ात ने इतना ज़रूर किया है कि खास उत्सवों और खास मौक़ों पर उनमें चांदी का वरक़ लगा दिया जाता है और जब खासदान या थाली में रखी जाती हैं तो मालूम होता है कि चांदी के चमकते हुए टुकड़े रखे हैं।

उसके बाद तंबाकू है। तंबाकू का इस्तेमाल धुएं की सूरत में जिस तरह सारी दुनिया में होता है उसी तरह खाने में भी इसका रिवाज बढ़ता जाता है। इंग्लिस्तान में मैंने बहुत से अंग्रेज़ों को देखा जो तंबाकू की सूखी पत्ती मलकर फांक लिया करते हैं। हिंदुस्तान में भी मुद्दत से सूखा तंबाकू खाने का रिवाज चला आता है जिसको दिल्ली में उसके सुनहरे रंग की वजह से जर्दा कहते हैं। पहले सिर्फ बिना बनी या साफ की हुई पत्ती को पान में डालकर खाया करते थे, मगर पुराने ही ज़माने में यह भी रिवाज था कि बहुतसे घरों में तंबाकू की पत्ती में उसके डंठलों को उबालकर और उसके अरक़ में कुछ खुशबूदार मसाले जिनसे उसकी सख्ती कम हो जाये, मिलाकर तंबाकू की कड़वाहट अपनी रुची के अनुसार घटा या बढ़ा दी जाती है और लताफ़त और मज़ेदारी के साथ उसमें एक खुशबू भी पैदा कर दी जाती है। मगर यह तदबीर खास घरों और खानदानों तक सीमित थी। आम लोग तंबाकू की पत्ती ही बिना बनाए खाते थे जो हर पानदान में हुआ करती थी, लेकिन अब बीस बरस हुए मुंशी सैयद एहमद हुसैन साहब ने अपनी ईजाद से एक खास क़िस्म का बना हुआ तंबाकू जिसकी सूरत दरेंदार बारूत की-सी होती है, देश

के सामने पेश किया और वह ऐसा लोकप्रिय हुआ कि चंद ही साल के अंदर बिन बनी पत्ती के खाने का रिवाज क़रीब-क़रीब उठ गया।

[ 49 ]

तंबाकू में पत्ती के सुधार से पहले, जिसका श्रेय हमारे आदरणीय मित्र मुंशी सैयद अहमद हुसैन साहब को है, सुधार की एक और कामयाब कोशिश की गयी। वह यह कि तंबाकू की पत्ती और डंठलों को खूब अच्छी तरह उबालकर उसका सत निकाल लिया जाता है और पकाते-पकाते वह इतना गाढ़ा कर दिया जाता है कि लेई या ताज़ी अफ़ीम की-सी शक्ल हो जाती है। फिर उसमें मुश्क, केवड़ा और बहुत-सी मुनासिब खुशबूएं मिलाकर इतना मज़ेदार और सुगंधित बना दिया जाता है कि पान के साथ रत्ती बराबर क़िवाम[1] खा लीजिए तो तंबाकू का मज़ा आने के साथ मुंह में दिन भर खुशबू आती रहती है। फिर नफ़ासतमिज़ाजी ने इस पर और ज़्यादा तरक़्क़ी की यानी इस किवाम की नन्हीं-नन्हीं गोलियां बनाई जाती हैं और हर गोली एक खुराक की मात्रा में होती है। फिर गोलियों पर चांदी या सोने के वरक़ लपेटकर उनको ऐसा खुशनुमा और दिलकश बना दिया जाता है कि मालूम होता है मोती रखे हुए हैं। क़िवाम और गोलियां मुफ़्तीगंज की एक बेगम साहिबा लाजवाब बनाती थीं! खास लखनऊवालों को उनके हाथ की बनीं हुई गोलियों के सिवा किसी कारखाने की गोलियां पसंद नहीं थीं। मगर उन्हीं के ज़माने में असग़र अली मुहम्मद अली के कारखाने ने उन दोनों चीज़ों को तैयार करके सारे हिंदुस्तान के सामने पेश कर दिया। चंद रोज़ बाद उन बेगम साहिबा का देहांत हो गया। बाद में और बहुत से लोगों और अनेक कारखानों ने उन चीज़ों को अपनी देखरेख में तैयार किया, मगर अभी तक कोई भी असगर अली के कारखाने से बाज़ी नहीं ले जा सका लेकिन क़िवाम और गोली में एक बुराई थी, वह यह कि चाहे खुशबू देर तक ठहर जाये, मगर तंबाकू का मज़ा और उसकी कड़वाहट पहली ही पीक में जाती रहती। इसी बुराई को मिटाने के लिए मुंशी सैयद एहमद हुसैन साहब ने यह

[1] तंबाकू का रस।

नयी बनायी हुई और खुशबूदार पत्ती ईजाद की जिसकी कड़वाहट और खुशबू आखिर तक पान का साथ दिये जाती हैं और इसी खूबी का नतीजा है कि यकायक दुनिया का रुख उस तरफ फिर गया और क़िवाम और गोलियां गो अब भी तैयार की जाती हैं मगर अब उनका प्रचलन कम हो गया है और अगर यही रफ़्तार रही तो उम्मीद है कि थोड़े ही समय में वे बिल्कुल ही मिट जायेंगी।

पान ही से संबंधित लखनऊ में चंद और ईजादें हुईं, मसलन ऐसी इलायचियां ईजाद की गयीं कि एक इलायची खा लीजिये, तो मुंह पान से ज़्यादा सुर्ख़ हो जाये। उनकी तैयारी में अगर्चे पान ही के मसालों से काम लिया जाता है जो रंग मिलाकर इलायची के छिलकों में भर दिए जाते हैं मगर इसके सिवाय कि रंग चोखा आता है वह पान का बदल नहीं हो सकती और किसी के पान खाने का उद्देश्य उन बनावटी इलायचियों से पूरा नहीं हो सकता। इसी तरह एक और किस्म की इलायचियां तैयार की गयीं जिनमें मिस्सी भर दी जाती है और औरतें बजाये इसके कि देर तक बैठकर मिस्सी मलें, इस तरह की एक इलायची पान में डालकर खा लें तो मिस्सी खुद-बखुद लग जाती है और गहरी नीली खूब अच्छी तरह रेखों में जमकर बैठ जाती है। मगर इन दोनों क़िस्म की इलायचियों से वह मक्सद हासिल नहीं हो सका जिसके लिए ईजाद की गयी हैं। मिसाल के तौर पर सुर्ख़ इलायचियां पान का बदल नहीं हो सकतीं और काली इलायचियों में उम्दा सुगंधित मिस्सी की सुगंध नहीं होती इसलिए ये आम लोगों में पसंद नहीं की गईं और आज तक उनसे सिवाय मज़ाक और दिल्लगी के कोई जरूरी काम नहीं लिया जा सकता जो सभा-समाज के काम आ सके।

इसी सिलसिले में हमें चिकनी डली (सुपारी) को भी बयान कर देना चाहिए जो अगर पान का अभिन्न अंग नहीं तो उसके साथ लगी हुई जरूर है। बाज़ लोग मामूली डलियों के बदले इसे पान में खाते हैं और पान में न खाये तो बहुत से लोग इसे अकेली मुंह में रखते है जो इलायची के साथ मिलकर बहुत मज़ा देती है। खासकर हिंदू दोस्त चूंकि मुसलमानों के हाथ की गिलौरी नहीं खा सकते इसलिए उनका आतिथ्य-सत्कार सिर्फ़ चिकनी डली और इलायची ही से होता है। लिहाज़ा वह भी समाज का एक जरूरी सामान बन गयी है।

चिकनी डली दरअसल वही डली है जो पानों में डाली जाती है, मगर

तैयार की हुई और सुधारी हुई। यह लखनऊ या दिल्ली या हैदराबाद या दूसरे उन्नत शहरों में नहीं बनती बल्कि जहां पैदा होती है वहीं से बनी-बनायी आती है। कहा जाता है कि असली डली को दूध में डालकर उबालते और पका लेते हैं। खैर, जिस तरह बनती हो उसमें एक चिपचिपाहट पैदा हो जाती है। खुश्की खत्म होकर चिकनाई आ जाती है और कभी-कभी ज़्यादा डली खा जाने से गले में जो फंदा पड़ जाता है वह खराबी चिकनी डली में बिल्कुल बाकी नहीं रहती और सच यह है कि मामूली डली से कहीं अधिक मज़ेदार और नफीस हो जाती है।

जहां तक मुझे मालूम है चिकनी डली का रिवाज हैदराबाद, दिल्ली और दूसरे शहरों में लखनऊ के मुक़ाबिले में बहुत ज़्यादा है और इन्हीं शहरों के शौक़ीनों का काम था कि इसमें किसी प्रकार का सुधार करते या इसे अपनी रुचि के अनुसार बनाते। मगर ताज्जुब है कि किसी शहर में इस तरफ ध्यान नहीं दिया गया और चिकनी डली का असल गूदा बहुत ही मज़ेदार और नाज़ुक होता है और जो हिस्सा छिलके से मिला रहता है कुछ बखटा रह जाता है। खासतौर से पैंदी की तरफ का हिस्सा बहुत ज़्यादा खराब होता है। इन्हीं खराबियों के मिटाने और खराब हिस्से के निकाल डालने के खयाल से लखनऊ में काट-छांटकर मामूली चिकनी डलियां कई क़िस्म की तैयार होने लगीं। सबसे पहली तो दोरुखी कहलाती है। उसके बनाने की तरकीब यह है कि नीचे-ऊपर से ज़्यादातर हिस्से को और थोड़े-थोड़े किनारों को आसपास से काटकर खुशनुमा और खुशरंग कटोरियां-सी बना दी जाती हैं जिनमें सिर्फ वही नर्म और लतीफ़ गूदा रह जाता है जो चिकनी डली का बेहतरीन हिस्सा है। दूसरे दर्जे की चिकनी डलियां यकरुखी कहलाती हैं। उनमें भी अगर्चे चारों तरफ से थोड़ी-बहुत काट-छांट होती है, मगर नीचे-ऊपर के दोनों खराब हिस्सों में से एक तरफ का ज़्यादातर हिस्सा छोड़ दिया जाता है। तीसरी क़िस्म यह है कि चिकनी डली के गूदे की खुशनुमा अठपहलू ट्रे बना दी जाती है। इस काट-छांट में जो चूरा निकलता है वह अलग से बेच दिया जाता है और दरअसल लखनऊ में वह चिकनी डली की पांचवीं क़िस्म बन गया है। फिर उसकी भी दो-तीन किस्में हो गयी हैं इसलिए कि दोरुखी और यकरुखी डलियों में से दोनों के मज़े और नर्मी में बहुत अधिक फ़र्क़ होता है और उसी वजह से उनकी क़ीमतों में भी ज़मीन-आसमान का फर्क रहा करता है। ग़रज़

यह कि चिकनी डली अगर्चे इतनी ज़्यादा लखनऊवालों के शौक़ की चीज़ नहीं है मगर उसका सुधार भी उन्होंने इतना किया कि दूसरी जगह न हो सकता था।

अब चूंकि पान के मसाले खत्म हो गये लिहाज़ा उसके बर्तनों का भी ज़िक्र कर दिया जाये। पानों का सामान रखने की सबसे महत्व की चीज़ या यों कहिए कि पानों की गिलौरियों में जो विद्युत शक्ति का और प्रेयसी कासा आकर्षण होते हैं उसी की बैटरी पानदान है। पुराने ज़माने में खासकर दिल्ली में पिटारी हुआ करती थी जो गोल, वर्गाकार या अठपहलू हरेक आकार की होती थी और संभवतः दिल्ली ही से हैदराबाद में पिटारीनुमा पानदान गये जिनकी नकल वे टीन और शीशे के वर्गाकार पानदान होते हैं जो हैदराबाद की शादियों मे बड़ी उदारता के साथ चूना, कत्था, डलियां, चिकनी डलियां, इलायचियां, लौंग और पान वग़ैरा रखकर मेहमानों में बांटे जाते है। बहर-हाल पुराने पानदान यही पिटारियां थीं और इन्हीं पिटारियों को साथ लिये हुए दो-डेढ़ सदियों पहले की महिलाएं दिल्ली से लखनऊ आयी थीं। यहां जब तक दिल्ली का अनुकरण होता रहा पिटारियां रही, मगर जिस दिन से लखनऊवालों ने अपने रहन-सहन और भाषा में अपनी रुचि के अनुसार काट-छांट शुरू कर दी उस रोज़ से पानदानों का नक़्शा भी बदलना शुरू हो गया। पहले तो पान रखने के लिए सिर्फ़ तांबे की क़लईदार गोल पिटारियां अपनायी गयी, फिर उनके ढकने में ऊंचाई और गोलाई पैदा होना शुरू हुई। चंद रोज़ में उनकी शक्ल एक चौड़े चांदी के कलश की-सी हो गयी जिस पर चोटी की जगह पकड़ने के लिए एक लंबोतरा कड़ा लगा दिया जाता है। कड़े के दोनों सिरे कुंडों में पहना दिये जाते है, चुनांचे बजाये ऊपर की तरफ़ क़ायम रहने के वह इधर-उधर पड़ा रहता है। इस पानदान के अंदर दो कत्थे-चूने की कुल्हियां होती है जिनकी बनावट बिल्कुल छोटी पतीलियों की-सी होती है। इन्हीं कुल्हियों के सिलसिले में तीन बराबर की डिबियां होती हैं जिनमें से कुछ मे कटी हुई डलिया रखी जाती है। ये तीनों डिबियां और दोनों कुल्हियां बराबर एक हलके में जमी रहती है और उनके बीच में जो जगह छूटती है उसमे एक और छोटी डिबिया रख दी जाती है जिसमें आम-तौर पर इलायचियां या लौंग रखे जाते है। डिबियों के ढकने कसे हुए होते है, खुद-बखुद नहीं खुल सकते बल्कि खुलने मे थोड़ा-बहुत ज़ोर मांगते हैं। मगर कुल्हियों के ढकने थालीनुमा होते है जो उनके मुंह पर रख दिये जाते

हैं। कत्थे-चूने की कुल्हियों में कत्था चूना लगाने की चमचियां होती हैं जिनके सिरों पर कभी तो मोर बना दिया जाता है और कभी सादी रहती हैं। इन कुल्हियों के ऊपर एक बड़ी, पूरे पानदान की, थाली होती है जिसमें पान कपड़े में लपेटकर रख दिये जाते है। पुराने जमाने में एक और पान की शक्ल का अलग ढक्कनदार बर्तन होता था जिसमें पान रखे जाते थे। वह नागरदान कहलाता था। मगर तजुर्बे ने उसे ग़ैरज़रूरी और बेकार साबित किया इसलिए कि उसमें बंद कर देने से हवा न लगती और पान ख़राब हो जाते थे। उसी वजह से नागरदान अगर्चे कुछ पुराने पानदानों में अब भी नज़र आ जाता है मगर दरअसल उसका रिवाज बिल्कुल छूट गया और वह दिन दूर नहीं कि देखने में न आयेगा।

चंद रोज़ में पानदान औरतों को संदूक, खज़ाने और कैश बक्स का काम देने लगा और औरतों के लिए सच यह है कि वह हिंदुस्तान में भानुमती का पिटारा था। इसी कारण उसका आकार बढ़ना शुरु हुआ यहां तक कि दस-दस सेर और बीस-बीस सेर के पानदान बनने लगे और फिर सख्त जरूरी था कि मेहमान जाने में हर जगह वह साथ रहे इसलिए कि पानदान का आकार ही उस व्यक्ति की हैसियत का प्रतीक माना जाता था। जितना बड़ा पानदान होता था उतनी ही बड़ी बेगम साहिब की हैसियत समझी जाती थी। नतीजा यह हुआ कि डोली में सारी जगह पानदान ले लिया करता और बेगम साहिबा को बड़ी मुश्किलों से दबने और सिमटने के बाद बैठने को जगह मिलती। बहरहाल पानदान वज़न और आकार में रोज़-बरोज़ बढ़ते जाते थे कि सहसा रुचि बदली और छोटी चीजों का चलन हो गया और नयी तरह के छोटे ऊंचे गुंबदनुमा और कलशदार पानदान बनाये गये जो पहले तो आरामदान कहलाते थे मगर अब आमतौर से हुस्नदान के नाम से याद किये जाते है। उनमें अंदर तो वही चीज़ें होती है जो पानदान में हैं मगर बाहरी आकृति एक कलशदार सुंदर गुंबद की-सी होती है और बजाये इसके उसी कलश या चोटी को पकड़कर उठाया जाता है। हुस्नदान आमतौर पर पसंद किये गये। लखनऊ में भी और दूसरे शहरों में भी उनकी मांग बढ़ी। लखनऊ में पहले-पहल उनको मर्दों ने इख्तियार किया या उन लोगों ने जो नुमाइश और दिखावे को पसंद नहीं करते हैं। मगर चंद रोज़ में आम हो गया और गो कि पुराने ढंग के पानदान नहीं मिटे मगर अब ज़्यादा रिवाज हुस्नदानों का है और

जिन घरों में पानदान बाक़ी भी हैं तो इतने बड़े नहीं, बल्कि छोटे। अब मुरादाबाद में भी ऐसे ही लखनऊ की तर्ज़ के हुस्नदान बनने लगे हैं। मगर वे ज़्यादा फैले होते हैं और इतने ख़ूबसूरत नहीं होते जैसे कि लखनऊ में बनाये जाते हैं। लखनऊ के हुस्नदानों का मुनासिब आकार ही एक ऐसी चीज़ है जो यहां की विशेषता है। दूसरी जगह के कारीगरों के लिए उस आकार को बनाये रखना लगभग असंभव है।

पानदान के बाद खासदान है। यह वह बर्तन है जिसमें रखकर गिलौरियां महफ़िल या मित्रों की गोष्ठी में लायी जाती हैं। दिल्ली में यह काम एक खुली हुई थाली देती है जिसमें एक तरफ कतरी हुई डलियां रख दी जाती हैं और दूसरी तरफ आधे-आधे पान चूना-कत्था लगाकर और दुहराकर यानी मोड़कर रख दिये जाते हैं। और चूंकि अब भी वहां इसी थाली का रिवाज है इसलिए उम्मीद है कि पहले ज़माने में भी पानों के मेहमानों के सामने लाने का यही तरीक़ा होगा। मगर लखनऊ में कम-से-कम दो पानों की गिलौरियां बनाई जाती हैं जो पहले तो सिंघाड़े के आकार की खूब गढ़ी हुई होती थीं, अब आमतौर से बीड़े होते हैं और उनकी शक्ल ऐसी होती है जैसी कि बोतलों में लगाने के कागज की डाट बनायी जाती है। फिर उनके क़ायम रखने के लिए कीलें लगा दी जाती हैं। पहले लौंग लगा दी जाती थीं, बाद में ज़ंजीरों का एक लच्छा बनाया गया। लच्छे की सूरत यह है कि चांदी की एक छोटी डिबिया या कैरीनुमा इत्रदान में चारों तरफ बहुत-सी जंजीरें लगा दी जाती हैं जिनमें कीलें लगी होती हैं। यह पूरा लच्छा मय पानों के खासदान में रख दिया जाता है, मगर उसे बेकार की तवालत समझकर यह रिवाज हो गया कि गिलौरियों में लोहे की कीलें लगा दी जाया करें। मगर अब सबसे अच्छा तरीका यह ईजाद हुआ है कि गिलौरी के ऊपर पान ही का एक गिलाफ़ चढ़ा दिया जाता है जो उसे खुलने नहीं देता।

बहरहाल इन गिलौरियों के लिए सिर्फ़ थाली मुनासिब न थी। इसीलिए उस थाली पर एक गुंबद या कलशदार ढकना ईजाद किया गया जिसको थाली पकड़ लिया करती। ढकन ने खासदान की सूरत भी छोटे हुस्नदान की-सी कर दी।

पानों की गिलौरियां रखने के लिए अगर्चे ख़ासदान में बहुत तरक़्क़ी की गयी, उसकी ख़ुशनुमाई और दिलफ़रेबी में कोई कसर नहीं उठा रखी गयी। मगर जब यह नज़र आया कि गर्मियों के मौसम में तांबे के कलई किये हुए ख़ासदान गर्म हो जाते हैं और उनमें रखने से पुरतकल्लुफ़ गिलौरियों के सूख जाने के अलावा वे ऐसी गर्म हो जाती हैं कि खाने में बजाये मज़े के तकलीफ़ होती है और मुंह भी खुश्क हो जाता है तो उस मौसम में उनके रखने के लिए मिट्टी की कोरी हांडियां अपनाई गयीं जिनमें पान ठंडे रहते हैं। उनकी ताज़गी और आनंदप्रदता में वृद्धि हो जाती है और उसमें बहुत ही सोंधापन पैदा हो जाता है। ये काग़ज़ी हांडियां लखनऊ में ऐसी हल्की, खुशनुमा और वरक़ की-सी बारीक बनती हैं कि और किसी जगह नहीं बन सकतीं। जब उनको पानी में भिगोकर और उनमें गिलौरियां रखकर सामने लायी जाती हैं तो पान तो बाद में खाया जायेगा उनकी सूरत देखते ही आंखों में ताज़गी आ जाती है।

फिर अमीरों के तकल्लुफ़ ने इस ख़याल से कि उन्हें बार-बार भिगोना मुश्किल है और जब तक पानी में तर न हों उनमें मज़ा नहीं आ सकता, उन पर कपड़ा मढ़ा ताकि कपड़ा उनको तर रखे और मामूली सफ़ेद कपड़ा चूंकि जल्दी से मैला हो जाता है और गिलौरियां रखने की वजह से उसमें जगह-जगह सुर्ख धब्बे पड़ जाते हैं इसलिए बजाये सफेद के उन पर सुर्ख टूल मढ़ा गया जो न जल्दी मैला होता है और न पान के धब्बे उसे बदनुमा कर सकते हैं। ज्यादा सजावट के लिए उन हांडियों में टूल पर बारीक रुपहली गोटे से फांकें-सी दी जाती हैं। इन्हीं चीज़ों ने पान की हांडियों को बना-सवांरकर दुलहन बना दिया।

तांबे के ख़ासदान भी आमतौर से ग़िलाफ़ में बंधे रहते हैं और इस तरह के ग़िलाफ़ों का रिवाज पानदानों और हुस्नदानों के संबंध में भी है जो अपनी हैसियत और दर्जे के मुताबिक़ पुरतकल्लुफ़ बनाये जाते हैं। उनमें सिर्फ़ हिफ़ाज़त ही नहीं सजावट भी अभीष्ट होती है।

ऐसा ही टूल गोटे के साथ सुराहियों पर भी मढ़ा जाता है जिसकी वजह से सुराहियों में पानी खूब ठंडा रहता है और उनकी सूरत

देखते ही बिना प्यास के पानी पी लेने को जी चाहता है।

पान खाने वालों को अक्सर पीक थूकने की ज़रूरत हुआ करती है जिसके लिए बार-बार उठना तकलीफ़ से खाली नहीं और फिर जिन कमरों में पुरतकल्लुफ़ फर्श बिछा हो, थूकने को जगह मुश्किल से और दूर जाकर मिलती है और जगह मिले भी तो पीक के धब्बों से मकान खराब होता है इसलिए पान ही के सिलसिले में एक और बर्तन की ज़रूरत पेश आयी जो थूकने के लिए हो। यह बर्तन उगालदान कहलाता है। उगालदान कोई नयी चीज़ नहीं जिसे लखनऊ की ही विशेषता समझा जाये। पहले उगालदान शायद दिल्ली में ईजाद हुए और वे जैसे-के-तैसे ही लखनऊ में चले आये। उनकी शक्ल यह थी कि नीचे गोल पेंदा, उसके ऊपर एक गोल लट्टू, फिर उसके ऊपर कमल जैसा मुंह। ये उगालदान तांबे, पीतल और जस्त के हर जगह बनने लगे। बीदर में इन पर वहां का बेमिसाल बदरी का काम बना, लखनऊ मैं तांबे पर नक़्क़ाशी का काम बनाया गया, फिर मुरादाबाद में बने और उन पर वहां की नफ़ीस नक़्क़ाशी हुई। लखनऊ में फिर मिट्टी के उगालदान इसी शक्ल के बनने लगे।

मगर उनमें खराबी यह थी कि उनके नीचे का हिस्सा हल्का और ऊपर का ज़्यादा फैलाव की वजह से वज़नी होता था। नतीजा यह हुआ कि अक्सर असावधानी में गिर जाते और फर्श खराब हो जाता। इस बुराई के दूर करने के लिए जयपुर, हैदराबाद और उसके बाद मुरादाबाद में एक दूसरी शक्ल के उगालदान बनने लगे जो शायद दिल्ली की ही ईजाद हों। उनकी आकृति कहारों की-सी हड़क या मदारी की डुगडुगी की-सी होती है और लखनऊ में भी बहुत से लोगों को इस तरह के उगालदान अपनाने पड़े। अगर्चे अभी तक यहां पुराना उगालदान छूटा नहीं और उसी तरह के बड़े-बड़े उगालदान अब भी बनते हैं, मगर बहुत से घरों में इसी नयी बनावट के उगालदान भी मौजूद हैं। सच यह है कि उगालदान की ईजाद और तरक़्क़ी में लखनऊ का कोई योगदान नहीं है हालांकि उनका रिवाज लखनऊ में हिंदुस्तान के तमाम शहरों से ज़्यादा है।

अब एक नयी तरह के बैठे और फैले हुए अंग्रेज़ी उगालदान भी आते हैं जो चीनी और तामचीनी के होते हैं, मगर वे शायद चुरुट पीते समय थूकने के लिए हैं, पान की पीक थूकने के लिए बिल्कुल मुनासिब नहीं हैं।

खासदान के बाद अमीर और खुशहाल लोगों के साथ के सामान में पानी

की लुटिया भी है जो खिदमतगारों के पास रहा करती है। आमतौर पर यह तांबे की औसत दर्जे की सादी या नक्शीं लुटिया हुआ करती है। जिन लोगों को खुदा ने सामर्थ्य दी है और उसके साथ यह भी है कि अमीरी और दौलत-मंदी ने उन्हें शरीअत की पाबंदी से आज़ाद कर दिया है वे चांदी की लुटियां साथ रखते हैं।

लुटिया हिंदुओं के काल की पुरानी चीज़ है जो एक बिना टोंटी का बर्तन होता था, जिसका मुंह पेट से छोटा होता था। और चूंकि कुएं से पानी भरने की अक्सर ज़रूरत पेश आया करती है इसलिए हर मुसाफ़िर के साथ सफ़र में लुटिया-डोरी ज़रूर रहा करती है। देहात के हिंदुओं में और वहां के निचले वर्ग के मुसलमानों में आज तक इसी पुरानी लुटिया का रिवाज है। मुसलमानों ने अपने ज़माने में इस लुटिया में टोंटी लगादी ताकि पानी के इस्तेमाल में आसानी हो।

मैं नहीं जानता कि दिल्ली के अमीरों में भी यह रिवाज था और जिन लोगों के साथ खिदमतगार रहा करते थे तो उनके पास लुटिया भी ज़रूर होती जो पानी पीने, कुल्ली करने और दूसरी ज़रूरतों में काम आया करती थी। मगर लुटिया की जो शक्ल आज देखने में आती है और उसकी खुशनुमाई में लख-नऊ का बड़ा हाथ है जिसका हाल हम तांबे के बर्तनों के सिलसिले में बयान करेंगे।

गर्मियों में रंगीन कपड़े का मढ़ा हुआ झालदार पंखा भी नौकरों के पास और बाद के ज़माने में छतरी भी ज़रूरी हो गयी जिनको धूप में नौकर आक़ा के सिर पर लगाये रहता था।

घरों की अंदरूनी ज़रूरतों में हाथ धोने के लिए सिलफ़ची और आफ़-ताबा[1] हिंदुस्तान के दौलतमंद घरानों की पुरानी चीज़ें हैं जो दिल्ली में खुदा जाने कब से प्रचलित थीं और अपनी पुरानी शान से लखनऊ में आ गयीं। यहां सिलफ़ची तो वही रही और गो उसकी जगह तसले का ज़्यादा रिवाज हो गया है फिर भी वह सिलफ़ची का बदल नहीं हो सकता। सिलफ़ची एक गोल पेट का बर्तन है जिसका मुंह ज़रा छोटा करके कगरें एक उथले थाल की शक्ल में बहुत ज़्यादा फैली होती हैं और मुंह पर एक पर्दे की जाली रख दी जाती है जिसमें से हाथ धोने में सब पानी गिर जाता है। इस पर्दे को जब

[1] हत्थेदार लोटा।

चाहें उठाकर उसे खूब अच्छी तरह साफ कर सकते हैं। इस जाली के ऊपर थोड़ी घास डाल दी जाती है ताकि पानी के गिरने से छींटे न उड़ें। इसमें बहुत बड़ी खूबी और नफ़ासत यह है कि [illegible] जिसकी सूरत बहुत बदनुमा होती है, नज़र के सामने नहीं रहता और जिनके मिजाज में नफ़ासत है उनको तकलीफ़ नहीं होती है। मगर आफ़ताबे की जगह साधारण लोटे का प्रचलन हो गया। दरअसल आफ़ताबा ही पुराने जमाने का लोटा था जिस पर लखनऊ वालों ने अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तन करके मौजूदा लोटे की सुडौल शक्ल पैदा की। पुराना लोटा जो आफ़ताबा कहलाता था उसकी शक्ल यह थी कि तांबे का एक शंकु के आकार का बर्तन होता था जिसमें पेट और गले का फ़र्क न था, पेंदे के पास जितना घेरा होता ऊपर की तरफ क्रमशः घटता चला जाता था और आखिर में वही गला हो जाता था। यहां तक कि किनारे मोड़कर मुंह बना दिया जाता था और एक ओर उसमें एक मुड़ी हुई टोंटी लगा दी जाती थी। इस शक्ल के लोटे हैदराबाद में आज भी मिल जाते हैं जो अपनी प्राचीनता और हमारे सबसे पहले लोटे का सबूत देते हैं। इनकी शक्ल मिस्र और सीरिया के पानी के मिट्टी के बर्तन या अंग्रेजों के यहां मुंह धोने की मेज़ पर जो चीनी का जग रहता है उसकी-सी होती है और इसी से खयाल होता है कि मुसलमान इसको अरब और ईरान से अपने साथ लाये होंगे। चंद रोज़ बाद भारतीय संस्कृति के असर ने इसमें पहली तब्दीली यह की कि पेट गोल बनकर गर्दन से अलग और प्रधान हो गया, मगर चूंकि वह असल से क़रीब था इसलिए उसका लंबोतरापन बाक़ी रहा यानी लंबाई चौड़ाई ऊंचाई के अनुपात से न थी। उस समय तक पेट की गोलाई भी गेंद-नुमा नहीं बल्कि अंडाकार थी। यही शक्ल उस आफ़ताबे की है जिसका जिक्र उर्दू की पुरानी मसनवियों और क़िस्से-कहानियों में है। लखनऊ में यह हुआ कि पेट अंडाकार से गेंदाकार हो गया और जितनी ऊंचाई होती उसी के अनुपात से उसका घेरा और फैलाव भी बढ़ गया। गले में एक मुनासिब ढलाव हो गया और टोंटी भी नीचे चौड़ी और नोक के पास तंग, मुड़ी हुई और बहुत ही खुशनुमा हो गयी। यह लखनऊ का मौजूदा लोटा है जिससे ज़्यादा खुशनुमा और सुडौल लोटे हिंदुस्तान के किसी शहर में नहीं बनते और हर जगह के शौक़ीन फ़रमाइश कर-कर के लखनऊ से मंगवाया करते हैं। जो खूबी लोटों में यहां पैदा हो गयी है, छोटी

लुटिया से लेकर बड़े-से-बड़े लोटे तक सब में नज़र आती है।

इसी प्रकार की तब्दीली तांबे के तमाम बर्तनों में हुई है जिसका हम आगे बयान करेंगे इसलिए कि इस जगह उसके बताने का मौक़ा नहीं है।

बेसनदानी दरअसल तांबे की एक बिना टोंटी की लुटिया होती है जिसमें बेसन भरा रहता है। आमतौर पर खाने के बाद चिकनाई छुड़ाने के लिए इसमें से बेसन लेकर मला जाता है और फिर पानी में धो डाला जाता है। कुछ, लेकिन बहुत ही कम, लोग ऐसे है जो बेसन की जगह बेसनदानी में उबटन या खली रखते हैं इसलिए कि बेसन खाने की चीज़ है जिसको हाथ धोने में बरबाद करना उनके ख़याल में नाजायज़ या नामुनासिब है। मगर अब इसका रिवाज बहुत कम हो गया है इसलिए कि उबटन शादियों के सिवा और किसी मौके पर नहीं बनता और खली से हाथ में उसकी तेज़ बू आने लगती है।

## [ 51 ]

समाज में रहन-सहन के बहुत से ज़रूरी सामान और शिष्टाचार का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। मगर अभी हमें यहां के शरीफ़ों के बाहर आने-जाने का चलन और उसकी शान बताने की ज़रूरत महसूस होती है। हिंदुस्तान के तमाम शहरों की तरह यहां भी अंग्रेज़ियत इतनी हावी हो गयी है कि एशिया की अंतिम संस्कृति ने जो रूप धारण किया था वह बिल्कुल मिट गया। मगर हमें इस मौके पर वह चीज़ बयान करना है जो मिट चुकी है या मिटने के क़रीब है। लिहाज़ा हम आज से साठ-सत्तर बरस पहले ज़माने में निकल चलते हैं और उस जमाने की तसवीरें पाठकों के सामने पेश करते हैं जो अब कहीं नजर नहीं आ सकतीं।

आजकल की-सी उम्दा मोटरों और लंबी-चौड़ी फ़िटनों और लैंडो गाड़ियों के न होने से तथा आज के स्वास्थ्य-सिद्धांतों की ओर ध्यान न होने के कारण उन दिनों आजकल की-सी लंबी-चौड़ी और विशाल सड़कें न थीं, बल्कि तंग रास्ते थे जिनमें हाथी, घोड़े, ऊंट, हवादार, बूचे, पीनसें, म्याने,

सुखपालें, डोलियां, रथ, बहलें आदमियों की भीड़ में से हटो-बचो करती हुई हर वक्त गुजरा करती थीं। कैसा ही भीड़वाला आम बाज़ार और कैसी ही पसंदीदा सैरगाह हो सबकी हालत लगभग एक जैसी थी।

एक ऊंट तो नहीं जो फ़ौजी ज़रूरतों, संदेशवाहकों या बारबरदारी के लिए नियत थे, बाक़ी और तमाम सवारियां शरीफ़ों और रईसों में अपनी-अपनी हालत और हैसियत के मुताबिक़ प्रचलित थीं। ऊंचे वर्ग के शाहज़ादे और नवाब या उन्हीं के दर्जे के और अमीर हवादारों और बूचों पर सवार होकर निकलते। हवादार टमटम की शक्ल की एक खुली डोली थी जिसके पीछे चमड़े का टप होता था और लोहे की कमानियों के ज़रिये खोला या बंद किया जा सकता था। ठंड के समय जब टप गिरा दिया जाता तो हर तरफ की फिज़ा खुली रहती थी। आगे-पीछे उसमें पीनस के-से डंडे लगे होते। चार कहार उसको कंधों पर उठाकर ले जाते और जो शख्स सवार होता वह बड़ी ही शान और शौकत से बाज़ार की सैर करता, हर चीज़ को देखता-भालता और जान पहचान वालों से सलाम करता हुआ जाता था। हवादार की बनावट से मालूम होता है कि वह खास अंग्रेजों की ईजाद की हुई चीज़ थी। हिंदुस्तान में अगर उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार और अपनी नवीनता दिखाने की वृत्ति से उसे बनाया और अपनी नफ़ासत, खुशनुमाई और सफ़ाई की बदौलत हिंदुस्तान के रईसों को बहुत पसंद आया। अब इसका रिवाज बिल्कुल उठ गया, अलबत्ता बाज़ पुराने रईसों के यहां चंद हवादार अब भी पड़े हुए हैं जो रईसों की मामूली आमद-रफ़्त में तो नहीं मगर दौलतमंद हिंदुओं की बरातों में वे कभी-कभी नज़र आ जाया करते हैं।

बूचा इससे ज्यादा प्रतिष्ठित और शानदार सवारी थी। उसकी शक्ल आजकल की बरघम या अद्धा गाड़ियों की-सी होती थी जिसमें पहियों के बजाये पाये होते और आगे-पीछे पीनस जैसे दो डंडे होते और कम-से-कम आठ और अकसर सोलह कहार उसको उठाकर ले चलते हैं। इसलिए कि वह कहारों के उठाने की तमाम सवारियों से ज़्यादा भारी होता है। इस सवारी पर शायद कभी और अमीर भी सवार हुए हों मगर मैंने सिर्फ वाजिद अली शाह को कलकत्ता में इस पर सवार होते देखा और उनके सिवा यह सवारी मैंने कहीं और किसी के पास नहीं देखी। बादशाह अपने बाग़ों, महलों और कोठियों में उसी पर सवार होकर फिरा करते थे और उसके गिर्द जुलूसी खिदमतगारों के

अलावा सरकार के अन्य अधिकारी और दरबार के मुसाहिब लोग पैदल साथ चलते थे। मगर यह निश्चय ही अंग्रेजों की ईजाद था जो उस युग की अंग्रेज़ी गाड़ियों के अनुकरण में कहारों के उठाने के योग्य बना लिया गया।

सुखपाल उन दिनों औरतों की बहुत ही इज़्ज़तदार सवारी थी जो खालिस हिंदुस्तानी चीज़ और हिंदुस्तानी रुचि के अनुकूल थी। यह एक सुर्ख गुंबदनुमा डोली थी, एक लंबे-चौड़े खटोले पर एक शानदार लाल बूर्ज-सा बना दिया जाता जिसमें सोने-चांदी के कलश लगे होते। चारों तरफ पर्दे लटके होते। उसमें भी आगे-पीछे दो-दो, एक-एक डंडे होते और बहुतसे कहार उसको उठाकर ले चलते। यह सवारी उच्च वर्ग की बेगमात और शाही महल की महिलाओं के लिए नियत थी।

रथ इसी शक्ल की पहियोंदार गाड़ी थी जिसमें बैल जोत दिये जाते। रथ देहात के ताल्लुकेदारों और प्रतिष्ठित जमींदारों के यहां और देसी रियासतों में अब भी मौजूद हैं मगर रोज़-बरोज़ बेकार होते जाते हैं और उनका रिवाज उठता जाता है। लखनऊ में खास शाही बेगमात की जरूरत के लिए उन दिनों हज़ारों रथ थे। शुजाउद्दौला की बीवी बहू बेगम साहिबा नवाब आसफ़उद्दौला के शासनकाल में अब अपना वैधव्य का जीवन एक शासक रानी की शान से फ़ैज़ाबाद में बिता रही थीं तो अकेली उनकी सरकार में आठ-नौ सौ रथ थे और प्राचीन काल में जब दिल्ली के बादशाह अपने राज्य में दूर-दराज़ के सफ़र किया करते थे तो उनकी बेगमात इन्हीं रथों पर सवार होकर साथ जाती थीं।

बहल बैलों की आम गाड़ी थी जिसमें एक खटोले को दो पहियों पर क़ायम करते, फिर उस पर चार डंडे खड़े करके एक छतरी लगा देते और उस पर पर्दे के लिए गिलाफ़ डाल दिया जाता, उसमें अक्सर मर्द-औरतें सफ़र करतीं। उन दिनों मध्यम वर्ग के देहातियों और शहरियों दोनों के लिए सफ़र का ज़रिया यही सवारी थी। बहलें देहातों में अब भी बहुत हैं, मगर उनकी ज़रूरत रोज़-बरोज़ मिटती जाती है। और बहुत जल्दी एक ज़माना ऐसा आने वाला है कि यह सवारी देखने में न आयेगी।

इनके सिवा तमाम सवारियों को लोग खुद ही जानते हैं हमें उनकी शक्ल-सूरत बताने की ज़रूरत नहीं।

बहरहाल ये सब सवारियां शहर के तमाम रास्तों और गली-कूचों में गुज़-

रती नज़र आतीं। ज़्यादातर लोग पीनसों पर सवार होते। पढ़े-लिखे, हकीम, अमीर और ख़ुशहाल लोग जिन्हें ख़ुदा ने ताक़त दी चार कहार नौकर रख लेते जो ख़िदमत भी करते और सवारी का भी काम देते। जिन लोगों में ज़रा भी बांकपन होता या सैनिकों की-सी शान दिखाना चाहते जो उन दिनों तमाम शहर में आम थी, वे घोड़े पर सवार होकर निकलते जो चांदी के ज़ेवर और कारचोबी काम से दुलहन बना दिये जाते। उच्च वर्ग के प्रतिष्ठित लोग हाथियों पर बैठकर आमद-रफ़्त करते जो अगर्चे इतने ऊंचे और विशाल होते लेकिन तमाम गली-कूचों मे निस्संकोच गुज़र जाते। हाथियों पर सादी कारचोबी झूलें और उन पर खुले हौदे या छायादार बुर्जनुमा अमारिया कसी जातीं।

ज़नानी सवारियां जो सुखपालों और पीनसों पर होतीं वे बड़े तकल्लुफ़ और शान से निकलतीं। पीनस पर सुर्ख़ छिटके पड़े होते जिन पर कभी गोटा-लचका भी टांक दिया जाता। कहार लाल बनात के चुग़े पहने होते। सिरों पर सुर्ख़ कगरदार पगड़ियां होतीं जिनकी कगरों पर चांदी की मछलियां टंकी रहतीं। मछली हिंदुस्तान मे शुभ शकुन मानी जाती है। रुख़्सत करते वक़्त या किसी को किसी महत्वपूर्ण काम के लिए जाते वक़्त आज भी औरतों की ज़बान से निकल जाता है 'वही मछली'। शायद इसका संबंध ज्योतिष से है और यह भी ज्योतिषियों का ही लटका मालूम होता है कि चांदी की मछलियां बनवाकर कहारों की पगड़ियों में टांक दी जायें जो आगे रहते है ताकि कहीं जाते समय मछलियां हरदम नज़र के सामने रहें।

ज़नानी पालकी के साथ-साथ एक कहारी छिटके का कोना पकड़े दौड़ती जाती। इन कहारों की वेशभूषा भी खास क़िस्म की थी। सबसे बड़ी पहचान यह थी कि लहंगे में इतनी चौड़ी गोट होती कि उसका आधे से ज़्यादा हिस्सा सिर्फ़ गोट का हुआ करता था।

इन सवारियों में से शहर मे अब पीनस या पालकी बाक़ी रह गयी है या कभी-कभी कोई रईस घोड़े या हाथी पर दिखाई दे जाता है।

अब देखना यह है कि बाहर निकलने में शरीफ़ लोगों का क्या हुलिया होता था। लिबास को हम बयान कर चुके है मगर उनकी तसवीर दिखाने के लिए हमें फिर एक हद तक उनका हुलिया बताने की ज़रूरत है। सवारी की शान के बारे में मैंने जो कुछ बयान किया है उसमें सिवाय बूचे और हवादार के और तमाम चीज़ें वही है जो दिल्ली से आयीं, लखनऊ का उनमें कोई

योगदान नहीं। दरअसल यह दिल्ली ही की शान थी जो अपनी आखिरी झलक बड़ी शान-शौकत के साथ लखनऊ में दिखाकर ग़ायब हो गयी। लेकिन लिबास में लखनऊ दिल्ली से अलग हो गया। अब घर में कुर्ता या क़मीस उतारकर बैठना बुरी बात समझा जाता है। मगर उन दिनों यहां घर का लिबास सच पूछिये तो ग़र्की (लंगोटी) थी। यहां का दरबार शीआ था और हर चीज़ यहां शीअत के सांचे में ढलती थी। इमामों के धर्म शास्त्र के अनुसार रानों के खुले रहने में कोई हर्ज नहीं जबकि हनफी संप्रदाय के मज़हब में नाभि से लेकर घुटनों तक जितना भी जिस्म है ढका रहना ज़रूरी है और उसी आधार पर दिल्ली में आमतौर पर तहमत की-सी लुंगी बांधी जाती जिसमें घुटनों के निचे तक का जिस्म ढंका रहता है। यहां की सभ्यता में इसकी ज़रूरत बाकी नहीं रही और यहां की लुंगी सिर्फ एक पतली-सी ग़र्की या जांघिया रह गयी जिसमें नाभि से जांघ तक तो जिस्म ढक जाता है, बाकी सब जिस्म खुला रहता है। लोगों में सभ्य और शिष्ट बनकर निकलने का खयाल तो बढ़ा हुआ था मगर घर में सिवाय एक ग़र्की के जिस्म पर एक धागा भी न रहता। और यह बात इतनी आम हो गयी थी कि इसी नग्नता की हालत में अपने घर पर किसी से मिलने मे भी बुराई न समझी जाती। मगर यही लोग जब बाहर निकलते तो शान ही और होती। क़ालिब पर चढ़ी चौगोशिया टोपी, उजला साफ़ और सफेद अंगरखा, जो मालूम होता कि अभी-अभी धोबी के घर से आया है, और इसी वक़्त गोट और आस्तीनें चुनी गयी हैं। गुलबदन या नैनसुख का अर्ज़ का पायजामा, कंधे पर तिकोना रुमाल, हाथ में दस्ती रुमाल और छड़ी, पांव में लखनऊ का बना हुआ हल्का मखमली छोटी नोक का जूता। बाहर शरीफ़ों की यही वेशभूषा थी।

बहुतसे लोगों को बाहर निकलने में इस वेशभूषा का इतना खयाल रहता था कि कभी उनके कपड़े मैले न नजर आते। मालूम होता कि इसी वक़्त धोबी के यहां से आये हैं हालांकि महीनों उनके धुलने की नौबत न आती और होता यह कि दो घड़ी दिन रहे घर से निकले, खरामां-खरामां हर चीज़ से बचते और अपने साए तक से भड़कते हुए चौक की सैर की। दो घड़ी रात गये वापिस आ गये और आते ही पहला काम यह कि टोपी क़ालिब पर रखकर एक कपड़े से उढ़ा दी। अंगरखे, पायजामे और ओढ़ने के रुमाल को एहतियात से तह करके दस्ती रुमाल में घड़ी की तरह बांधकर खूंटी पर रख दिया और

गर्की बांधकर और कोई पुराना जूता या चप्पल पहनकर बैठ रहे। इसी रखरखाव की बदौलत क़ीमती और पशमीने के कपड़े चार-चार, पांच-पांच पीढ़ियों तक इस एहतियात से रहते कि न मैले होते न फटते, न कीड़ा खाता, हमेशा नये बने रहते और शादी के समारोहों या शान-शौकत की महफिलों में ऐसा शाहाना लिबास पहनकर जाते कि लोगों को, जो उनकी हालत और हैसियत से परिचित होते, आश्चर्य होता।

गो कि ऊंचे वर्ग के अमीर, खासतौर से शाहज़ादे विद्वान और हकीम ज़रूरी चीज़ों के साथ सवारियों पर निकलते मगर शरीफ़ों के लिए पैदल फिरना आजकल के ज़माने की तरह बुरा न समझा जाता था। हर वर्ग और दर्जे के लोग एक जैसी हालत में पैदल बाहर की सैर करते और पैदल चलने वाले बड़े-से-बड़े रईसों और प्रतिष्ठित लोगों के बराबर बैठते और कोई बुराई न मानी जाती।

## [ 52 ]

अब हम संक्षेप में यह भी बता देना चाहते हैं कि लखनऊ के समाज ने अपनी ज़रूरत और क़द्रदानी से किन-किन चीज़ों को तरक़्क़ी दी और कौन-कौन-सी कलाओं का यहां विकास हुआ। इस सिलसिले में बहुत-सी चीज़ों का ज़िक्र आयेगा मगर हम पहले मिट्टी के बर्तनों से शुरू करते हैं।

मिट्टी के बर्तन दुनिया की पहली ईजाद हैं। हर देश और हर सरज़मीन से खोदकर पुराने ज़माने के पत्थर निकाले गये हैं। जिससे साबित होता है कि मिट्टी को भट्ठी में पकाकर ठीकरा बना लेना इंसान को अपनी प्रगति के बहुत ही प्रारंभिक काल में मालूम हो गया था और संभवतः संसार के पाषाण युग में ही खनिज पदार्थों के बरामद होने से पहले ही इंसान को बर्तन बना कर उनको पकाना आ गया था। मिस्र में फिरऔनों के समय में मिट्टी के बर्तन और बाबुल में खाने और पीने के बर्तनों के साथ बहुत ही पक्की इटें बरामद हुई हैं। फिरऔनों के दौर में मिस्र के अमीर जिन ताबूतों में लाशों को ममी बनाकर रखा करते थे वे मिट्टी के ही होते थे। यही नहीं

पुरानी दुनिया ठीकरों और गुट्टियों से बहुत दिनों तक काग़ज़ का काम लेती रही है।

हिंदुस्तानवालों को भी प्राचीन काल में यह शिल्प आ गया था और आदिम काल के निकले हुए बर्तनों से मालूम होता है कि यहां भी इस कला ने दूसरे स्थानों से कम प्रगति नहीं की थी। खासकर मूर्तिपूजा ने हिंदुओं में भी मिट्टी की मूर्तियों की बुनियाद डाली जिसमें रोज़-बरोज़ तरक्क़ी होती रही और यहां कुम्हारों की एक जाति पैदा हो गयी जिसका खानदानी और पैत्रृक पेशा यही है कि मिट्टी के बर्तन और खिलौने बनाकर पकाते हैं।

दिल्ली में इस्लामी दौर ने आम कुम्हारों की बनिस्बत ज़्यादा प्रगतिशील कसगरों का एक नया गिरोह पैदा कर दिया जो मुसलमान है और बर्तनों के साथ खिलौने भी बनाते हैं और अगर्चे इस्लाम धर्म में मूर्तियां बनाना वर्जित है मगर कसगरों का चूंकि जीविका का साधन यही काम है इसलिए वे एक हद तक खिलौने बनाने और बेचने पर मजबूर हैं। मुसलमान कसगर सभ्यता और शिष्टता तथा अपने शिल्प में कुम्हारों से ज़्यादा प्रगतिशील हैं।

दिल्ली से मुसलमान अमीर इन कसगरों को भी अपने साथ लखनऊ में लाये और अमीरों की शौक़ीनी की बदौलत उनके उद्योग की यहां और प्रगति होने लगी। चुनांचे कुम्हार और कसगर दोनों ने अपने काम में वही चतुरता और कौशल दिखाना शुरू किया जो एक चित्रकार चित्र बनाने में और कवि कविता रचने में दिखाया करता है।

सौभाग्यवश लखनऊ की मिट्टी इस शिल्प के लिए बहुत मुनासिब साबित हुई जिसने कारीगरों को अपना कौशल दिखाने का मौक़ा दिया और बर्तन और खिलौने दोनों ऐसे बनने लगे जैसे कि कहीं न बन सकते थे। बर्तनों में तो यह प्रगति हुई कि ऐसे हल्के, बारीक और साफ और साथ ही खूबसूरत बर्तन यहां बनते हैं कहीं और नहीं बन सकते। अमरदेह की मिट्टी भी इस काम के लिए ज़्यादा मुनासिब है इसलिए वहां भी इस शिल्प का बड़ा विकास हो रहा है और वहां के कारीगरों के बर्तनों, गुलदस्तों और लखनऊ के बर्तनों की बनावट में फ़र्क़ है और अक्सर लोगों का खयाल है कि लखनऊ के कारीगरों का काम नफ़ासतपसंद लोगों की नज़र में बढ़ा हुआ है।

आम चीज़ों में लखनऊ के घड़े और बधनियां सारे हिंदुस्तान के घड़ों और बधनियों से हल्के और खुशनुमा होते हैं। घड़ों की गोलाई पूरी होती है।

बधनियां तांबे के लोटों की शक्ल से बहुत मिलती-जुलती होती हैं। बर्तनों में मिट्टी के बर्तन यहां से अच्छे शायद ही कहीं मिलेंगे। मगर चूंकि मिट्टी के बर्तनों में खाने का रिवाज बिल्कुल उठ गया है इसलिए कुम्हार भी उस ओर से अपेक्षा करने लगे, मगर जिन बर्तनों में यहां के कसगरों ने अपने कमाल का सबूत दिया वे आबख़ोरे, सुराहियां, झझरियां और हुक्के हैं और उनके बाद खीर की हांडियां हैं।

आबख़ोरे पानी पीने के बर्तन हैं। अगर्चे शीशे और तामचीनी के हल्के और ख़ुशनुमा और नफ़ीस गिलास और मुरादाबाद वग़ैरा के गिलास और कटोरे बहुत अधिक प्रचलित हैं, मगर हिंदुस्तान में गर्मियों का एक ऐसा मौसम आता है जबकि सिवाय मिट्टी के आबख़ोरों के किसी बर्तन में पानी मज़ा नहीं दे सकता। इसलिए कि पानी उनमें ठंडा रहता है और ख़ुद उनकी ठंडक से हाथ और होंठों पर ख़ुश्की का ऐसा आनंद आता है जो और किसी चीज़ से हासिल नहीं हो सकता। इसके अलावा मिट्टी के कोरे आबख़ोरे में एक ऐसी ख़ुशबू होती है जिसमें आत्मा को शीतलता प्राप्त होती है और जिसके शौक़ ने यहां मिट्टी का इत्र ईजाद करा दिया। ग़रज़ इस ज़रूरत ने आबख़ोरों को बाकी रखा जिनमें तरह-तरह की नफ़ासतें पैदा की गयीं। ऐसे नाज़ुक, हल्के और पतले आबख़ोरे बने जो काग़ज़ी कहलाते हैं और इतने बारीक होते हैं कि शीशे के गिलासों की नज़ाकत को भी यहां मिट्टी के आबख़ोरों की बारीकी ने मात कर दिया। फिर उन पर बेल-बूटे बनाकर बालू की एक तह चढ़ा दी जाती है कि वे पानी को ज़्यादा ठंडा रखें। इन्हीं की तरह इनके जोड़ की थालियां बनाई गयीं, आख़िर आबख़ोरों की बनावट ऐसी ख़ुशनुमा और दिल-कश हो गयी कि देखकर जी ख़ुश होता है और ज़माने को मान लेना पड़ा कि इंसान के कौशल ने जो कमाल पिघलने वाली धातुओं के इस्तेमाल में दिखाया है वही मिट्टी में भी दिखाया जा सकता है।

आबख़ोरों के बाद पानी रखने और उसको ठंडा करने के बर्तनों में सुराहियां हैं। सुराही बहुत पुरानी चीज़ है जिसका रिवाज पुराने ज़माने में ईरान और मिस्र में भी था। मगर लखनऊ की सुराहियां मिट्टी की खूबी और कारीगरों की सुथरी रूचि के कारण बढ़िया, काग़ज़ी और बहुत ही हल्की हो गयीं और फिर उनकी शक्ल भी ऐसी खूबसूरत हो गयी कि इन दोनों बातों में कहीं की सुराहियां उनका मुक़ाबिला नहीं कर सकतीं। उनके मुंह पर ऐसा

मुनासिव झुकाव पैदा हो गया है कि लखनऊ की सुराहियों का मुंह ही ऐसी चीज़ है जो और किसी जगह नज़र नहीं आ सकती। झझरियां भी-वैसी ही हल्की और नाज़ुक हैं। उनका पेट तो सुराहियों जैसा होता है मगर उसके ऊपर लंबी गर्दन की बजाये एक मुंहगर लगा होता है। काम और नज़ाकत की दृष्टि से वे भी सुराहियों से कम नहीं होतीं।

हुक़्क़ों को भी ठंडक की बहुत ज़्यादा ज़रूरत होती है ताकि धुआं ठंडा आये। मिट्टी के काग़ज़ी हुक़्क़े यहां ऐसे नफ़ीस और खुशनुमा बनने लगे कि किसी जगह नहीं मिल सकते। फिर नये अनवांसे हुए कोरे हुक़्क़ों से धुएं में ठंडक और नफ़ामत के साथ-साथ कोरी मिट्टी की ऐसी नफ़ीस खुशबू पैदा हो जाती है कि शाही ज़माने के बहुतसे बड़े-बड़े रईसों को सिवाय उनके किसी हुक़्क़े में मज़ा न आता था। अज़ीम उल्लाह खां ने इनमें और खूबसूरती और नफ़ासत पैदा करके अज़ीम उल्लाह खानी हुक़्क़े अपनी यादगार छोड़ दिए जो आज तक मिट्टी के कुल क़िस्मों के हुक़्क़ों से अच्छे, हल्के और लोकप्रिय है। मैंने एक बार लंदन के राजकवि लार्ड टेनिसन के बारे में सुना कि उनको मिट्टी के सफेद पाइप इतने पसंद थे और उनका कवि-हृदय कोरे पाइपों का ऐसा रसिया था कि सामने एक टोकरी में भरे हुए कोरे और अछूते पाइप रखे रहते थे। वह एक पाइप को लेकर उसमें तंबाकू भरते, पीते और चंद मिनट में उसे तोड़कर दूसरी टोकरी में डाल देते। फिर दुबारा जरूरत होती तो दूसरा पाइप लेते और चंद कश लेकर उसे भी तोड़कर डाल देते। यों ही दिन भर बैठे कोरे पाइप भरा, पिया और तोड़ा करते थे। मेरा खयाल है कि अगर लार्ड टेनिसन को लखनऊ के अज़ीम उल्लाह खानी हुक्के मिल जाते तो वह उन मिट्टी के पाइपों को भूल जाते इसलिए कि उनके धुएं में जो ठंडक, नफ़ासत और ख़ूबी होती है उसका पता मिट्टी के पाइपों में कोसों नहीं है।

पकाने की हांडियां हर जगह बनती हैं मगर लखनऊ की हांडिया तांबे की पतीलियों की जैसी सच्ची नक़ल हैं और कहीं न होंगी। खासकर गुलाबी हांडियां जो हिस्सों में खीर वग़ैरा बांटने के लिए बनाई जाती हैं। आबखोरों और सुराहियों की तरह ये भी काग़ज़ी और बहुत ही खूबसूरत बनती हैं। इनमें अब अक्सर नाज़ुक मिज़ाज अमीर गिलौरियां भी रखते हैं इसलिए कि गर्मियों के मौसम में खासदान जल उठते हैं और उनमें गिलौरियां भी बहुत गर्म हो जाती हैं। मगर इन हांडियों में वे ऐसी ठंडी रहती हैं और उनमें ऐसी

सोंधी खुशबू पैदा हो जाती है कि बहुत ही आनंदप्रद हो जाती हैं। मगर वर्तनों से भी ज़्यादा कमाल कुम्हारों ने खिलौनों और मिट्टी की मूर्तियों में दिखाया। मूर्ति-कला मूर्तिपूजा के कारण बहुत पुरानी है। मिस्रियों, बाबुलियों और ईरानियों, यूनानियों और रोमियों सबने अपने-अपने युग में इस कला में चमत्कार दिखाये जिनके नमूने आज योरुप के नामवर अजायबघरों में नज़र आ सकते हैं। खासकर यूनानवालों ने पत्थर की मूर्तियां तराशने और शरीर के अंगों का अनुपात बनाए रखने में ऐसा कमाल दिखाया कि आज का ज़माना भी, इसके बावजूद कि बहुत तरक्क़ी कर चुका है, उनके कौशल पर आश्चर्य करता है और उनकी बनायी हुई मूर्तियां आज के मूर्तिकारों और चित्रकारों के लिए सर्वश्रेष्ठ आदर्श या मानक समझी जाती हैं। मगर मिट्टी के खिलौनों में जो कारीगरी यहां के अनपढ़, जाहिल कुम्हार दिखा रहे हैं वह यूनानियों के कमाल से ज़रा भी कम नहीं है। वे इंसान को देखकर उसकी पूरी मूर्ति उतनी ही बड़ी जितना कि उसका जिस्म हो, तैयार कर देते हैं। फिर छोटी मूर्तियों में हर वर्ग और हर प्रकार के लोगों की ऐसी तसवीरें बनाते हैं जो असल के बिल्कुल मुताबिक़ हों। उनकी इस कलाकारिता से उनकी काव्यगत क्षमताओं का और मधुर कल्पनाओं का भी बोध होता है। दीवाली में हिंदू बहुत खिलौने खरीदते और बांटते हैं और इसी जरूरत से हर साल इस मौसम में यहां के कुम्हारों को अपनी शिल्प में नयी-नयी ईजादों और नाज़ुक ख्यालियों को ज़ाहिर करने का मौक़ा मिल जाया करता है।

इन कुम्हारों ने जो मूर्तियों के भांति-भांति के ग्रुप और सेट तैयार किये हैं वे वास्तव में दर्शनीय हैं। अंग्रेज़ी बैंड, रंडियों और भांडों के गिरोह, पुराने नवाबों की महफिलें, अमीरों के दरबार और शिल्पियों के गिरोह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक बार प्रदर्शनी के अवसर पर यहां के एक कुम्हार ने एक हिंदुस्तानी गांव बनाया था जिसमें आबादी के अंदर दूकानों और मकानों के बीच विभिन्न प्रकार के लोगों का चलना-फिरना, बैलगाड़ियों का गुज़रना दिखाने के बाद पास के मैदान में किसानों का हल जोतना और नालियों के ज़रिए से खेतों में पानी का पहुंचाना दिखाया था। नालियों में पानी का बहना और उसमें नन्हीं-नन्ही लहरों का पड़ना तक दिखाई देता था और यह चीज़ खासतौर पर दिखाई गयी थी कि जो बैल हलों का काम कर रहे हैं बहुत दुबले हैं और उनकी धमनियां साफ़ नजर आ रही हैं। इसी तरह शाही ज़माने

के लखनऊ की एक तसवीर भी मैंने देखी जिसमें उस समय की आबादी और गलियों और पुलों का नक्शा दिखाया गया था। मगर अफ़सोस कि ये सब दस्तकारियां एक जोश के तौर पर दो-चार रोज़ नज़र आकर ग़ायब हो जाती हैं और कोई ऐसी जगह नहीं है जहां इन तमाम शिल्पों के नमूने सुरक्षित रखे जाते हों। लंदन में 'मैडम टसाडस एक्ज़िबिशन' के नाम से एक मोमी तसवीरों का अजायबघर है जिसमें हर तरह की आदम क़द तसवीरें इस युग के महान लोगों की और वे जिनमें शिल्पी ने अपना चमत्कार दिखाया है, एकत्र कर दी गयी हैं। कुछ ऐसी मूर्तियां हैं कि यह मुमकिन नहीं कि हर जाने वाले को किसी-न-किसी मूर्ति पर धोखा न हो जाये। अगर ऐसा इन मिट्टी की मूर्तियों का एक संग्रहालय यहां भी बना दिया जाये और उसमें कुम्हारों की तमाम कारीगरी एकत्र कर दी जाये तो मेरा ख़याल है कि वह इस शिल्प के विकास के लिए तो हितकर होगा ही वैसे भी लाभकर होगा। उसके प्रवेश के लिए एक टिकट रखा जा सकता है और मेरा विचार है कि कोई बाहर का पर्यटक उसे देखे बिना न जायेगा। लेकिन ख़राबी यह है कि ख़ुद हममें कोई शौक़ या दिलचस्पी नहीं है और हम हर बात में गवर्नमेंट के मोहताज रहना चाहते हैं। अगर किसी दौलतमंद अमीर को बजाये ऐयाशी के इसका शौक़ हो जाये तो उससे उसकी कितनी ख्याति और देश की सेवा हो सकती है यह बताना बेकार है।

अजायबघरों में इस क़िस्म के खिलौने अक्सर इकट्ठे कर दिये गये हैं, मगर वे बहुत ही सीमित हैं, और लखनऊ में इस शिल्प का दर्जा इतना ही नहीं है कि दूसरी दुर्लभ और विस्मयकारी वस्तुओं में ये कुछ खिलौने भी रख दिये जायें। यहां खिलौनों और मिट्टी की मूर्तियों की नियमित प्रदर्शनी होनी चाहिए।

मॉडर्न प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 द्वारा मुद्रित

पुराना लखनऊ

इस बात के मानने में शायद किसी को आपत्ति न होगी कि हिंदुस्तान में पूर्वी सभ्यता और संस्कृति का जो आखिरी नमूना नज़र आया वह अवध का पुराना दरबार था। पिछले ज़माने की यादगार के तौर पर और भी कई दरबार मौजूद हैं मगर जिस दरबार के साथ पुरानी तहज़ीब और संस्कृति खत्म हो गयी वह यही दरबार था जो बहुत ही आखिर में कायम हुआ और अजीब-अजीब तरक्क़ियां दिखा कर बहुत ही जल्दी नष्ट हो गया। लिहाज़ा हम इस दरबार का संक्षेप में वर्णन करना चाहते हैं और उसकी विशेषताएं बताना चाहते हैं।

यह मान लेने में भी शायद किसी को आपत्ति न होगी कि जिस प्रदेश में पिछला दरबार क़ायम हुआ उसका महत्व हिंदुस्तान के दूसरे सभी प्रांतों से बढ़कर है।

पुराने चंद्रवंशी परिवार विशेषकर राजा रामचंद्र जी के महान और बेमिसाल कारनामे इतने अधिक हैं कि इतिहास उन्हें अपने अंदर समोने में असमर्थ है और यही कारण है कि उन्होंने इतिहास की सीमाएं लांघ कर धार्मिक पवित्रता का रूप धारण कर लिया है। आज हिंदुस्तान का शायद ही कोई ऐसा अभागा गांव होगा जहां उनकी याद हर साल रामलीला के धार्मिक नाटक के माध्यम से ताज़ा न कर ली जाती हो। लेकिन अवध के इस सबसे प्राचीन दरबार का वर्णन और अयोध्या का उस युग का वैभव वाल्मीकि ने ऐसी चमत्कृत शैली में किया कि वह आस्थावान व्यक्ति के हृदय पर अंकित हो गया। लिहाज़ा हम उसे यहां दोहराना नहीं चाहते। जिन लोगों ने अयोध्या के उस वैभवशाली युग का चित्रण वाल्मीकि की कलाकृति में देखा है वे उसी शुभ स्थान पर आज 'दिल गुदाज़'[1] में फ़ैज़ाबाद की तस्वीर देखें। हम घटनाक्रम को उस समय से शुरू करते हैं जब उस आखिरी दरबार की बुनियाद पड़ी जिसे नष्ट हुए कुछ ऊपर पचास साल से ज्यादा ज़माना नहीं हुआ।

---

[1]लेखक द्वारा संपादित पत्रिका जिसमें प्रस्तुत पुस्तक क़िस्तवार प्रकाशित हुई थी। (1887-1935 ई०)।

जब नवाब बुरहान-उल-मुल्क अमीन उद्दीन खां नैशापुर दिल्ली के शहंशाही दरबार की तरह से अवध के सूबेदार नियुक्त होकर आये तो लखनऊ के शेख़-ज़ादों को परास्त करके अवध की प्राचीन राजधानी यानी पवित्र नगरी अयोध्या पहुंचे और आबादी से फ़ासले पर यानी घाघरा नदी के किनारे एक ऊंचे टीले पर अपना शिविर बनाया। चूंकि वे प्रांत के प्रबंध में व्यस्त थे और उन्हें आलीशान इमारतें बनाने की फ़ुर्सत न थी और न ही सीधा स्वभाव होने के नाते इस तरह की झूठी शान दिखाने का उन्हें शौक़ था इसलिए एक ज़माने तक वे तंबुओं में रहते रहे और जब कुछ दिन के बाद उन्हें बरसात में तकलीफ हुई तो थोड़ी दूर हटकर एक मुनासिब जगह पर अपने लिए एक छप्पर[1] बनवाया। फिर उसके बाद उस छप्पर के आसपास कच्ची दीवार का एक बहुत लंबा-चौड़ा वर्गाकार घेरा खिंचवा लिया जिसके चारों कोनों पर किलेबंदी की शान से चार कच्चे बुर्ज बनवा दिये ताकि इर्द-गिर्द के इलाके की निगरानी की जा सके। यह अहाता इतना विशाल था कि उसके अंदर असंख्य घुड़सवार, पलटनें, तोपखाने, अस्तबल और अन्य जरूरी कारख़ाने आसानी से रह सकते थे। बुरहान-उल-मुल्क को चूंकि इमारत का शौक़ न था इसलिए उसके ज़नाने और बेगमों के रहने के लिए भी कच्चे मकान ही बना लिये गये। ग़रज़ यह कि कच्चे बंगले में उस समय का अवध-नरेश जब ज़िलों के दौरे और सरकारी यात्राओं से फ़ुर्सत पाता तो ऐश-आराम के साथ रहता था और उसे किसी बात की शिकायत न थी और उसका यह शासन-केंद्र कुछ ही दिन में 'बंगला' के नाम से मशहूर हो गया।

बुरहान-उल-मुल्क के देहांत के बाद जब नवाब सफ़दरजंग का जमाना शुरू हुआ तो यह बस्ती फ़ैज़ाबाद मशहूर हुई। यह है बुनियाद शहर फ़ैज़ाबाद की जिसने अपने बनने और बिगड़ने की तेज़ी में लखनऊ को भी मात कर दिया। अब उन दिनो इन कच्ची चारदीवारी के गिर्द फ़ौज के अधिकतर मुग़ल सरदारों ने अपनी दिलचस्पी के लिए बाग़ और हवादार तथा आनंदप्रद रंग-महल बनाये और शहर की रौनक़ बढ़ने लगी। इस कच्चे अहाते का एक

[1]फ़ैजाबाद के सभी हालात मुंशी मुहम्मद फ़ैजबख़्श की 'तारीख-ए-फरह बख्श' से लिए गए हैं। मूल पुस्तक हमने नहीं देखी मगर उसका अंग्रेज़ी अनुवाद (अनुवादक : विलियम हुई) जो 1889 में गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद में छपा है हमारे पास मौजूद है।